श्री मद्वरदराजाचार्य विरचित

'लघुसिद्धान्त कौमुदी'

डॉ० राम जियावन पाण्डेय

श्रीमद्वरदराजाचार्यविरचित

'लघुसिद्धान्त कौमुदी'

'महीप प्रदीपिका'— हिन्दी—व्याख्या—सहित

व्याख्याकार एवं सम्पादक :-

डॉ० राम जियावन पाण्डेय

एम० ए० (संस्कृत) (लब्ध स्वर्णपदक); पी-एच० डी०

'डॉ० वी० राघवन्' — पुरस्कार प्राप्त

अध्यक्ष, संस्कृत—विभाग

त्रिलोकनाथ स्नातकोत्तर महाविद्यालय,

टाण्डा-फैजाबाद (उ० प्र०)

प्रकाशक :-

घनश्यामदास एण्ड सन्स, चौक-फैजाबाद

प्रकाशक :-

घनश्यामदास एण्ड सन्स

चौक, फैजाबाद

मूल्य :- रू० १०-५०

प्रथम संस्करण ८४—८५

मुद्रक :-

कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,

खुरजा

समर्पणम्

पूज्य पितृवर्य पँ० रामकृपाल पाण्डेय (पलिया-मलावन,
फैजाबाद) तथा अनुसन्धान गुरु डॉ० हेमचन्द्र
जोशी, रीडर, संस्कृत–पालि एवं प्राकृत—
विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर के चरणों में सादर
सर्मपित

आत्म–निवेदन

महर्षि पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी' पर प्रवेशिकास्वरूप वरदराजाचार्य द्वारा विरचित 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' व्याकरण-शास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सभी विश्वविद्यालयों में प्रायः इसके अनिवार्य अध्ययन की व्यवस्था ही इसकी लोक प्रियता और महत्ता का प्रमाण है। हिन्दी तथा संस्कृत भाषाओं में इसकी अनेक सुन्दर तथा वैदुष्यपूर्ण टीकाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु कोमलमति विद्यार्थियों को इन टीकाओं से विषय-बोध सरलतया नहीं हो पा रहा था, प्रतिवर्ष मुझे अपने विद्यार्थियों से सरल टीका लिखने का साग्रह अनुरोध मिला करता था। 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' के नामग्रहणमात्र से उन्हें भय होने लगता है, अतः उनके उक्त भय के निवारणार्थ सरल, सुबोध तथा स्पष्ट भाषा में मैंने 'महीप-प्रदीपिका'—नामक इस टीका की रचना की। वस्तुतः मैंने अपने विद्यार्थीजीवन में ही इस ग्रन्थ की दुरूहता से प्रेरित होकर इस पर, सरल, सुबोध और सर्वतोभावेन परिपूर्ण परीक्षोपयोगिनी टीका लिखकर इसके विषय में व्याप्त दुरूहता के भूत को दूर कर इसे अधिकाधिक रोचक तथा विद्यार्थियों में भी लोकप्रिय बनाने का संकल्प किया था। ईश्वर की कृपा से आज मेरा वह संकल्प पूरा हो रहा है। यदि मेरी इस टीका से विद्यार्थियों को 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' और पाणिनीय व्याकरण के अवबोध एवं अवधारण में लेशमात्र भी सहायता मिली और उनके भयाक्रान्त हृदय से दुरूहता का भूत भाग सका, तो मुझे सफल मनोरथ और कृतकार्य समझें। मेरी यह कृति शुद्ध रूप से केवल विद्यार्थियों के लिए है, यदि उनकी किसी कठिनता का निवारण शेष हो, तो वे संकेत करना न भूलें, जिससे आगामी संस्करण में उसका समावेश सम्भव हो सके।

प्राध्यापक-बन्धुओं तथा अन्य सुधी पाठकों से विनम्र निवेदन है, कि यदि उन्हें कोई त्रुटि दृष्टिगत हो, तो उसका संकेत कर अनुगृहीत करें, जिससे आगामी संस्करणों में उसका परिहार किया जा सके।

साकेत के आचार्य श्री राजदेव मिश्र तथा डॉ० राम अवध पाण्डेय (सम्प्रति का० हि० वि०) सदृश जिन गुरुओं ने मुझे 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' पढ़ाया था और जिन मनीषियों की टीकाओं से मुझे अध्ययन एवं लेखन में सुविधा मिली, उनके प्रति मैं अनेकशः नतमस्तक तथा आभारी हूँ। पं० विश्वनाथ पाठक (टाँडा) मुझे समय-समय पर अनेक बहुमूल्य परामर्श तथा प्रेरणाएँ देते रहते हैं, अतः उनका यहाँ स्मरण हमारी कृतज्ञता होगी।

इसकी हस्तलिपि का स्वच्छपुनर्लेखन चि० जगदीश कुमार पाण्डेय, श्री रामचन्द्र उपाध्याय, श्री किरन प्रसाद त्रिपाठी, कु० सीमा सक्सेना तथा सन्तराम आदि मेरे शिष्यों ने किया, अतः उनके प्रति यही आशीर्वाद है, कि वे भी भविष्य में लेखक बनकर साहित्य तथा भारत राष्ट्र की सेवा करते रहें ।

मेरे अभिन्न प्रकाशक घनश्यामदास एण्ड सन्स चौक, फैजाबाद ही इसके लेखन की प्रेरणा के धुरी हैं, अतः इस समय उनका स्मरण हमारा परम-कर्त्तव्य है ।

'विदुषां वशंवदः'

दिनांक – १२–१२–८३

डॉ० रामजियावन पाण्डेय,
२०, प्राध्यापक—निवास, त्रिलोकनगर,
टाँडा—२२४१६० (फैजाबाद, उ० प्र०)

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ
१—संज्ञा प्रकरणम्	१
२—सन्धि प्रकरणम्	
(अ) अच् सन्धि प्रकरणम्	३४
(ब) हल् सन्धि प्रकरणम्	१०६
(स) विसर्ग सन्धि प्रकरणम्	१५४
३—अजन्त पुंल्लिङ्ग प्रकरणम्	१७०
४—अजन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरणम्	२०८
५—अजन्त नपुंसकलिङ्ग प्रकरणम्	२२७
६—शब्द रूपाणि	२४०

———

॥ ॐ ॥

हिन्दी-टीका-सहिता

विद्वद्वरवरदराज-विरचिता

लघुसिद्धान्तकौमुदी



मंगलाचरणम्

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

अन्वय—अहं शुद्धां गुण्यां सरस्वतीं देवीं नत्वा पाणिनीय-प्रवेशाय लघु-सिद्धांतकौमुदीं करोमि ।

हिन्दी अनुवाद—मैं (वरदराजाचार्य) पवित्र (संशुद्ध) तथा गुणवती (श्रेष्ठ गुणों से अभिमण्डित) (वाग्देवी) सरस्वती को प्रणाम पाणिनीय (महर्षि पाणिनि द्वारा रचित व्याकरण शास्त्र-'अष्टाध्यायी') में प्रवेश पाने के लिए 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' (का प्रणयन) कर रहा हूं।

अथ संज्ञा-प्रकरणम्

(अथाक्षरसमाम्नायः)

अइउण् १। ऋलृक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरट् ५। लण् ६। ञमङणनम् ७। झभञ् ८। घढधष् ९। जबगडदश् १०। खफछठथचटतव् ११। कपय् १२। शषसर् १३। हल् १४।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादि संज्ञार्थानि ।

एषामन्त्या इतः । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः । लण्मध्येत्विसंज्ञकः ।

हिन्दी अनुवाद—इस प्रकार ये (चतुर्दश) माहेश्वर (महेश या शिव अथवा इसी नाम के प्राचीनतम वैयाकरण द्वारा पूर्वोक्त) सूत्र अण् आदि संज्ञाओं (की रचना) के लिये हैं। (ये अणादि 'प्रत्याहार' की संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं।) इनके अन्तिम वर्ण (ण्, क्, ङ्, आदि) इत् (इत्संज्ञक) होते हैं। हकारादि व्यञ्जन वर्णों में (ह् + अ = ह) अकार मात्र उच्चारण के लिये है। (उच्चारण के अतिरिक्त सन्धि आदि में उसका अर्थात अ का कोई उपयोग नहीं किया जा सकता।) (किन्तु अपवाद स्वरूप) लण् सूत्र के मध्य में उच्चरित अकार (ल् + अ् + ण् = लण्) इत्संज्ञक भी है। (अर्थात् उच्चारण के साथ-साथ लकारोत्तरवर्त्ती अकार का र' प्रत्याहार की रचना में भी उपयोग होगा।

व्याख्या—'इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि'—के अनुसार व्याकरण-शास्त्र के ज्ञात इतिहास के अनुसार महर्षि पाणिनि ने भगवान् शङ्कर (अथवा इसी नाम के किसी वैयाकरण से 'अ इउण्'- इत्यादि चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों को प्राप्त किया था, जिसका संकेत उन्होंने माहेश्वराणि पद द्वारा किया है—

"नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादि सिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥"

('काशिका.' नन्दिकेश्वर

तथा—

"येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरण प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥"

(पाणिनीय-शिक्षा

ये चतुर्दश माहेश्वर सूत्र समस्त संस्कृत-व्याकरण की आधारभित्ति हैं इन्हीं से निर्मित प्रत्याहाररुपिणी संज्ञाओं की सहायता से महर्षि पाणिनि सूत्रों का प्रणयन करके अत्यल्प और स्पष्ट शब्दों में समग्र व्याकरण नियमों क सहज तथा सरल रीति से प्रस्तुत कर दिया है। सूत्रों की निम्नांकित परिभाष इन्हीं प्रत्याहारों से चरितार्थ है—

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मतम्।
अस्तोकमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥"

(अण् कहने मात्र से 'अइउण्' अथवा अइउण् ऋलृक्, एओङ्, ऐऔ हयवरट्, लण् का बोध होने लगता है।) इनकी रचना में प्रथम वर्ण अ

न्तिम इत् वर्ण मात्र के समावेश से समस्त मध्यवर्ती वर्णों का सहज बोध ने लगता है।

यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि इन इत्संज्ञक वर्णों का केवल प्रत्याहारों की वना में उपयोग होता है, वर्ण परिगणना में इन्हें नहीं गिना जाता।

इस प्रकार ,अण्' से 'जम्' तक पाणिनि द्वारा मान्य ४३ संज्ञायें (प्रत्याहार) नायी जा सकती हैं।

ामन्त्याइतः—

व्याख्या—'अइउण्' इत्यादि सभी चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों के अन्त में पठित क् इत्यादि समस्त वर्णों की पारिभाषिक इत्संज्ञा होती है, जिससे इनका प हो जाता है, वर्ण परिगणना में इनका समावेश (परिगणन) नहीं किया ता। इनका उपयोग केवल प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए ही होता है इस कार 'अण्' प्रत्याहार के निर्माण तक ही 'ण्' का उपयोग है। वर्णों के रिगणन में इसका कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार 'अण्' से अ, इ और उ ा ही बोध या परिगणन होगा, ण् का नहीं। इसी प्रकार अक् अच् आदि न्य प्रत्याहारों में 'क्' और 'च्' की परिगणना नहीं की जायेगी। इसी प्रकार न्य प्रत्याहारों में अन्य इतों की भी यही स्थिति होगी। इन अन्तिम इत्संज्ञकों वर्ण ही कहना चाहिये अक्षर नहीं क्योंकि वर्ण स्वर तथा व्यञ्जन दोनों बोधक है, जबकि अक्षर केवल स्वर का बोधक है—

"वर्णशब्देन स्वरव्यञ्जनात्मकोराशिरुच्यते।" तै० प्रा०

"स्वरोऽक्षरम्" (अथर्ववेद-प्रतिशाख्य—१/९३)

ा—

"इति स्वरमात्रस्य अक्षरसंज्ञाविधीयते।"

(उव्वट भाष्य-ऋग्वेद प्रतिशाख्य १/१९)

किन्तु कुछ वैयाकरण वर्ण और अक्षर को पर्याय मानते हैं।

ारादिष्वकार उच्चारणार्थः

व्याख्या—चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों में से प्रथम चार सूत्र (अच् स्वरों के धक हैं और पाँच से लेकर चौदह तक दस सूत्र (हल्) व्यञ्जनों के बोधक ध्यातव्य है, कि अन्तिम इत् वर्णों को छोड़कर ह से ह तक शेष सभी

व्यञ्जनों में अकार जुड़ा हुआ है। अतः वृत्तिकार ने उसका निदान प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि हकारादि वर्णों के मध्य स्थित अकार का एकमात्र उद्देश्य उच्चारण या उच्चारणगत सौकर्य है। स्वरों के बिना व्यञ्जनों का उच्चारण असम्भव है—

"स्वर्यते शब्दतेऽनेन व्यंजनमिति करणेऽचप्रत्ययः।"

(पाणिनीय शिक्षा पंजिका भाष्य

महर्षि पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने व्यंजनों के साथ अकार को इसलिए जोड़ा है कि यह प्रथम अच् है और द्वितीयतः इससे लेखन (लिपि) में सहायता रहती है कोई कठिनाई नहीं होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, कि हकारादि में स्थित अकार केवल उच्चारण के लिये है। सन्धि आदि प्रक्रियाओं में उसका कोई उपयोग नहीं होता।

लण्मध्येत्वित्संज्ञकः

व्याख्या—प्रस्तुत वृत्ति में प्रयुक्त 'तु' पद इसे पूर्ववर्ती वृत्ति ऽहकार······ उच्चारणार्थः' इत्यादि से जोड़ता है। अभिप्राय यह है कि हकारादि में स्थित अकार अन्य वर्णों में तो केवल उच्चारण के निमित्त है किन्तु लण् सूत्र के लकार में स्थित अकार उच्चारण के लिए तो है ही, *साथ ही साथ*, उसका एक और निमित्त है, कि वह इत्संज्ञक होकर 'र' प्रत्याहार हयवरट् सूत्र के 'र' और लण् के लकारोत्तवर्ती इत्संज्ञक अकार की सहायता से बनता है और 'र्—ल्' दो वर्णों का बोधक होता है। [र्+अ(उच्चारणार्थ) ट् ल् ((उच्चारणार्थ और इत्संज्ञक)]

=(र्+अ=र+ल्) यतः 'लण्' के लकार में स्थित अकार ही इत्संज्ञक है, अन्य वर्णों में स्थित अकार केवल उच्चारणार्थ है, अतः 'र' में स्थित अकार का उपयोग प्रत्याहार रचना में नहीं किया जायेगा और इस प्रकार 'र' प्रत्याहार ही बनेगा 'रा' नहीं और न ही 'र् अ्'। यदि लण् में स्थित अकार की इत्संज्ञा करके 'र' प्रत्याहार की सृष्टि न की गयी होती, तो 'उरण्रपरः' सूत्र और 'कृष्णर्द्धिः' तथा तवल्कारः' प्रयोग असिद्ध हो जाते।

(इत्संज्ञासूत्र)

१. हलन्त्यम् १।३।३

हल् (प्र० ए०)+अन्त्यम् (प्र० ए०) (अन्तिम हल्······)

उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् । सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्त-रादनुवर्तनीयं सर्वत्र ।

हिन्दी अनुवाद—उपदेश की स्थिति में अन्तिम 'हल् (व्यंजन) वर्ण की इत्संज्ञा होती है । (पूर्व वैयाकरणों अथवा पाणिनी आदि के) आदिम या प्रथम उच्चारण को उपदेश कहते हैं । सूत्रों में अपठित (अविद्यमान) (किन्तु आवश्यक) पदों को अन्य सूत्रों से अनुवर्तित (अध्याहृत अथवा अनुवृत्त) कर लेना चाहिए ।

व्याख्या—प्रकृत सूत्र संज्ञा सूत्र है । वस्तुतः सूत्र छः प्रकार के होते हैं ।

"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च् ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षडविधं सूत्रमुच्यते ॥"

प्रस्तुत सूत्र में केवल दो पद हैं 'हल्' और 'अन्त्यम्' जिनसे सम्पूर्ण कथ्य अभिहित नहीं होता । अतः वृत्तिकार ने यह व्यवस्था दी, कि सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में सूत्र तो लाघव की दृष्टि से संक्षिप्तम होंगे और अर्थावबोधार्थ आवश्यक पदों का पूर्वापर सूत्रों से अध्याहार कर लिया जायेगा—"सूत्रेष्वद्दष्टं पदम्•••" इत्यादि ।

यह अनुवर्त्तन 'अनुवृत्ति अपकर्षण तथा मण्डूकप्लुति रूप त्रिविध उपाय द्वारा होता है । उदाहरणार्थ प्रकृत सूत्रों में 'उपदेशे' तथा 'इत्' की अनुवृत्ति ठीक पूर्ववर्ती सूत्र—"उपदेशेऽननुनासिक इत्' (१।३।२) से की गई, और इस प्रकार तब उपदेश की अवस्था में अन्तिम हल् की इत्संज्ञा होती है" यह कथ्य स्पष्ट हो पाता है । पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रथमतः प्रोक्त धातु, सूत्र, गण उणादि, लिंगानुशासन, आगम प्रत्यय और आदेश आदि 'उपदेश' की संज्ञा से अभिहित किए जाते हैं—

"धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिंगानुशासनम् ।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्त्तिताः ॥"

तथा

"प्रत्यय शिवसूत्राणि आदेशा आगमस्तथा ।
धातुपाठो गणपाठ उपदेशाः प्रकीर्त्तिताः ॥"

यह इत्संज्ञा विधायक सूत्र व्यंजनों की इत्संज्ञा करता है, उदाहरणार्थ 'रामाणाम्' प्रयोग की सिद्धि में 'राम+नुट्+आम्' इस स्थिति में टकार की

'हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप करने पर ही 'रामाणा
प्रयोग व्युत्पन्न हो पाता है।

इसी प्रकार चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों में प्रयुक्त 'ण्' आदि की भी इसी
से इत्संज्ञा होगी।

(लोपसंज्ञा सूत्र)

२. अदर्शनं लोपः १।१।६० (अदर्शन ही लोप)

अदर्शनम् (प्र० ए०) लोपः (प्र० ए०)

प्रसक्तस्यदर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—उपस्थित के अदर्शन (अनुपस्थिति या अदृश्यता) को
की संज्ञा से अभिहित करते हैं।

व्याख्या—व्याकरणशास्त्र के अनुसार शब्द या वर्ण नित्य या अनिश्वर
इसलिए व्याकरण प्रक्रिया में लोप का अभिप्रायः विनाश नहीं, प्रत्युत अन
व्यक्ति, गोपन अथवा विद्यमान होते हुए भी अश्रवण है। अभिप्राय यह है,
लोप्य को अनुपस्थित मान लिया जाता है। उदाहरणार्थ 'अण्' प्रत्याहार
इत्संज्ञक 'ण्' विद्यमान होते हुए भी लुप्तप्राय है। व्याकरणशास्त्र या पाणि
के लोप सिद्धान्त का विस्तार गणितशास्त्र में 'शून्य प्रत्यय' (कन्सेप्ट आव जी
के रूप में देखा जा सकता है।

(लोपसंज्ञाविधायक सूत्र)

३. तस्यलोपः १।३।६

तस्य (ष० ए०) लोपः (प्र० एकः) उसका लोप……)

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः।

हिन्दी अनुवाद—उस इत् का लोप हो जाता है। ण् आदि 'अण्' अ
प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए ही हैं।

व्याख्या—जैसा कि पहले ही इङ्गित किया जा चुका है कि माहेश्वर सूत्रों में उच्चरित अन्तिम व्यञ्जन वर्ण इत्संज्ञक है। अब इस सूत्र में उन इत्संज्ञकों की विशेषता एवं प्रयोजन बताया जा रहा है। प्रथमतः इत्संज्ञक वर्णों का लोप हो जाता है। और द्वितीयतः उनका उपयोग प्रत्याहारों की सिद्धि के लिये किया जाता है। यद्यपि वर्ण परिगणन (ग्रहण) काल में 'ण्' आदि का ग्रहण (परिगणन) नहीं होता, तथापि यदि 'ण्' आदि का ग्रहण न हुआ होता, तो परवर्ती सीमा निश्चित न हो पाती और इस प्रकार के 'अण्' प्रत्याहार में से केवल 'अ' ही शेष रह जाता, जो या तो केवल स्वयं का (अ का) या सभी वर्णों का बोधक होता, और इस प्रकार दोनों स्थितियों में विसङ्गति या अनौचित्य होगा। अतः प्रत्याहारों की दृष्टि से इन इत्संज्ञकों का अप्रतिम स्थान एवं महत्व है।

('हल्' आदि प्रत्याहार विधायक सूत्र)

४. आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१

आदिः (प्र० ए०) अन्त्येन (तृ० ए०) सह (अ०) इता (तृ० ए०) अन्त्येन इता सह आदिः—अन्तिम इत् के साथ आदि···?)

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्।

यथा—'अण्' इति अ इ उ वर्णानां संज्ञा। एवम् अच्, अल्, हलित्यादयः।

हिन्दी अनुवाद—अन्तिम इत् (इत्संज्ञक वर्ण) सहित आदि (वर्ण) मध्यवर्ती (मध्यस्थ) वर्णों और स्वयं का बोधक होता है। उदाहरणार्थ—अण् में अन्तिम इत् 'ण्'—सहित आदि वर्ण 'अ' मध्यवर्ती वर्णों इ उ और स्वयं का (अ का) बोधक है। इसी प्रकार 'अच्' 'हल्' और 'अल्' आदि (को) भी समझना चाहिये।

व्याख्या—महर्षि पाणिनि ने इस सूत्र से प्रत्याहारों की रचना-प्रक्रिया (विधि प्रणाली) जनसाधरण को समझाया है। प्रत्याहारों की रचना करते समय उन्होंने आदि वर्ण और अन्तिम इत् का ग्रहण किया है, और आदि वर्ण द्वारास मस्त सूत्र के सभी वर्णों का वोध कर लिया है, और अन्तिम इत् को वर्ण परिगणन में सम्मिलित नहीं किया है। इस प्रकार इन प्रत्याहारों ने न केवल "प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा यत्र स प्रत्याहार:" के अनुसार संक्षिप्ति के अनुबन्ध को पूर्ण किया, प्रत्युत स्पष्ट अर्थाव बोध को भी आत्मसात् कर लिया है।

इस प्रकार चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों के प्रथम वर्ण (आदि) और अन्तिम (इत्) की सहायता से उन्होंने प्रत्याहार बनाया, जिसके द्वारा आदि और अन्तिम इत् के मध्यवर्ती समस्त वर्णों और स्वयं आदि का बोध केवल आदि वर्ण से ही कर लिया जाता है। अन्तिम इत् का उपयोग केवल बोध्य की अन्तिम सीमा निर्धारित करने में किया, उसे वर्णपरिगणना सम्मिलित नहीं किया। इस प्रकार (अ इ उ ण्) सूत्र के आदि वर्ण 'अ' और अन्तिम इत् 'ण्' की सहायता से निर्मित 'अण्' प्रत्याहार के आदि वर्ण 'अ' से दोनों के मध्यवर्ती वर्णों 'इ, उ तथा स्व (अ) का बोध (परिगणन) कर लिया और 'ण्' से अन्तिम सीमा निर्धारित कर 'अण्' को अतिवृत्ति से वचा लिया। इस प्रकार 'अण्' प्रत्याहार अतिवृत्ति और अनावृत्ति दोनों दोषों से दूर अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल, संक्षिप्त और सुबोध हैं और इन्हीं प्रत्याहारों के साहाय्य से उन्होंने सूत्रों की रचना करके अत्यन्त संक्षेप में वड़े से वड़े और जटिल व्याकरण के नियमों को अत्यन्त स्पष्ट रूप से साधारण पाठक को भी समझा दिया है। इस प्रकार इन प्रत्याहारों का और इस सूत्र का महत्त्व निर्विवाद है। इसी प्रकार 'अच्' 'हल्' और 'अल्' प्रत्याहारों के आदि और अन्तिम इत् से वाञ्छित सीमा-निर्धारण किया गया है। प्रत्याहारों में आये हुए मध्यवर्ती इतों को परिगणना नहीं की जाती—

"प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम्"

चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों से अनन्त प्रत्याहारों का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु यहाँ अष्टाध्यायी में प्रयुक्त केवल ४३ प्रत्याहारों की ही सूची दी जा रही है—

क्रम-संख्य	प्रत्याहार	प्रत्याहार में परिगणितवर्ण और	उदाहरण रूप सूत्र
१.	अण्	(i) अ र उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह् य् व् र् और ल् (ii) अ, इ, और उ।	(i) अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय १।१।६९ (ii) ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण:३।३।१११
२.	अक्	अ, इ, और उ, ऋ, लृ	अक: सवर्णे दीर्घ: ६।१।१०१
३.	अच्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ और औ	इकोयणचि ६।१।७७
४.	अट्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ औ ह् य व और र	शश्छोऽटि ८।४।६३
५.	अम्	अ, इ, उ, ऋ लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह् य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण् और न्	पुम: खय्यम्परे ८।३।६
६.	अश्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य् व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड् द्	भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि ८।३।१०
७.	अल्	सम्पूर्ण स्वर तथा व्यंजन	अलोऽन्त्यस्य १।१।५२

क्रम संख्या	प्रत्याहार	प्रत्याहार में परिगणित वर्ण और	उदाहरण रूप सूत्र
८.	इक्	इ, उ, ऋ और लृ	इकोयणचि ६।१।७७
९.	इच्	इ, उ, ऋ, लृ ए, ओ, ऐ और औ	नादिचि ६।१।१०४
१०.	इण्	इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र् और ल्	इणः षः ८।३।३९
११.	उक्	उ, ऋ और लृ	उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७०
१२.	एङ्	ए औ ओ	एङः पदान्तादति ६।१।१०९
१३.	एच्	ए, ओ, ऐ और औ	एचोऽयवायावः ६।१।७८
१४.	ऐच्	ऐ और औ	वृद्धिरादैच् १।१।१
१५.	हश्	ह्, य्, व्, र् ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड् और द्	हशिच ६।१।११४
१६.	हल्	ह्, य्, व् र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध् ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प् श, ष, स और ह	हलन्त्यम् १।३।३

क्रम संख्या	प्रतिहार	प्रत्याहार में परिगणित वर्ण और	उदाहरण रूप सूत्र
१७.	यण्	व्, व्, र् और ल्	इकोयणचि ६।१।७७
१८.	यम्	य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण् और न्	हलो यमां यमि लोपः ८।४।६४
१९.	यञि	य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण, न्, झ् और भ्	अतो दीर्घो यञि ७।३।१०१
२०.	यय्	य्, व्, र्, ल्, ञ्, भ्, ङ्, ण्, न्, झ्. भ्, घ्, ढ्, ध् ज्, ब्, ग्, ड्, द् ख्, फ्, छ्, ठ्. थ्, च् ट्, त्, क्, प्	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५७
२१.	यर्	य्, व् र्, ल्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध् ज्, ब् ग् ड् द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, और स्	यरोऽनुनासिकेऽनुनासिकोवा ८।४।४५
२२.	वश्	व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ् ढ्, ध्, ज्, ब्, ग् ड्, द्	नेड्वशि कृति ७।२।८
२३.	वल्	व्, र्, ल्, ञ्, म् ङ्, ण्, न्, झ्. भ् घ्, ढ्, ध्, ज्, ब् ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष् स् और ह्	लोपो व्योर्वलि ६।१।६६
२४.	र्	र और ल्	उरण् रपरः १।१।५१

क्रम संख्या	प्रतिहार	प्रत्यहार में परिगणित वर्ण और	उदाहरण रूप सूत्र
२५.	रल्	र्, ल्, ञ्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष् स् और ह्	रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च १।२।२६
२६.	मय्	म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट् त्, क्, प्	मय उञो वो वा ८।३।३२
२७.	ङम्	ङ्, ण्, और न्	ङमो ह्रस्वादचिङमुण् नित्यम् ८।२।३२
२८.	झष	झ्, भ्, घ्, ध्	एकाचो बशो भष् झषन्तस्यस्ध्वोः ८।२।३७
२९.	झश्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्	झलां जश् झशि ८।४।५३
३०.	झय्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ् छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्	झयो होऽन्यतरस्याम् ८।४।६३
३१.	झर्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, र्	झरो झरि सवर्णे ८।४।६५
३२.	झल्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, र्, ह्	झलो झलि ८।१।२६
३३.	भष्	भ्, घ्, ढ्, ध्	एकाचो बशो भष् झषन्तस्यास्ध्वोः ८।२।३७
३४.	जश्	ज्, ब्, ग्, ड्, द्	झलां जश् झशि ८।४।५३

क्रम संख्या	प्रतिहार	प्रत्यहार में परिगणित वर्ण और	उदाहरण रूप सूत्र
३५.	बश्	ब्, ग्, ड्, द्	एकाचो बशो ८।२।३७
३६.	खय्	ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, ब्, क्, प्	पुमः खय्यम्परे ८।३।६
३७	खर्	ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प, श्, ष्, स्	खरिच ८।४।५५
३८.	छव्	छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्	नश्छव्यप्रशान् ८।३।७
३९.	चय्	च्, ट्, त् क्, प्	चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् (वार्तिक)
४०.	चर्	च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्	अभ्यासे चर् च ८।४।५४
४१.	शर्	श्, ष् और स्	शरोऽचि ८।४।४९
४२.	शल्	श्, ष्, स् और ह्	शल इगुपधादनिटः क्सः ३।१।४५
४३.	ञम्	ञ्, म्, ङ्, ण् और न्	ञमन्ताड्ढः (उ० द० १।१।१३)

हमने उक्त तालिका से 'अण्' की परिगणना केवल एक ही बार की है और उसे 'अइउण्' अइउण् ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्, हयवरट्, लण् दोनों सीमाओं का बोधक माना है, किन्तु प्रथम सीमा ही अधिक मान्य तथा प्रचलित है। इसी प्रकार 'हल्' प्रत्याहार की भी दो सीमायें 'हयवरट्' से 'हल्' तक और केवल 'हल्' तक होंगी। 'र' प्रत्याहार का नवीन वैयाकरण स्वीकार नहीं करते। ध्यातव्य है, कि इस अक्षर समाम्नाय में सभी वर्ण केवल एक ही बार पढ़े गये हैं, किन्तु हयवरट् और हल् दो सूत्रो में हकार दो बार पठित है, इसका उद्देश्य यह है, कि हकार का परिगणन जहाँ 'अट्' प्रत्याहार में किया जाय, वहीं 'वल्, रल्, झल् तथा शल्' में भी किया जाय। 'अट्' प्रत्याहार में इसकी परिगणना से नर्हिणा तथा अर्हेण आदि प्रयोगों में 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (८।४।२) सूत्र से 'न्' को 'ण्' होता है। यदि हयवरट् सूत्र में हकार को सम्मिलित न किया गया होता, अपितु केवल अन्तिम 'हल्' सूत्र में ही परिगणित किया गया होता, तो 'अट्' में इसकी गणना न होती और फलतः 'वर्हिना' तथा 'अर्हेन' रूप ये अशुद्ध प्रयोग बनते। ऐसे ही यदि 'हल्' में द्वितीय बार हकार का पाठ न किया गया होता, तो 'वल्' प्रत्याहार में इसकी परिगणना न हो पाती, और 'रुदिहि,' 'स्वपिहि' आदि प्रयोगों में 'रुदादिभ्यः सार्वधातु के, (७।२।७६) सूत्र से 'हि' प्रत्यय को वलादि मानकर 'इट्' न हो पाता, 'इल्' प्रत्याहार में ग्रहण न होने से 'स्निहित्वा' 'स्नेहित्वा' आदि प्रयोगों में 'न क्त्वा सेट्' (१।२।१८) सूत्र से प्राप्त निषेध को बाधकर 'रलोव्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६) सूत्र से विकल्प कित्त्व न हो पाता और केवल 'स्नेहित्वा' प्रयोग होता, 'स्निहित्वा' नहीं जबकि दोनों अभीष्ट हैं। 'झल्' प्रत्याहार में परिगणना न होने पर 'अदाग्धाम्' आदि प्रयोगों में 'झलोझलि' (८।२।२६) सूत्र में 'घ' की असिद्धि होने पर भी हकार को 'झल्' मानकर 'स्' का लोप न होता और झल् में अपरिगणित होने से अलिक्षत्' 'अधुक्षत्' आदि प्रयोगों में 'शलइगुपधादनिटः क्सः' ३।१।४५ सूत्र से 'च्लि को 'क्स' आदेश न हो पाता। अतः हकार का द्विवा पाठ नितान्त आवश्यक है, अन्यथा इसे एक वर्ण ही समझना चाहिए—

> "हकारो द्विरुपात्तोऽयमयटि शल्यापि वाञ्छता।
> अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति॥"

५—ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७

ऊकालः (प्र० ए०)+अच् (प्र० ए०) ह्रस्व दीर्घप्लुतः (प्र ए०)०

(ऊकालिक स्वर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत होता है)

उश्च, ऊश्च उ३श्च वः । वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्व-दीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात् ।

हिन्दी अनुवाद—उ(एक मात्रिक—ह्रस्व)ऊ (द्विमात्रिक—दीर्घ) और ऊ३(त्रिमात्रिक—प्लुत) की 'ऊ' संहिता होती है, और उसका वहुवचनान्त रूप 'व' वनता है। जिस किसी स्वर का (उच्चारण)—काल उ, ऊ और ऊ३ के उच्चारण—काल के समान होता है उस स्वर की क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत संज्ञा होती है। वह (ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतात्मक स्वर) प्रत्येक उदात्त, अनुदात्त और स्वरित रूप भेद से तीन प्रकार का होता है।

व्याख्या—प्रकृत सूत्र स्वरों की ह्रस्व दीर्घ और प्लुत—संज्ञा विधायक सूत्र है। इस सूत्र में 'अकालो' पद में पठित दीर्घ उकार तीनों—एक मात्रिक (उ) द्विमात्रिक (ऊ) और त्रिमात्रिक या उससे अधिक मात्रिक (उ३) उकारों का प्रतीक है. यहाँ तीनों प्रकार के उकारों (उ+ऊ+उ३=ऊ) में दीर्घ सन्धि करने पर 'ऊ' ही वनेगा। अतः सूत्र में प्रयुक्त दीर्घ अकार तीनों का बोधक है, उसके प्रथमा वहुवचन में 'वः' और षष्ठी वहु० में 'वाम्' रूप वनेंगे। अब वृत्ति का अर्थ समझने में सरलता होगी। सूत्र का अर्थ है, ऊ काल [ऊ कालिक अथवा ऊ के समान (सम) कालिक] अच् की ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है, अर्थात् ह्रस्व उकार के उच्चारण काल के वरावर जिसके उच्चारण में काल (समय) लगेगा, उसकी 'ह्रस्व' दीर्घ अकार के उच्चारण काल के वरावर जिसके उच्चारण में काल (समय) लगेगा, उसकी 'दीर्घ', और प्लुत 'उ३' के उच्चारण-काल के वरावर जिसका उच्चारण-काल होगा, उसकी प्लुत संज्ञा होगी। दूसरे शब्दों में ह्रस्व दीर्घ और प्लुत ऊकालिक स्वर क्रमशः 'ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत'—संज्ञक होगा। उदाहरणार्थ—यतः ह्रस्व अकार और इकार का उच्चारण काल ह्रस्व उकालिक (ह्रस्व उकार के समान) है, अतएव इनकी 'ह्रस्व' संज्ञा होती है। इसी प्रकार दीर्घ आकार और ईकार के उच्चारण में दीर्घ ऊकार के वरावर (समान) काल लगता है। अतः इनकी 'दीर्घ' संज्ञा होती है। ऐसा ही यतः प्लुत अ३ कार और इ३ कार के उच्चारण का काल प्लुत 'उ३' के वरावर है, अतः इनकी प्लुत संज्ञा होती है। ह्रस्व की एक मात्रा दीर्घ की दो मात्राएँ और प्लुत की तीनया उससे अधिक मात्रायें होती हैं।

"एकमात्रो भवेद् ध्रस्वो द्विमात्रों दीर्घ उच्चयते।
"त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्वमात्रिकम्॥"

अब प्रश्न उठता है कि महर्षि पाणिनि ने उकार को ही क्यों ह्रस्व दीर्घ

तथा प्लुत की मानक-इकाई के रूप में ग्रहण किया। इसके निदान-स्वरूप दो तर्क दिये जा सकते हैं—

(i) शिव के प्रति अनन्य भक्ति—भगवान् महेश्वर (शिव) ही पाणिनि के इष्ट देव हैं, अतः उनके स्मरण स्वरूप उन्होंने उकार का ग्रहण "उकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः" और "उणादि" में किया।

(ii) कुक्कुट की उकारपरक ध्वनि—ब्राह्ममुहूर्त में कुक्कुट की 'कुकुडूकू' (कु, कू, कु, ३) ध्वनि ही इस सूत्र की प्रेरक तत्व रही है, अतः यही कारण है, कि महर्षि पाणिनि ने मानक स्वरूप 'ऊकार' का ग्रहण किया, अकार या ईकार का नहीं। वह ह्रस्व दीर्घ और प्लुतात्मक स्वर प्रत्येक उदात्त अनुदात्त और स्वरित भेद से त्रिविध होता है।

६. उच्चैरुदात्तः १।२।२९

उच्चैः (तृ० व०)+उदात्तः (प्र० ए०)

[(उच्चारण स्थानों के उच्च (भागों) से 'उदात्त' होता है।)]

ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—सभाग (सखण्ड) कण्ठ तथा तालु आदि (उच्चारण) स्थानों के अर्ध्वभाग से निष्पन्न (उच्चारित) अच् (स्वर) की 'उदात्त' संज्ञा होती है।

व्याख्या—कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका आदि उच्चारण—स्थानों के दो भाग—ऊर्ध्व और निम्न (नीच) होते हैं। जब किसी स्वर का उच्चारण नियत स्थान के ऊर्ध्व भाग से होता है, तो उसे 'उदात्त' कहते हैं। उदाहरणार्थ—कण्ठस्थानीय 'अ' के जिस भेद का उच्चारण कण्ठ के ऊर्ध्व भाग से होगा, उसे 'उदात्त अ' कहेंगे। यह सूत्र उदात्तसंज्ञा-विधायक है।

७. नीचैरनुदात्तः १।२।३०

नीचैः (तृ० ब०)+अनुदात्तः (प्र० ए०)

[निम्न (भागों) से अनुदात्त होता है]

ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञ स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—सभाग तालु आदि (उच्चारण) स्थानों के अधो (निम्न) भाग से उच्चरित स्वर 'अनुदात्त' की संज्ञा से अभिहित होता है।

उदाहरणार्थ—अ के जिस प्रभेद का उच्चारण नियत स्थान कण्ठ के निम्न (अधो) भाग से होगा, उसकी 'अनुदात्त' संज्ञा होगी। यह अनुदात्त-संज्ञा-विधायक सूत्र है।

८. समाहारः स्वरितः १।२।३१

समाहारः (प्र० ए०) स्वरितः (प्र० ए०)

(समाहार स्वरित (संज्ञक) होता है)

उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्। स नवविधोऽपि प्रत्येक मनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्या द्विधा।

हिन्दी अनुवाद—उदात्तत्व और अनुदात्तत्व रूप वर्णधर्म जिसमें समाहृत (संयुक्त या मिश्रित) होते हैं (अर्थात् जो तालु आदि के मध्यभाग से उच्चरित होते हैं) उन स्वरों की 'स्वरित' संज्ञा होती है। (इस प्रकार) दीर्घ और प्लुत तथा उदात्त अनुदात्त और स्वरित रूप नव प्रकार के उस स्वर को (अब) प्रत्येक अनुनासिक और अननुनासिक रूप दो और भेदों में विभक्त किया जाता है।

विशेष—यह स्वरित-संज्ञा-विधायक सूत्र है। ध्यातव्य है, कि उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित का लौकिक संस्कृत में प्रयोग नहीं मिलता। केवल वैदिक साहित्य में इनका प्रयोग मिलता है। मन्त्रों के भारतीय पाठों में उदात्त का कोई चिन्ह नहीं मिलता, उन्हें शेष मानकर पहचान लिया जाता है, अनुदात्त का चिन्ह है, वर्णों के नीचे चिह्नित पड़ी रेखा (—) और स्वरित का चिह्न है, वर्णों के ऊपर चिह्नित खड़ी रेखा (⊥)। इन दोनों से अवशिष्ट अचिह्नित वर्णों को उदात्त समझ लिया जाता है। इसके विपरीत आक्सफर्ड-प्रेस से मुद्रित प्रतियों में अनुदात्त अचिह्नित रहते हैं, और पूर्वोक्त अनुदात्त के चिह्न से उदात्त चिह्नित रहता है, स्वरित दोनों में समान है।

९. मुखनासिकावचनोऽनुनासिका १।१।८

मुखनासिकावचनः (प्र० ए०) अनुनासिकः (प्र० ए०)

[(संयुक्त रूप से) मुख और नासिका से उच्चरित (वर्ण) अनुनासिक होता है।)]

मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिक संज्ञः स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—मुखसहित नासिक से उच्चार्यमाण वर्ण की अनुनासि संज्ञा होती है। (होनी चाहिए)। यह अनुनासिक संज्ञा विधायक सूत्र है।

व्याख्या—प्रत्येक स्वर के दो प्रकार से उच्चारण किये जा सकते हैं प्रथम केवल मुख से और द्वितीय मुख सहित नासिका से प्रथम स्थित अर्थात् केवल मुख से उच्चारण होने पर उच्चार्यमाण स्वर की अननुनासिक य निरनुनासिक संज्ञा होती है और द्वितीय स्थिति में मुख सहित नासिका उच्चारण होने पर उच्चार्यमाण स्वर की अनुनासिका या सानुनासिक अभि होती है। उदाहरणार्थ 'अ' का उच्चारणस्थान जब केवल 'कण्ठ' होगा त 'अ' अननुनासिका (अ) होगा और जब मुखसहित नासिका होगा तो ' अनुनासिक (अँ) होगा। इसी प्रकार केवल मुख (तालु) स्थानीय 'इकार अननुनासिक और तालु सहित नासिका स्थानीय 'इकार' अननुनासिक (इँ होगा। इसी प्रकार अन्य वर्णों को भी समझना चाहिए। यहाँ मुख का अ प्राय तात्वादि समस्त उच्चारण स्थानों से समझना चाहिए। नासिका उच्चार्यमाण वर्णों को अनुनासिक कहते हैं। ञ्, म्, ङ्, ण् और न् उच्चारण स्थान यतः नासिका है। अतः इनकी भी अनुनासिक संज्ञा होती क्योंकि ये मुख और नासिक दोनों से उच्चरित होते हैं। इसी प्रकार अँ इँ आदि अनुनासिक माने जाते हैं। इसके विपरीत जिन वर्णों का उच्चारण केव मुख से होता है। उन्हें अननुनासिक कहते हैं।

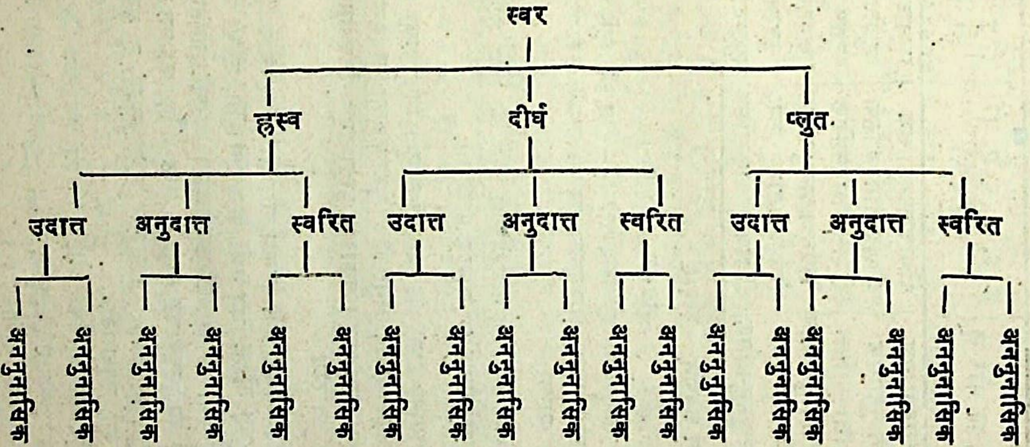
अचों के समस्त भेदों का निरूपण

तदित्यम्—'अ, इ, उ, ऋ' एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टा दशभेदाः। वर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

हिन्दी अनुवाद—तो इस प्रकार अ इ उ ऋ इन वर्णों में से प्रत्येक के भेद होते हैं। लृ वर्ण के उसके दीर्घाभाव के कारण १२ (भेद) होते हैं 'एच्' (ए, ओ, ऐ, औ) के भी ह्रस्वाभाव के कारण १२ (भेद) होते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि मुख की तो प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में आवश्यक होती है, फिर सूत्र में पृथकशः उसके उल्लेख का क्या प्रयोजन है। इसके उ स्वरूप यह समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है कि यदि मुख का पृथक उल्लेख न किया गया होता तो केवल नासिका से ही उच्चरित, मुख से कद नहीं, 'अनुस्वार' की भी अनुनासिक संज्ञा होने लगती। अतः 'अनुस्वार' अनुनासिकत्व के निषेध (वारण) के लिए सूत्र में 'मुख' शब्द का प्र अनिवार्य था।

इस सूत्र को समझाने के लिए निम्नाङ्कित स्वर भेद बोधिका तालिका देना प्रासङ्गिक होगा—



तथा—

स्वर	अ, इ, उ, ऋ और लृ	अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ और औ	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ओ, ऐ, और औ
भेद	ह्रस्वोदात्तानुनासिक ह्रस्वोदात्ताननुनासिक ह्रस्वानुदात्तानुनासिक ह्रस्वानुदात्ताननुनासिक ह्रस्वस्वरितानुनासिक ह्रस्वस्वरिताननुनासिक	दीर्घोदात्तानुनासिक दीर्घोदात्ताननुनासिक दीर्घानुदात्तानुनासिक दीर्घानुदात्ताननुनासिक दीर्घस्वरितानुनासिक दीर्घस्वरिताननुनासिक	प्लुतोदात्तानुनासि प्लुतोदात्ताननुनासि प्लुतानुदात्तानुनासि प्लुतानुदात्ताननुनासि प्लुतस्वरितानुनासि प्लुतस्वरिताननुना

१०. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्—१।१।६

तुल्यास्यप्रयत्नं (प्र० ए०) सवर्णम् (प्र० ए०)

(आस्यप्रयत्नगत तुल्यता ही सवर्णता है—"आस्ये मुखे भवम् आ स्थानम् प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः, आभ्यान्तर प्रयत्नः इत्यर्थः। तुल्यैः आस्य प्रय यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नम्।")

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्ण स्यात्। (वा०) ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतु सानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदै कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जि मूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य।

हिन्दी अनुवाद—जिन वर्णों के कण्ठतालु आदि (उच्चारण) स्थान त आभ्यान्तर प्रयत्न ये दोनों जिन् वर्णों के समान होंगे, उनकी परस्पर 'सव संज्ञा होगी। ऋलृ वर्णों की पारस्परिक 'सवर्णता' कहनी चाहिए। अ, कव हकार और विसर्ग का (उच्चारण स्थान) 'कण्ठ', इ, च वर्ग, यकार अ शकार का तालु', ऋ, टवर्ग, रकार और ष का 'मूर्धा', लृ, तवर्ग, ल और का 'दन्त', उ, पवर्ग, उपध्मानीय (⌣ प ⌣ फ) का 'ओष्ठ', ञ्, म्, ण्, और न्, का 'नासिका' भी, ए, ऐ का 'कण्ठतालु,' ओ और औ 'कण्ठोष्ठ', वकार का 'दन्तोष्ठ', जिह्वामूलीय (⌣ क ⌣ ख) का 'जिह्वाम और अनुस्वार का (केवल) नासिका है।

व्याख्या—जिन दो वर्णों के उच्चारण स्थान (कण्ठ तालु आदि) तथा आभ्यन्तर-प्रयत्न परस्पर समान (एक ही) होते हैं, उनकी परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा होती है, अर्थात् वे परस्पर सवर्ण माने जाते हैं। उदाहरणार्थ यतः 'क' और 'ख' दो वर्णों के उच्चारण स्थान 'कण्ठ' और आभ्यन्तर-प्रयत्न 'स्पृष्ट' परस्पर समान हैं, अतः इनकी परस्पर 'स्वर्ण' संज्ञा होगी। इसी प्रकार 'त' और 'थ' का उच्चारण स्थान 'दन्त' और आभ्यन्तर-प्रयत्न 'स्पृष्ट' परस्पर समान होने से परस्पर सवर्ण संज्ञा होगी।

यतः 'ऋ' और 'लृ' दोनों वर्णों के उच्चारण-स्थान परस्पर भिन्न क्रमशः 'मूर्धा' और 'दन्त' हैं, अतः 'तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्'—इस प्रकृत सूत्र से इनकी सवर्ण संज्ञा असम्भव थी, और इनकी सवर्ण संज्ञा बिना 'तवल्कारः' आदि की सिद्धि असम्भव हो जाती, क्योंकि सवर्ण संज्ञा के अभाव में 'उरण् रपरः' का अर्थ उः (अर्थात् ऋकार के) स्थान में सम्भावित अण् रपर होकर 'कृष्णर्द्धि' की सिद्धि तो कर लेता, किन्तु उक्त सूत्र 'उरण् रपरः' से लृ और तदादेश 'अल्' का ग्रहण न हो पाता और 'तवल्कार' के लिए या तो पृथकसूत्र की व्यवस्था करनी पड़ती, अन्यथा वह असिद्ध रह जाता। अतः महर्षि कात्यायन ने पाणिनि के उक्त रिक्ति की पूर्ति अपने 'ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्'—इत्यादि वार्तिक से कर दी, जैसा कि वार्तिक की परिभाषा ही है, उक्त, अनुक्त और दुरुक्त (त्रुटिग्रस्त उक्ति) का परिष्कार—

"उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञाः विचक्षणाः॥"

और इस प्रकार कात्यायन के अनुसार ऋ-लृ की 'सवर्णता' निर्धारित कर लेने पर ही 'तवल्कारः' रूप सिद्ध हो सका। यद्यपि महर्षि पाणिनि ऋ लृ के सावर्ण्य का उल्लेख पृथक्शः नहीं किया है, तथापि 'उरण् रपरः' और उसकी वृत्ति में 'ऋ' को ३० भेदों के निर्देशपूर्वक 'तवल्कारः' प्रयोग का उल्लेख ही प्रमाण है, कि उनकी दृष्टि में ऋ और लृ की परस्पर सवर्ण संज्ञा होगी। अब निम्नाङ्कित तालिका के माध्यम से वर्णों के उच्चारण-स्थान तथा उस पर आधृत विभाजन (वर्गीकरण) प्रस्तुत कर प्रकृत सूत्र को और अधिक सरलता से समझा जा सकता है—

वर्ण		उच्चारण स्थान	विभाजन/वर्गीकरण
अ, कवर्ग, ह, विसर्जनीय (विसर्ग)	"(अकुह···)"	कण्ठ	कण्ठ्य
इ, चवर्ग, य, श	"(इचुय···)"	तालु	तालव्य
ऋ, टवर्ग, र, ष	"(ऋटुर···)"	मूर्धा	मूर्धन्य
लृ, तवर्ग, ल, स	"(लृतुल···)"	दन्त	दन्त्य
उ, पवर्ग ᳲप ᳲफ (उपध्मानीय)	"(उपूप···)"	ओष्ठ	ओष्ठ्य
ञ्, म्, ङ्, ण्, न्	"(ञमङ्···)"	नासिका भी	नासिकीय
ए, ऐ,	"(एदैतोः···)"	कण्ठतालु	कण्ठतालव्य
ओ, औ	"(ओदौतोः···)"	कण्ठोष्ठ	कण्ठोष्ठ्य
	"(वकारस्य···)"	दन्तोष्ठ	दन्तोष्ठ्य
जिह्वामूलीय ᳲक ᳲख	"(जिह्वामू···)"	जिह्वामूल	जिह्वामूलीय
अनुस्वार (ं)	"(नासिका···)"	नासिका	नासिकीय

सम्प्रति यत्न (प्रयत्न) का परिचय देना आवश्यक है—

यत्नो द्विधा-आभ्यन्तरोबाह्यश्च। आद्यश्च पञ्चधा-स्पृष्टेषत्स्पृटेषद्विवृ विवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं (प्रयतनं) स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्त स्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्माणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयो संवृतम्। प्रक्रियादशायान्तु विवृतमरे।

हिन्दी अनुवाद—प्रयत्न के दो भेद होते हैं—

(१) आभ्यन्तर, (२) बाह्य। उनमें से आदिम (प्रथम आभ्यन्तर) पाँ प्रकार का होता है—(१) स्पृष्ट, (२) ईषत्स्पृष्ट, (३) ईषद्विवृत, (४) विवृ (५) सम्वृत। उनमें से स्पर्श वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न 'स्पृष्ट', अन्तःस्थ वर्ण का 'ईषत्स्पृष्ट', ऊष्म वर्णों का 'ईषद्विवृत', स्वरों का 'विवृत' और प्रयो (प्रयोग दशा) में ह्रस्व अकार (अ) का 'संवृत' किन्तु प्रक्रिया-दशा (सन्धि समासादि की स्थिति) में 'विवृत' ही होता है।

व्याख्या—प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में होने वाले सहज आयास (प्रयत्न) को व्याकरण की पदावली में 'यत्न' की अभिधा से अभिहित करते हैं। य यत्न द्विविध है—

(१) आभ्यन्तर—उच्चारण काल में वर्णों के मुख से बाहर आने के पूर्व मुख के भीतर होने वाला यत्न आभ्यन्तर कहा जाता है, विना इसके वाह्य यत्न निष्फल होता है, अतः यह अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्रकृष्ट होता है, इसे "प्रकृष्टो यत्नः 'प्रयत्नः' ", के अनुसार वृत्ति में 'प्रयत्न' की संज्ञा दी गयी है। इसका अनुभव मात्र उच्चारणकर्त्ता को ही होता है, क्योंकि उसी द्वारा उसी के मुख में यह प्रयत्न होता है।

(२) बाह्य—वर्णों के उच्चारणकाल में उनके मुख से बाहर निकलते समय जो प्रयत्न होता है, उसे 'बाह्य' कहते हैं। इसका अनुभव श्रोता को भी होता है, प्रयत्नों की ये दोनों संज्ञायें अन्वर्थ हैं। वस्तुतः यह ध्वनिशास्त्र का विषय है, यहाँ सवर्ण संज्ञा के प्रसङ्ग में आवश्यकतावश इसकी चर्चा करनी पड़ी, बाह्य प्रयत्न का सवर्ण संज्ञा में कोई उपयोग नहीं होता, किन्तु 'आन्तरतम्य' (सवर्णों के अतिशयसाम्य या नैकट्य) निर्धारण में इसकी आवश्यकता (उपयोगिता) होती है।

आद्य (आभ्यन्तर) के पाँच होते भेद हैं—प्रथम स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत विवृत और सम्वृत। इनमें स्पर्श वर्णों का 'स्पृष्ट,' अन्तःस्थ वर्णों का 'ईषत्स्पृष्ट', ऊष्मवर्णों का 'ईषद्विवृत, स्वरों का 'विवृत,' किन्तु ह्रस्व अकार का प्रयोग (उच्चारण) में 'सम्वृत, किन्तु प्रक्रिया दशा (सन्धि और समास की स्थिति) में 'विवृत' ही अभ्यन्तर प्रयत्न होता है वस्तुतः ह्रस्व आकार भी स्वर है, अतः स्वभावतः इसका भी आभ्यन्तर प्रयत्न 'विवृत' होना चाहिए, किन्तु उसका आभ्यन्तर प्रयत्न प्रयोग (उच्चारण) की दशा में 'संवृत' होता है, किन्तु प्रक्रिया (साधनिका) की स्थिति में 'विवृत' होता है। यदि ह्रस्व 'अ' का भी आभ्यन्तर प्रयत्न 'विवृत' न किया गया होता, तो 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से 'कृपणाचार्यः दण्डाढकम्' आदि प्रयोगों की सिद्धि न हो पाती, क्योंकि णकार और डकारोत्तरवर्ती ह्रस्व 'अ' तथा 'आचार्यः और आढ़कम्' के 'आ' के आभ्यन्तर प्रयत्न क्रमशः भिन्न-भिन्न संवृत और विवृत होने से स्वर्ण न होते और सवर्णता के अभाव में दीर्घ सन्धि न हो पाती, 'अ' का प्रक्रिया दशा में 'विवृत' आभ्यन्तर प्रयत्न मानना पड़ा और इसलिए 'संवृत' विधायक सूत्र 'अ अ' को सभी सूत्रों के प्रति असिद्ध घोषित करना पड़ा। निष्कर्ष यह हुआ, कि सभी सूत्रों के कार्य तक ह्रस्व 'अ' विवृत और केवल उच्चारण काल सन्धि आदि से पूर्व और पश्चात् संवृत रहता है।

स्पृष्ट का अर्थ है उच्चारणकाल में जिह्वा उन वर्णों के उच्चारण-स्थानों का स्पर्श करती है, अतः स्पृष्ट संज्ञा अन्वर्थ है। 'ईषत्स्पृष्ट' में थोड़ा सा स्पर्श

होता है, जैसाकि स्वल्पार्थ 'ईषत्' शब्द से ही स्पष्ट है। 'ईषद्विवृत' का अर्थ है, उच्चारण-काल में मुख का स्वल्प उद्घाटन। 'विवृत' का अर्थ है उच्चारणकाल में मुख का पूर्णतया उद्घाटन। 'संवृत' का अर्थ है, पिहित (बन्द) इस प्रयत्न में उच्चारण काल में मुख वन्द रहता है।

अब यथाप्रसङ्ग बाह्य-प्रयत्न का उल्लेख भी समीचीन होगा।

वाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा—विकारः संवारः श्वासो नादो घोपोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवाराः श्वास अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौशलश्च महाप्राणाः।

हिन्दी अनुवाद—बाह्यप्रयत्न के एकादश भेद (११) होते हैं—विवार सवार, श्वास, नाद, घोप, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण उदात, अनुदात्त और स्वरित। 'खर' प्रत्याहार के वर्णों के बाह्यप्रयत्न विवार, श्वास और अघोष हैं, 'हश्'—प्रत्याहार के वर्णों के बाह्यप्रयत्न संवार, नाद और घोष हैं, वर्गों के प्रथम, तृतीय, पंञ्चम और 'यण्' का बाह्यप्रयत्न 'अल्पप्राण' है और इसी प्रकार वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों तथा 'शल्' का प्रयत्न महाप्राण है।

व्याख्या—इन एकादश विध बाह्य-प्रयत्नों में से 'विवार' का अर्थ है, उच्चारणकाल में मुख का खुला रहना। जिन वर्णों के उच्चारण के समय मुख खुला रहता है, उनका वाह्य-प्रयत्न 'विवार' होता है। इसके विपरीत जिनके उच्चारण में मुख वन्द रहता है उनका वाह्य-प्रयत्न 'संवार' होता है। जिन वर्णों के उच्चारण में श्वास चलता रहता है, उनका वाह्यप्रयत्न 'श्वास' होता है और जिन वर्णों के उच्चारण में 'घोष' (एक विशेष प्रकार का गुञ्जन या ध्वनि) होता है, उनका वाह्यप्रयत्न 'घोप' होता है। इसके विपरीत जिनके उच्चारण में विशेप 'घोप' नहीं होता, उनका वाह्यप्रयत्न 'अघोष' होता है। इसी प्रकार जिन वर्णों के उच्चारण में 'प्राण' (प्राणवायु) का अल्प उपयोग होता है उनका बाह्यप्रयत्न 'अल्पप्राण' और जिनके उच्चारण में 'प्राण' का अत्यधिक उपयोग होता है, उनका बाह्यप्रयत्न 'महाप्राण' होता है। इस प्रकार

'खर्' प्रत्याहार में परिगणित वर्णों—ख्, फ्, छ्, ठ्, थ् च्, ट्, त्, क्, प्, श् ष्, स् के बाह्यप्रयत्न विवार, श्वास अघोष, 'हश्' प्रत्याहार में उच्चरित वर्णों—ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ् ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, के बाह्यप्रयत्न संवार, नाद और घोष होंगे। वर्गों के प्रथम, तृतीय और पञ्चम तथा यण् अर्थात् क्, च्, ट्, त्, प्, ग्, ज्, ड्, द्, ब्, ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, तथा य्, र्, ल् का वाह्यप्रयत्न 'अल्पप्राण', वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ, वर्णों और शल् अर्थात् ख्, छ्, ठ्, थ्, फ्, घ्, झ्, ढ्, ध्, भ्, श्, ष्, स्, ह्, का वाह्यप्रयत्न 'महाप्राण' होता है। यद्यपि यहाँ वृत्तिकार ने स्वरों के बाह्यप्रयत्न के विषय में मौन हैं। तथापि उनके बाह्यप्रयत्न स्वरूप "ऊकालोऽज्झ्-स्व" आदि सूत्र में पूर्णवर्णित उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का ग्रहण करना चाहिए।

(वर्णों का वर्गीकरण)

कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तः स्थाः शल् ऊष्मणाः। अचः स्वराः। '⌣क ⌣' ख इति कखाभ्यां प्रागर्द्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। '⌣प ⌣फ' इति पफाभ्यां प्रागर्द्धविसर्ग सदृश उपध्मानीयः। 'अं अः' इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

हिन्दी, अनुवाद—'क से म' तक के वर्णों को 'स्पर्श' यणों (य्, र्, ल्, व्) के 'अन्तःस्थ' 'शल्' प्रत्याहार में परिगणित 'श्, ष्, स्, और ह्' को 'ऊष्म', अचों को स्वर, '⌣क⌣ख' इत्यादि क, ख से पूर्व अर्ध (आधे) विसर्ग के समान ध्वनि को 'जिह्वामूलीय,' '⌣प⌣फ'-इत्यादि प, फ से पूर्व अर्ध-विसर्ग के ध्वनि को 'उपध्मानीय,' 'अं अः'—इत्यादि अच् के परवर्ती (बाद आने वाले) वर्णों को क्रमशः 'अनुस्वार' और 'विसर्ग' कहते हैं।

विशेष—यदि यह वृत्ति आभ्यन्तर प्रयत्न के साथ होती, तो पाठकों को अधिक सुविधा, वैज्ञानिकता तथा क्रमबद्धता होती। प्रकृत सूत्र के स्पष्ट अव-बोध में निम्नाङ्कित तालिकाएं अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकती हैं—

अभ्यान्तर प्रयत्न बाह्य प्रयत्न तथा 'स्पर्श'—आदि संज्ञाबोधक चक्र

अभ्यान्तर प्रयत्न	स्पृष्ट				ईषत् स्पष्ट	ईषद्विवृत्त		विवृत	उपध्मानीय	संवृत	
१. संज्ञा	२. स्पर्श				अंतस्थ	ऊष्म		स्वर		उपध्मानीय ⌣प⌣फ	अनुस्वर विसर्ग अं × अः
	क्	ख्	ग् ङ्	घ्				अ ए	⌢क	ह्रस्व	
	च्	छ्	ज् ञ	झ	य्	श्	ह्	इ ओ		'अ' वर्ण केवल	
वर्ण	ट्	ठ्	ड् ण्	ढ्	व्	ष्		उ ऐ	⌢ख	प्रयोग (उच्चारण	
	त्	थ्	द् न्	ध्	र्	स्		ऋ औ		में	
	प्	फ्	ब् म्	भ्	ल्			ऌ			

१	२				३	४		५	६
बाह्य प्रयत्न	अल्प-प्राण विवार श्वास अघोष	महा-प्राण विवार श्वास अघोष	अल्प-प्राण संवार नाद घोष	महा-प्राण संवार नाद घोष	अल्प-प्राण संवार नाद घोष	महा-प्राण विवार श्वास अघोष	महा-प्राण संवार नाद घोष	उदात्त अनुदात्त स्वरित	

११. अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः १।१।६६

अण् (प्र० ए०) उदित् (प्र० ए०) सवर्णस्य (ष० ए०) च (अ०) अप्रत्ययः (प्र० ए०) (अप्रत्ययः अण् उदित् च सवर्णस्य

अर्थात्-अप्रत्ययभूत अण् और उदित् की भी सवर्णसंज्ञा होती है। >प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः। अविधीयमानोऽणुदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण णकारेण। कुचुटुतुपु एते उदितः। तदेवम्-अ इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्। अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा।

हिन्दी अनुवाद—जो प्रतीयमान (विधीयमान) होता है (जिसका विधान किया जाता है), उसे 'प्रत्यय' कहते हैं। अविधीयमान (अप्रत्ययभूत-न प्रत्ययः इति अप्रत्ययः अण् और उदित् जिनके उकार की इत्संज्ञा हो) (अपने) सवर्णों के बोधक होते हैं। मात्र यहीं (केवल इसी सूत्र में) 'अण्' प्रत्याहार को परवर्ती णकार (लण् के णकार) से (निर्मित) (तक) (समझना चाहिए)। इन कु चु टु तु पु (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग) को 'उदित' कहते हैं। तो इस प्रकार 'अ' (अपने) अठ्ठारह (भेदों) की संज्ञा (बोधक) है। उसी प्रकार इकार और उकार भी (अपने अठ्ठारह भेदों का बोधक है)। ऋकार (अपने) तीस (भेदों) (ऋ-१८+लृ-१२=३०) की संज्ञा है। इसी प्रकार लृकार भी (अपने ३० भेदों का बोधक है) 'एच्' (ए, ओ, ऐ, औ) बारह का (बोधक है)। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य्, व्, और ल् दो प्रकार के होते हैं। अतः अननुनासिक वे (य्, व् और ल्) दो-दो (य-यँ, व-वँ ल-लँ) के बोधक (संज्ञक) होते हैं।

व्याख्या—जो विधेय (विधीयमान) होता है, उसे 'प्रत्यय' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसके विपरीत जो अविधीयमान होता है, उसे 'अप्रत्यय' कहते हैं। अप्रत्ययभूत 'अण्' और उदित् अपने सवर्णों के भी बोधक होते हैं। सूत्र में प्रयुक्त अप्रत्ययः पद 'अण्' का ही विशेषण है, अतः अविधीयमान (अप्रत्ययभूत) 'अण्' ही सवर्ण संज्ञक होगा, प्रत्ययभूत 'अण्' नहीं, किन्तु उदित् विधीयमानता और अविधीयमानता रूप दोनों स्थितियों में सवर्ण संज्ञक होगा।

उदाहरणार्थ—'जघटे और जगार' आदि प्रयोगों में 'कुहोश्चुः (७।४।६२) सूत्र से 'ग्' के स्थान पर 'ज' हो जाता है, किन्तु शिवादिभ्योऽण् (४।१।११२) में पठित 'अण्' प्रत्यय है, अतः यह सवर्ण का बोधक नहीं है, इसी प्रकार 'इदम्+तस्' इस स्थिति में 'इदम इश् (५।३।३)' सूत्र से सम्पूर्ण 'इदम्' के स्थान में ह्रस्व इकार होगा, उसका सवर्ण त्रिमात्रिक ईकार नहीं। जहाँ 'अण्' अविधीयमान (अप्रत्यय) है, वहाँ सवर्ण का बोधक है, जैसे 'इको यणचि (६।१।७७)' सूत्र में पठित 'इक्' सवर्ण 'ईकार' का भी बोधक है, यदि 'इक्' सवर्णबोधक न होता, तो 'सुधी+उपास्यः'- इस स्थिति में धकारोत्तरवर्ती 'ईकार' के स्थान पर यणादेश न हो पाता, क्योंकि 'इक्' में दीर्घ ईकार का पाठ नहीं किया गया है।

इसी सूत्र में अण् का अभिप्राय परवर्ती णकार अर्थात् 'लण्' के णकार तक समझा जायगा, अन्यत्र पूर्ववर्ती णकार अर्थात् 'अइउण्' के णकार मात्र तक सीमित रहेगा। महर्षि पाणिनि ने इसका संकेत 'ऋत उत् (६।१।१११)' सूत्र में किया है। महर्षि पतञ्जलि ने भी केवल इसी सूत्र में 'लण्' के णकार तक 'अण्' की सीमा निर्धारित की है, और अन्यत्र 'अइउण्' तक ही। इस प्रकार 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः'–सूत्र में पठित 'अण्' प्रत्याहार 'सभी स्वरों ह्, य्, व्, र् और ल् का बोधक है, और ये सभी वर्ण यदि प्रत्यय नहीं हैं, तो अपने सवर्णों के भी बोधक होंगे। अतः प्रकृत सूत्र की वृति से स्पष्ट है, कि इस सूत्र में 'अण्' परवर्ती णकार तक विस्तृत है, अतः कहा भी है— **"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्"**। भाष्यकार का व्याख्यान है, कि 'अण्' प्रत्याहार 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय'–सूत्र में तो परवर्ती 'लण्' के णकार तक विस्तृत रहेगा और सर्वत्र पूर्ववर्ती णकार 'अइउण्' के णकार तक ही सीमित रहेगा जबकि 'इण्' सर्वत्र परवर्ती णकार तक विस्तृत रहेगा—

"परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
तेऽऋऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥"

कु, चु, टु, तु और पु की उदित संज्ञा होती है, क्योंकि इनमें उत् (उ) की इत्संज्ञा होती है। 'कु' का अर्थ है, कवर्ग, 'चु' का चवर्ग, 'टु' का टवर्ग, 'तु' का तवर्ग और 'पु' का पवर्ग। इस प्रकार ये अपने सवर्ण के बोधक हैं अर्थात् 'कु' कहने से सम्पूर्ण 'कवर्ग—क्, ख्, ग्, घ् और ङ्' का बोध होगा। इसी प्रकार 'चु, टु, तु और पु' भी अपने सवर्णों के बोधक होंगे।

इस प्रकार 'अ, इ, उ' अपने अठ्ठारह भेदों के बोधक, 'ऋ और ऌ अपने तीस (ऋ-अठ्ठारह + ऌ-बारह) भेदों के बोधक, 'ए, ऐ, ओ, औ' अपने बारह सवर्णों के बोधक होंगे। 'य, व ल' क्रमशः अनुनासिक और अननुनासिक भेद से प्रत्येक अपने दो-दो (य-यँ, व-वँ, ल-लँ) के बोधक होंगे।

१२. परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९

परः (प्र० ए०) सन्निकर्षः (प्र० ए०) संहिता (प्र० ए०)

[अत्यधिक सन्निकर्ष (सामीप्य) को 'संहिता' कहते हैं।] वर्णाना-मतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—वर्णों के अतिशय सामीप्य को 'संहिता' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। अतिशयित सन्निधि (सन्निकर्ष या सामीप्य) का अर्थ है वर्णों का नैकट्य। अत्यधिक नैकट्य के कारण दो पृथग् वर्ण सहजभाव से एक में मिलकर उच्चरित होने लगते हैं, अतः इसी विकृति को 'संधि या संहिता' कहते हैं। अतिशय नैकट्य (सामीप्य) का अर्थ है, तृतीय वर्ण के व्यवधान का राहित्य (अभाव)।

उदाहरणार्थ—'सुधी + उपास्यः' इस स्थिति में धकारोत्तरवर्ती ईकार और उपास्यः के उकार में अतिशय सामीप्य है अर्थात् तृतीय वर्ण के व्यवधान का अभाव है, अतः सहजभावेन इनका संयुक्त उच्चारण होने लगता है, और दोनों विकृत होकर ई' के स्थान पर य्' आदेश करके 'यु' रूप संयुक्त रूप में उच्चरित होने लगते हैं फलतः सुधी + उपास्यः' के स्थान पर सुध्युपास्यः उच्चरित होने लगता है। इस प्रकार धकारोत्तरवर्ती 'ईकार' और उपास्यः के 'उकार' के अतिशय सामीप्य को व्याकरण की शब्दावली में 'संहिता' कहेंगे। यह संहिता ऐच्छिक और अनिवार्य दोनों होती है—

"संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥"

इस प्रकार स्पष्ट है, कि एक ही पद के प्रकृति-प्रत्यय रूप अङ्गों में, जैसे-पवनम्, धातु और उपसर्ग के मध्य, जैसे—'प्रत्यागच्छति' ,समास में, जैसे—"रामानन्दः' आदि प्रयोगों में संहिता (सन्धि) अनिवार्य है, किन्तु वाक्य विवक्षाधीन है। परवर्ती काल में तो वाक्य में भी सन्धि अनिवार्य होती गयी, अन्यथा 'विसन्धि'—दोष होने लगा—"न सँहिता विवक्षामीत्यसन्धानं प्रदेषु यत् तत् विसन्धीति निर्दिष्टम्……।"

१३. हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७

हल—(प्र० ब०) अनन्तराः (प्र० ब०) संयोगः (प्र० ए०)

[अनन्तराः हलाः संयोगः—(स्वरों के; व्यवधान से रहित व्यञ्जनों की 'संयोग' संज्ञा होती है ।]

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः।

हिन्दी अनुवाद—स्वरों से अव्यवहित (स्वरों के व्यवधान से रहित) हल् (व्यञ्जन) वर्णों की 'संयोग' संज्ञा होती है।

व्याख्या—'हल्'-प्रत्याहार 'हयवरट्' से प्रारम्भ होकर 'हल्' में समाप्त होता है, अतः इसमें समस्त व्यञ्जनों की परिगणना की जाती है। अनन्तराः—अन्तरं व्यवधानमस्मिन्नस्ति इति अन्तरः व्यवहितः इति भावः, न अन्तरः इति अनन्तरः बहुवचने अनन्तराः। इस प्रकार 'अनन्तराः' का अर्थ है, व्यवधानरहित या अव्यवहित। अब प्रश्न उठता है, कि किससे अव्यवहित या किसके व्यवधान से रहित ? स्पष्ट है, कि स्वरों से अव्यवहित या स्वरों के व्यवधान से रहित। इस प्रकार सूत्र का अर्थ हुआ, स्वरों के व्यवधान से रहित व्यञ्जनों की 'संयोग' संज्ञा होती है। उदाहरणार्थ—'कार्त्स्न्यं'—पद में 'र्, त्, स्, न् और और य् व्यञ्जन वर्णों में यतः स्वर का व्यवधान नहीं है. अतः इनकी 'संयोग' संज्ञा होगी। यहीं ध्यातव्य है, कि 'क् और त्' के मध्य 'आ' स्वर का व्यवधान होने से इनकी संयोग संज्ञा नहीं हुई।

१४. सुप्तिङन्तं पदम् १।१।१४

सुप्तिङन्तम् (प्र० ए० पदम् (प्र० ए०)

(सुबन्त और तिङन्त पद हैं।)

सुबन्त तिङन्त च पदसंज्ञं स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—सुबन्त और तिङन्त पदसंज्ञक होते हैं (सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा होती है)।

व्याख्या—"स्वौजसमौट्छष्टाभ्यां भिस् ङेभ्यां भ्यस्ङसि भ्यांभ्यस्ङसोसाम्-ङ्योस्सुप् (४।१।२)"—सूत्र में पठित संज्ञा (कारक) के इक्कीस विभक्ति-प्रत्ययों को 'सुप्' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। 'सुप्' जिनके अन्त में होता है, उन्हें सुबन्त कहते हैं—सुप्+अन्त—सुबन्त—सुप अन्ते यस्य तत् सुबन्तम्। सुबन्त की पदसंज्ञा होती है। यथा—राम+सु='रामः' यतः सुबन्त है, अतः प्रकृतसूत्र से इसकी पद संज्ञा होगी। प्रकृत सूत्र प्रतिपादिकों की पदसंज्ञा का अप्रत्यक्षतः निषेध करता है।

इसी प्रकार 'तिप्तस्झि—सिप्थस्थ-मिब्वस्मस्—ताऽऽतां झ—थासाऽऽथांध्वम्—इड्वहिमहिङ् (३।४।७८) सूत्र में पठित अट्ठारह धातुप्रत्ययों को 'तिङ्' की अभिधा से अभिहित करते हैं। तिङ् जिनके अन्त में होते हैं, उन्हें 'तिङन्त' कहते हैं—तिङ्+अन्त=तिङन्त—तिङ अन्ते यस्य तत् तिङन्तम्। तिङन्त पद्संज्ञक होता है। उदाहरणार्थ—(गम्+तिप्='गच्छति' तथा) सेव्+त='सेवते' यतः तिङन्त हैं, अतः प्रकृत सूत्र से इनकी पदसंज्ञा होगी। यह सूत्र धातुओं की पदसंज्ञा का अप्रत्यक्ष निषेध करता है। पद का ही प्रयोग भाषा में होता है, प्रतिपादिकों और धातुओं का नहीं—"अपदं न प्रयुञ्जीत्।" निम्नांकित तालिकायें सुप् तथा तिङ् के स्पष्ट अवबोध में सहायक सिद्ध होंगी :—

सुप्प्रत्ययबोधक कोष्ठक

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु	औ	जस्
द्वितीया	अम्	औट्	शस्
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङे०	भ्याम्	भ्यस्
पञ्चमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्
सम्बोधन	सु	औ	जस्

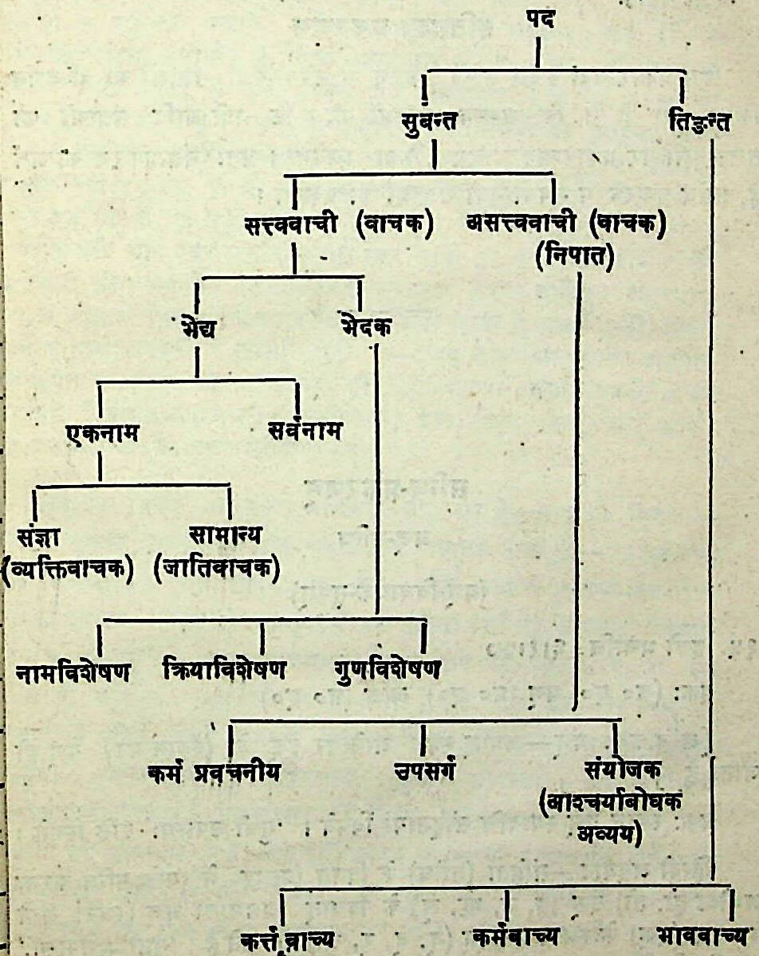
तिङन्त प्रत्यय बोधक कोष्ठक—परस्मैपद

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम	तिप्	तस्	झि
मध्यम	सिप्	थस्	थ
उत्तम	मिप्	वस्	मस्

आत्मनेपद

प्रथम	त	आताम्	झ
मध्यम	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम	इड्	वहि	महिङ्

वैयाकरणों में प्रचलित पद का एक अन्य विभाग अधोऽअंकित कोष्ठक में प्रस्तुत किया जा रहा है :—


पद
सुबन्त
तिङन्त
सत्त्ववाची (वाचक)
असत्त्ववाची (वाचक)
(निपात)
भेद्य
भेदक
एकनाम
सर्वनाम
संज्ञा
(व्यक्तिवाचक)
सामान्य
(जातिवाचक)
नामविशेषण
क्रियाविशेषण
गुणविशेषण
कर्म प्रवचनीय
उपसर्ग
संयोजक
(आश्चर्यबोधक
अव्यय)
कर्त्तृवाच्य
कर्मवाच्य
भाववाच्य

वस्तुतः पाणिनी के पूर्वोक्त सुबन्त और तिङन्त में इस विभाग का समावेश किया जा सकता है।

इतिसंज्ञा प्रकरणम्

इस प्रकार यहां केवल सन्धि प्रकरण में उपयोगिनी संज्ञाओं का ही वर्णन किया गया है, न कि सम्पूर्ण संज्ञाओं का। टि नदी आदि संज्ञाओं का तत्तत्स्थलों पर यथावश्यकता वर्णन किया जायेगा। अतः संज्ञाप्रकरण का अर्थ है, सन्धि प्रकरण में उपयोगिनी संज्ञाओं का प्रकरण।

सन्धि-प्रकरणम्

अच्-सन्धि

(यण्-विधायक-सूत्रम्)

१५. इको यणचि ६।१।७७

इकः (ष० ए०) यण् (प्र० ए०) अचि (स० ए०)

[अचि इकः यण्—अर्थात् स्वर आने पर इक् के (स्थान पर) यण् हो जाता है।]

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये। 'सुधी उपास्यः' इति स्थिते

हिन्दी अनुवाद—संहिता (सन्धि) के विषय (प्रसङ्ग) में (यदि सन्धि करना अभीष्ट हो, तो) इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के पश्चात् (असमान) अच् (स्वर) आने पर उस (इक्) के स्थान पर यण् (य्, व्, र्, ल्,) हो जाते हैं। 'सुधी + उपास्यः' इस स्थिति में—

व्याख्या—प्रकृत सूत्र में तीन पद हैं—'इकः, यण् और अचि'। 'इकः'–पद
प्रातिपदिक के षष्ठी एकवचन का रूप है, अतः 'षष्ठी स्थाने योगा'–इस
भाषा के बल पर 'स्थाने' अर्थ का अध्याहार हो जायगा। अतः वृत्ति में
ने' पद जोड़ना समीचीन है। 'इक्'–प्रत्याहार में 'इ, उ, ऋ, लृ' वर्णों की
गणना की जाती है इसी प्रकार 'यण्'–प्रत्याहार में 'य्, व्, र्, ल्' का
हार किया जाता है। 'अच्'–प्रत्याहार में सभी स्वरों का समावेश किया
है। 'अचि' सप्तमी एकवचन का रूप है। इस प्रकार सूत्र का पदलभ्य
हुआ यदि इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के पश्चात् स्वर आए और सन्धि अभीष्ट
तो यण् (य्, व्, र्, ल्) आदेश हो जाता है। यहाँ स्वर (अच्) पद चिन्त्य
क्योंकि यदि कोई स्वर अर्थात् समान स्वर आयें, तो अनभीष्ट 'दीर्घ सन्धि'
लगेगी, अतः अच् से 'असमान स्वर' का ग्रहण करना चाहिए। व्याकरण-
त्र के अनुसार जिसके स्थान पर विधान किया जाता है, उसमें षष्ठी, विधेय
थमा तथा परवर्ती में सप्तमी होती है—"इह शास्त्रे या षष्ठी अनियत-
ा श्रूयते सा स्थाने योगनिमित्तभूते सति प्रतिपन्तव्या" तथा "असति बाधके
माया विधेयविभक्तित्वम्।" (काशिका) अतः 'इकः स्थाने यण् अचि"
द प्रयोग समीचीन तथा शास्त्रसम्मत हैं।

'संहितायां विषये' का संकेत अधिकार की ओर है, साथ ही विवक्षा के
रिक्त एकपद, धातूपसर्ग और समास गत नित्यता से भी है—"संहितैकपदे
ा" इत्यादि। इस प्रकार सूत्र का स्पष्ट भावार्थ हुआ—विवक्षा के
रिक्त एकपद, समास और धातूपसर्ग रूप संहिता (सन्धि) के प्रसङ्ग (विषय)
इ, उ, ऋ, लृ' के पश्चात् असमान स्वर आने पर 'य्, व्, र्, ल्' रूप
देश हो जायगा। यहाँ यह स्पष्ट करना शेष है, कि 'इक् और अच्'—
हारों में पठित वर्णों से उनके भेदोपभेदों का भी बोध 'अणुदित्सवर्णस्य
त्ययः' सूत्र से होगा। उदाहरणार्थ—'सुधी + उपास्यः'—इस स्थिति में
रोत्तरवर्ती 'उकार,' धकारोत्तरवर्ती 'ईकार' और उपास्यः के 'उकार' रूप
–तीन इक् प्राप्त हो रहे हैं, और इसी प्रकार 'उ, ई, उ' के साथ पकारोत्तरवर्ती
कार' और यकारोत्तरवर्ती 'अकार' रूप पाँच अच् भी मिल रहे हैं। अतः
उठता है, कि किस 'इक्' के स्थान पर किस (किन) अच् के परत्वात्वर्ती
पर यणादेश किया जाय? इसका समाधान निम्नाङ्कित आगामी सूत्र में
त किया गया है—

१६. तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १।१।६६

तस्मिन् (स० ए०) इति (अव्यय) निर्दिष्टे (स० ए०) पूर्वस्य (ष० ए०)

['तस्मिन्' (सप्तम्यन्त) पद से निर्दिष्ट (कार्य) पूर्व का (पूर्ववर्ती के स्थ पर; होता है।]

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्

हिन्दी अनुवाद—सप्तमीनिर्देशपूर्वक विधीयमान (क्रियमाण) कार्य अन्य के व्यवधान से रहित पूर्ववर्ती (वर्ण) का (के स्थान पर) समझना (कर चाहिए।

व्याख्या—प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त 'तस्मिन्'–पद सप्तम्यन्त पद का प्रत है। सप्तमीनिर्देशपूर्वक (सप्तम्यन्त पद से निर्दिष्ट) विधीयमान (क्रियमा कार्य वर्णान्तर के व्यवधान से रहित (अव्यवहित) दोनों वर्णों में से पूर्व वर्ण के स्थान पर होना चाहिए। पूर्ववर्ती सूत्र 'इकोयणचि' में 'अचि' सप्तम पद से निर्दिष्ट विधीयमान कार्य यणादेश अन्यवर्ण के व्यवधान से रहित वर्ती वर्ण के स्थान पर किया जायगा। इस प्रकार 'सुधी+उपास्यः'— स्थिति में विधेय कार्य यणादेश अन्यवर्ण के व्यवधान से रहित वर्णों धकारो वर्ती 'ईकार' और उपास्यः के 'उकार' में से पूर्ववर्ती वर्ण अर्थात् 'ईकार स्थान पर ही होगा, अन्य इकों सकारोत्तर वर्ती 'उकार' और उपास्य 'उकार' के स्थान पर नहीं, क्योंकि उनके मध्य क्रमशः धकार और पकार व्यवधान है।

इस प्रकार अब निश्चित हो गया, कि यणादेश धकारोत्तरवर्ती 'ईका स्थान पर ही होगा, किन्तु अब पुनः सन्देह होता है, कि धकारोत्तरवर्ती 'ई के स्थान पर 'य्, व्, र्, ल्' रूप यण्चतुष्टय में से कौन सा आदेश जाय ? इसके समाधानार्थ निम्नाङ्कित सूत्र प्रस्तोतव्य है—

१७. स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०

स्थाने (स० ए०) अन्तरतमः (प्र० ए०)

[(आदेश के लिए) स्थान होने पर अन्तरतम (आदेश) होता है।]

प्रसंगे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। सु ध् य् उपास्य इति जाते—

हिन्दी अनुवाद—(एकाधिक आदेश-प्राप्ति के) प्रसङ्ग में सदृशतम अ होता है (इस प्रकार) सु ध् य्+उपास्यः इस स्थिति में—

व्याख्या—जब किसी स्थानी के स्थान पर एक साथ अनेक आदेशों की प्राप्ति होने लगती है तो उनमें से सदृशतम आदेश ही विहित (ग्राह्य) होता है। वस्तुतः सादृश्य चार प्रकार का होता है—

१—स्थानगत, २—अर्थगत, ३—गुणगत और ४—प्रमाणगत—

"कुतश्च शब्दस्यान्तर्यम्, स्थानार्थगुणप्रमाणतः" (काशिका)

उपर्युक्त इन चतुर्विधि सादृश्यों में 'स्थानगत' सादृश्य ही सदृशतम (अन्तरतम) माना जाता है और उसी का विधान किया जाता है—"यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं वलीयः।"

(१) स्थानकृत—स्थानकृत सादृश्य का अभिप्राय है स्थानी और आदेश के उच्चारण-स्थान में समनाता (एकरूपता)। उदाहरणार्थ—'मध्वरिः'—प्रयोग में धकारोत्तरवर्ती 'उकार' रूप स्थानी और उसके स्थान पर होने वाले 'वकार' में स्थानगत साम्य है, क्योंकि दोनों का उच्चारण स्थान 'ओष्ठ' है।

(२) अर्थकृत—अर्थकृत सादृश्य का अभिप्राय है, स्थायी और आदेश में अर्थगत सादृश्य (साम्य)। उदाहरणार्थ—'वतण्डी चासौ युवतिश्चेति' विग्रह में 'वातण्ड्ययुवतिः' रूप ही बनेगा, 'वातण्डयुवतिः' नहीं। स्पष्ट है, कि एकार्थवाची के स्थान पर एकार्थवाची, द्वयर्थवाची के स्थान पर द्वयर्थवाची और बह्वर्थवाची के स्थान पर बह्वर्थवाची आदेश होता है, यथा—'भव तस्'='भवताम्' में 'तस्थस्थमिपां—०' से द्वयर्थवाची 'तस्' के स्थान पर द्वयर्थवाची 'ताम्' ही होता है।

(३) गुणकृत—गुणकृत आन्तर्य (सादृश्य) का अर्थ है, स्थानी और आदेश में गुणगत साम्य। जैसे—'वाक्+हरि=वाग्घरिः'—प्रयोग में घोषवान, नादवान, महाप्राण तथा कण्ठ्य 'हकार' रूप स्थानी के स्थान पर समानगुणी 'घकार' आदेश गुणकृत सादृश्य का सुन्दर उदाहरण है।

(४) प्रमाणकृत—प्रमाणकृत सादृश्य का अर्थ है स्थानी और आदेश में प्रमाण (मात्रा) जन्यसाम्य। जैसे—अमुम्, अमू, अमून् आदि प्रयोगों में 'अदसोऽसेदादुदो मः (पा० ८।२।८०)' सूत्र से एकमात्रिक ह्रस्व 'उकार' के स्थान पर एकमात्रिक ह्रस्व 'उकार' और द्विमात्रिक दीर्घ 'ऊकार' के स्थान पर द्विमात्रिक दीर्घ 'ऊकार' आदेश प्रमाणगत आन्तर्य के सुन्दर निदर्शन हैं।

जैसा कि पहले ही काशिका वृत्ति के उद्धरण से स्पष्ट हो गया है कि चतुर्विध आन्तर्यों में स्थानगत आन्तर्य बलीय होता है। इसी तथ्य का स... महर्षि पाणिनि ने प्रकृत सूत्र में किया है। अब प्रकृत सूत्र की सहायता... 'सुधी+उपास्यः' के धकारोत्तरवर्ती 'ईकार' के स्थान पर प्राप्त यण्-चतु... में से सदृशतम का निर्णय करना है। यतः 'ई' का उच्चारण स्थान 'इचुयश... तालु' के अनुसार 'तालु' है, अतः इन यणों में जिसका उच्चारण स्थान 'ता... होगा उसी का आदेश के रूप में विधान किया जायगा। यतः 'य्' का उच्चा... स्थान 'तालु' है, 'व्' का दन्तोष्ठ', 'र्' का उच्चारण स्थान 'मूर्धा' और ... का उच्चारण स्थान 'दन्त' है, अतः स्पष्ट है, कि 'य' का उच्चारण स... 'तालु' है, अतः 'तालु'-स्थानीय 'ईकार' के स्थान पर तालुस्थानीय 'यकार' ही सदृशतम (अन्तरतम) मानकर आदेश किया जायगा।

अतः धकारोत्तरवर्ती 'ईकार' के स्थान पर 'यकार' आदेश करने पर—

'सु ध् य् उपास्यः'—इस स्थिति में—

यतः सुद्ध्युपास्यः' और 'सुध्युपास्यः' दो रूप बनते हैं अतः प्रथम ... 'सुद्ध्युपास्यः' की सिद्धि के लिए निम्नलिखित आगामी सूत्र की व्यव... की गयी—

१८. अनचि च ८।४।४७

अनचि (स० ए०) च (अ०)

(और बाद में स्वर न आने पर•••)

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वेचि। इति धकारस्य द्वित्वेन सु ध् ध... उपास्य इति जाते—

हिन्दी अनुवाद—स्वरों (अच्) से परवर्ती यर् का विकल्प से द्वित्व हो... किन्तु (यर् के) पश्चात् स्वर आने पर (द्वित्व) नहीं (होता)। इस प्र... धकार का वैकल्पिक द्वित्व करने पर 'सु ध्ध्य् उपास्यः'—इस स्थिति में—

व्याख्या—'सु ध् य् उपास्यः—इस स्थिति में सकारोत्तरवर्ती उकार ... से परवर्ती धकार 'यर्' का विकल्प से इसलिए द्वित्व हो जायगा, क्योंकि उ... बाद यकार 'यण्' व्यञ्जन है, स्वर नहीं। इस प्रकार 'ध्' का वैकल्पिक द्वि... करने पर 'सु ध् ध् य् उपास्यः'—यह स्थिति प्राप्त होती है, किन्तु य... यकार यण् व्यञ्जन न होता, उसके स्थान पर कोई स्वर होता, तो द्वित्व

होता, जैसा कि 'अनचि' पद से ही स्पष्ट है—'न अच् अनच् तस्मिन् अनचि'। 'अनचि च' सूत्र में 'प्रसज्य प्रतिषेध' मानना चाहिए और इस प्रकार 'अनचि' का अर्थ 'हलि' नहीं होगा। वैकल्पिक द्वित्व का अर्थ है, विवक्षानुसार दोनों प्रयोग बनेंगे। इसीलिए वृत्तिकार ने 'वा' शब्द का प्रयोग किया है, सम्प्रति 'सु घ् घ् य् उपास्य:' —इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१६. झलां जश् झशि ८।४।५३

झलां (ष० व०) जश् (प्र० ए०) झशि (स० ए०)

(यदि बाद में 'झश्'—प्रत्याहार के वर्ण हों, तो झल् के स्थान पर जश् हो जाता है।)

स्पष्टम्। इति पूर्वधकारस्य दकार:।

हिन्दी अनुवाद—(सूत्र का अर्थ) स्पष्ट है। इस प्रकार पूर्व 'धकार' के स्थान पर 'दकार' हो जायगा।

व्याख्या—प्रस्तुत सूत्र स्वयं में परिपूर्ण अत एव स्पष्ट है। सरल तथा स्पष्ट सूत्रों के सम्मुख 'स्पष्टम्' शब्द लिखकर वृत्तिकार अनावश्यक व्याख्या करना उचित नहीं मानते। प्रकृत सूत्र का मन्तव्य है, कि यदि 'झल'—प्रत्याहार (झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, ह्, अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, और चतुर्थ वर्णों तथा श्, ष् स् तथा ह्) के पश्चात् 'झश्' प्रत्याहार (झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग् ड्, द् अर्थात् तृतीय तथा चतुर्थ वर्णों) के आने पर 'झल्' के स्थान पर जश् (ज्, ब्, ग्, ड्, द्—तृतीय वर्ण) हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—'सु ध् ध् य् उपास्य:' इस स्थिति में प्रथम धकार (झल्) के पश्चात् द्वितीय धकार (झश्) के आने के कारण प्रकृत सूत्र से पूर्ववर्ती धकार के स्थान पर 'जश्' आदेश हो जायगा, यतः जश् पाँच हैं, अतः 'स्थानेऽन्तरतम:' सूत्र से दन्त्य धकार के स्थान पर दन्त्य दकार ही होगा, इस प्रकार 'सु द् ध् य् उपास्य:' यह स्थिति प्राप्त हुयी। सम्प्रति अग्रिम सूत्र की प्रवृत्ति करने पर—

२०. संयोगान्तस्य लोप: ८।२।२३

(संयोगान्तस्य (ष० ए०) लोप: (प्र० ए०)

(संयोगान्त का लोप हो जाता है।)

संयोगान्तं यत्पदं तस्य लोप: स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—जो पद संयोगान्त है। जिस पद के अन्त में संयोग होता है) उसका लोप हो जाता है।

व्याख्या—प्रकृत सूत्र संयोगान्त के लोप का विधान करता है। 'संयोगान्त' का अर्थ है, संयोग जिसके अन्त में हो—संयोगः अन्ते यस्य सः संयोगान्तः। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, कि स्वरों के व्यवधान से रहित व्यञ्जनों की संयोग संज्ञा होती है—'हलोऽनन्तराः संयोगः'। इस प्रकार 'सु द् ध् य् उपास्यः' इसी स्थिति में 'सु द् ध् य्'—अंश संयोगान्त है, क्योंकि इसके अन्त में द्, ध् और य् संयोगवर्ण उपस्थित हैं। अतः प्रकृत सूत्र से इस अंश का लोप होने लगता है, अतः अग्रिम सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

कुछ पाठों में इस सूत्र की वृत्ति में 'तस्य' के स्थान पर 'तदन्तस्य' पाठभेद मिलता है, जिसके अनुसार अर्थ होता है, संयोगान्त के अन्त (अन्तिम वर्ण) का लोप हो जाता है, किन्तु यह वृत्ति उचित नहीं है, क्योंकि सूत्र में सम्पूर्ण संयोगान्त के लोप की व्यवस्था है न कि उसके अन्त की। यह अर्थ तो आगामी सूत्र 'अलोऽन्त्स्य' से प्राप्त होता है। उक्त वृत्ति से तो 'अलोऽन्त्स्य' की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी और वह निरस्त होने लगेगा, जो अनुचित होगा। अतः मैंने सूत्र के सङ्केतानुसार 'तस्य' पाठ ही स्वीकार किया है।

२१. अलोऽन्त्यस्य १।१।५३

अलः (ष० ए०) अन्त्यस्य (ष० ए०)

अन्त्यस्य अलः—अन्तिम अल् का······।

षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते।

हिन्दी अनुवाद—षष्ठी द्वारा निर्दिष्ट आदेश अन्तिम अल् के स्थान पर (का) होता है। इस प्रकार 'य' का लोप प्राप्त होने पर—

व्याख्या—यह सूत्र संयोगान्त के अन्तिम वर्ण के लोप का विधान करता है। इस प्रकार 'सु द् ध् य् उपास्यः' इस प्रयोग में 'सु द् ध् य्' रूप सम्पूर्ण संयोगान्त के लोप का यह सूत्र निषेध कर देता है, क्योंकि षष्ठी द्वारा निर्दिष्ट आदेश अन्तिम 'अल्' के स्थान पर होता है, सम्पूर्ण के नहीं। पूर्ववर्ती सूत्र में 'संयोगान्तस्य' पद में षष्ठी है और इसी के द्वारा लोप आदेश निर्दिष्ट है, अतः लोप रूप आदेश सम्पूर्ण संयोगान्त के स्थान पर केवल अन्तिम 'अल्' अर्थात् 'य' का ही होगा। इस प्रकार 'य्' का लोप होने पर 'सुद्ध्युपास्यः' प्रयोग

व्युत्पन्न रह जाता, इसलिए महर्षि कात्यायन ने निम्नाङ्कित वार्तिक द्वारा माधान प्रस्तुत कर उक्त प्रयोग सिद्ध किया—

(वा०) यणः प्रतिषेधो वाच्यः

यणः (ष० ए०) प्रतिषेधः (प्र० ए०) वाच्यः (प्र० ए०)

हिन्दी अनुवाद—(संयोगान्त के अन्तिम वर्ण) 'यण्' का (के लोप का) तिषेध (निषेध) कहना (समझना) चाहिए।

व्याख्या—यदि संयोगान्त का अन्तिम वर्ण 'यण्' (य्, व्, र्, ल) होता , तो उसका लोप नहीं होता। इस प्रकार 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र के नियमानुसार संयोगान्तभूत 'सु द् ध् य्' के अन्तिम अल् 'य्' का जो लोप प्राप्त है, वह कृत वार्तिक से इसलिए निषिद्ध (प्रतिषिद्ध) हो जायगा, क्योंकि 'य्' यण् है। इस प्रकार प्रकृत वार्तिक की सहायता से सुद्ध्युपास्यः—सुध्युपास्यः, मद्ध्वरि—मध्वरिः, धात्त्रंश—धात्रंशः, और लाकृतिः रूप निर्वाधरूप से व्युत्पन्न होंगे। यदि यह वार्तिक न होता, तो इनकी व्युत्पत्ति असम्भव सी होती।

साधुत्व-प्रक्रिया—

सुद्ध्युपास्यः—सुध्युपास्यः—'सुधीभिः उपास्यः'—इस विग्रह के अनुसार तृतीया तत्पुरुष समास होने से सन्धि की नित्यता के कारण 'सुधी+उपास्यः' इस स्थिति में 'इ को यणचि' सूत्रानुसार इक् रूप सकारोत्तर वर्ती 'उकार' धकारोत्तरवर्ती 'ईकार' और उपास्यः के 'उकार' के स्थान पर यणादेश प्राप्ति की दशा में 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' सूत्र से धकारोत्तरवर्ती 'ईकार' और उपास्यः के 'उकार' के मध्य वर्णान्तर का व्यवधान न होने से पूर्ववर्ती 'ईकार' के स्थान पर यणादेश की व्यवस्था होने पर यण्–चतुष्टय में से कौन सा यण् किया जाय—यह समस्य होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र तथा 'यत्रानेकविध-मान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयः।'—नियम से स्थानगत आन्तर्य (साम्य) को सदृशतम और विधेय आदेश घोषित करने पर 'इचुयशानां तालु' के स्थान पर तालुस्थानीय 'ईकार' के स्थान पर तालुस्थानीय 'यकार' यणादेश करके अन्यस्थानीय अन्य यणों को निरस्त करने पर—'सु ध् य् उपास्यः'। इस स्थिति में 'अनचि च' सूत्र से धकार का वैकल्पिक द्वित्व करने पर 'सु ध् ध् य् उपास्यः' इस स्थिति में 'झलां जश् झशि' सूत्र से पूर्व धकार के स्थान पर 'स्थानेऽन्त-

रतमः'—सूत्र के सहकार से दकार करने पर—'सु द् घ् य् उपास्यः' इस
में 'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र से सम्पूर्ण संयोगान्त पद 'सु द् घ् द्' का
प्राप्त होने की दशा में 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र अन्तिम अल् 'यकार' का लोप प्र
होने पर 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' वार्तिक के अनुसार यण् के लोप का नि
(प्रतिषेध) करने पर—'सु द् घ् य् उपास्यः' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्
'परेण संयोज्यम्'—इस नियमानुसार वर्ण संयोग करने पर 'सुद्ध्युपास्यः' प्रय
व्युत्पन्न होगा।

जहाँ पर 'अनचि च' से धकार का वैकल्पिक द्वित्व नहीं होगा,
'सुध्युपास्यः' प्रयोग सिद्ध होगा। मद्ध्वरिः—मध्वरिः मधोः तन्नामकस्य राक्ष
अरिः' इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास के कारण सन्धि की नित्यता होने
'मधु + अरिः'—इस स्थिति में इको 'यणचि' सूत्र से 'तस्मिन्निति निर्दि
पूर्वस्य'—सूत्र के सहकार से धकारोत्तरवर्ती 'उकार' के स्थान पर 'यणादे
प्राप्त होने पर 'स्थानेऽन्तरमः सूत्र और यत्रानेकविधि-मान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्
बलीयः'—नियमानुसार ओष्ठस्थानीय 'उपकार' के स्थान पर सदृशतम दन्
ष्ठ्य 'वकार' आदेश और अन्य वर्णों का निरस्तीकरण करने पर 'म् ध् व्' अ
इस स्थिति में 'अनचि च' सूत्र के अनुसार मकारोत्तरवर्ती 'अकार' रूप 'अ
से परवर्ती 'धकार' रूप 'यर्' का वैकल्पिक द्वित्व करने पर 'म् ध् ध
अरिः'—इस दशा में 'झलां जश् झशि' सूत्र से पूर्ववर्ती झल् धकार' के स्थ
पर 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र के सहकार से जश् 'दकार' करने पर 'म् द् ध
अरिः'—इस स्थिति में 'संयोगान्तस्त लोपः' सूत्र से सम्पूर्ण 'म् द् ध् व्—
का लोप प्राप्त होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्रानुसार केवल अन्तिम अल् 'वक
का लोप प्राप्त होने पर 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' वार्तिक के नियमानुसार व
'यण्' के लोप का प्रतिषेध करने पर 'अज्कीनं (व्यंञ्जनं) परेण संयोज्यम्'
नियमानुसार वर्णसंयोग करने पर मद्ध्वरिः'—प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

जहाँ पर 'अनचि च' सूत्र से धकार का विकल्प से द्वित्व नहीं होगा,
'मध्वरिः' प्रयोग सिद्ध होगा।

धात्त्रंशः—धात्रंशः—'धातुः ब्राह्मणः अंशः'—इस विग्रह में षष्ठी तत्पु
समास की दशा में सन्धि की अनिवार्यता (नित्यता) के कारण 'धातृ
अंशः,—इस स्थिति में 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य'—सूत्र के सहकार
'इको यण चि'—सूत्र से तकारोत्तरवर्ती 'ऋकार' के स्थान पर यणादेश
'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र तथा 'यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बली

की व्यवस्थानुसार 'ऋटुरषाणाँ मूर्धा' वृत्यनुसार मूर्धास्थानीय 'र' यणादेश और अन्य स्थानीय अन्य यणों का निषेधर (निरस्तीकरण) करने पर 'धा त् र् अंश:'—इस स्थिति में 'अनचि च' सूत्र से 'त्' का वैकल्पिक द्वित्व करने पर 'धा त् त् र् अंश:'—इस स्थिति में 'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र से सम्पूर्ण 'धा त् त् र्' संयोगान्त पद लोप प्राप्त हुआ, किन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र ने उसे बाधित कर केवल अन्त्य अल् 'र्' के लोप का विधान किया। तदनन्तर यणः प्रतिषेधो वाच्यः।' वार्तिक उसका निषेध करने पर 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेणसंयोज्यम्' —विध्यनुसार वर्णसंयोग करने पर 'धात्रंश:' प्रयोग निष्पन्न हुआ।

जहां पर 'अनचि च' सूत्र से तकार का वैकल्पिक द्वित्व नहीं होगा, वहाँ पर 'धात्रंश:' रूप व्युत्पन्न होगा। इस प्रयोग में 'झलां जश् झशि' सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि तकार 'झश्' में परिगणित नहीं है।

लाकृति:—'लृकारस्य आकृतिः अथवा लृकार इव आकृतिः यस्य सः'—इस विग्रहद्वय के अनुसार षष्ठी तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि समास की स्थिति में सन्धि की नित्यता होने पर 'लृ+आकृति:'—इस स्थिति में 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य'—सूत्र के सहकार से 'इको यणचि' सूत्रानुसार 'लृकार' के स्थान पर यण्चतुष्टय की प्राप्ति और स्थानेऽन्तरतमः' और यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयः' के नियमानुसार' लृतुलसानां दन्ता के अनुसार दन्तस्थानीय 'लृकार' के स्थान पर दन्तस्थानीय 'लकार' का विधान और अन्य स्थानीय अन्य यणों का निरस्तीकरण करने पर—'ल्+आकृति:—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' के नियमानुसार परस्पर वर्णसंयोग करने पर 'लाकृति:' प्रयोग बनेगा।

प्रकृत प्रयोग में अच् के अभाव में 'अनचि च,' 'झलां जश् झशि', संयोगान्तरवा भाव में संयोगान्तस्य लोपः', अलोऽन्त्यस्य'—सूत्रों तथा 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः, वार्तिक की प्रवृत्ति नहीं होगी।

२२. एचोऽयवायावः ६।१।७८

एच् : (ष० ए०) अयवायावः (ष० ए०)

[एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थान पर अय्, अव्, आय् और आव् हो जाते हैं।]

एच : क्रमाद अय् अव आय आव एते स्युरचि।

हिन्दी अनुवाद—एच् के वाद में (कोई) स्वर आने पर उनके स्थान
क्रमशः अय् अव्, आय् और ये (आदेश) हो जाते हैं ।

व्याख्या—प्रकृत सूत्र अयादिसन्धि विधायक सूत्र है । इसके अनुसार एच्
स्थान पर अयादेश का विधान सम्भव है, किन्तु 'एच्' में परिगणित 'ए, ओ,
औ' में से किसके स्थान पर कौन सा अयादि विधेय है ? या किसी के स्था
पर कोई भी आदेश सम्भव है या विशेष स्थानी के स्थान पर विशेष आदे
ही होगा आदि आशंकाओं का समाधान नहीं किया गया है । अतः एतद
आगामी सूत्र का विधान करना पड़ा—

२३. यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१०

यथासङ्ख्यम् (अव्यय) अनुदेशः (प्र० ए०) समानाम् (ष० ब०)

(समसङ्ख्यक (समान सङ्ख्या वाले) स्थानी और आदेश क्रमशः विहि
होते हैं ।

समसम्बन्धी विधिर्यथा। सङ्ख्यं स्यात् । हरये, विष्णवे, नायक, पावकः ।

हिन्दी अनुवाद—समसम्बन्धिनी विधि यथासङ्ख्य (क्रमिक) होती है
जैसे—हरये, विष्णवे, नायकः, पावकः ।

व्याख्या—प्रकृत सूत्र अयादि सन्धि में एच् के स्थान पर अयादि आदेशों
क्रमिक विधान की व्यवस्था करता है, अतः इसे अयादि के क्रमिक आदेश
विधायक सूत्र कहा जा सकता है । यतः 'एच्'–प्रत्याहार में पठित स्थानियों–'ए
ओ, ऐ, और औ' और 'अय्, अव्, आय् और आव्' रूप अयादि आदेशों की सङ्ख
चार हैं, अतः यह 'समसम्बन्धी विधि' हुई और ये आदेश क्रमशः होंगे, अर्थात् 'ए
के स्थान पर 'अय्', 'ओ' के स्थान पर 'अव्', 'ऐ' के स्थान पर 'आय्' और 'औ
के स्थान पर 'आव्' होगा । इस प्रकार यहाँ कोई व्यतिक्रम सम्भव नहीं है
उदाहरणार्थ—

(i) हरये—'हरे + ए'—इस स्थिति में 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्'—
सूत्र के सहकार से 'एचोऽयवायावः' ... रवर्ती 'ए' के स्थान पर 'अय्'
—आदेश करने पर 'हर + अय् + ए' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण
संयोज्यम्'—निधि के अनुसार वर्ण-संयोग करने पर 'हरये' रूप व्युत्पन्न हुआ

(ii) विष्णवे—'विष्णो + ए'—इस स्थिति में 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्'
—के सहकार से 'एचोऽयवायावः'—सूत्र से णकारोत्तरवर्ती 'ओकार

के स्थान पर 'अव्' आदेश करने पर 'विष्ण्+अव्+ए'—इस स्थिति में 'अज्झीनं व्यञ्जनं परेण संयोज्यम्' के विधानानुसार परस्पर वर्णसंयोग करने पर 'विष्णवे' प्रयोग सिद्ध हुआ।

(iii) नायक—'नै+अकः'—इस स्थिति में 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' सूत्र के सहकार से 'एचोऽयवायावः' सूत्र से नकारोत्तरवर्ती 'ऐ' के स्थान पर 'आय्' आदेश करने पर 'न्+आय्+अकः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' के विधानानुसार परस्पर वर्णसंयोग करने पर 'नायकः' रूप व्युत्पन्न होगा।

(iv) पावक—'पौ+अकः'—इस स्थिति में 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्'-सूत्र के सहकार से 'यचोऽयवायात्ः'-सूत्र से पकारोत्तरवर्ती 'औ' के स्थान पर 'आव्' आदेश करने पर 'प्+आव्+अकः'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यंजनं) परेण संयोज्यम् के विधानानुसार पर स्वर वर्णसंयोग करने पर 'पावकः' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

२४. वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९

वान्तः (प्र० ए०) यि (स० ए०) प्रत्यये (स० ए०)

[यकारादि (यि) प्रत्यय बाद में रहने पर (भी) वान्त (अव्—आव्) आदेश होंगे।]

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरवावौ स्तः। गव्यम्, नाव्यम्।

हिन्दी अनुवाद—यदि 'ओ' और 'औ' के बाद कोई यकारादि प्रत्यय (ऐसा प्रत्यय जिसका प्रथम अक्षर 'य' हो) आने पर 'ओ और औ' के स्थान पर क्रमशः 'अव् और आव्' (वान्त) आदेश होंगे। उदाहरणार्थ-गव्यम् और नाव्यम् (द्रष्टव्य हैं)।

व्याख्या—यह बाद में यादिप्रत्यय होने पर अवावादेश विधायक सूत्र है। प्रस्तुत सूत्र में 'प्रत्यय' पद विशेष्य और 'यि' विशेषण है। 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' के नियमानुसार य (कार) के साथ आदि का अध्याहार (ग्रहण) कर लिया जाता है, अतः यि का अर्थ है, बाद में यकारादि होने पर अर्थात् वह प्रत्यय जिसका प्रथम अक्षर यकार हो, के होने पर 'य' 'य्' के सप्तमी एकवचन का रूप है। उदाहरणार्थ—यत् प्रत्यय यकारादि है।

'वान्तः' का अभिप्राय है, वह आदेश, जिसके अन्त में वकार हो—वकारः (वः) अन्ते यस्य सः। यतः 'अव् और आव्' में 'व्' अन्त में है, इसलिये ये दोनों 'वान्त' आदेश सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्र अर्थ हुआ, यदि यकारादि (यत् आदि) प्रत्यय बाद में आवे तो भी 'ओ औ' के स्थान पर 'वान्त' आदेश (अव-आव् होंगे।

यह सूत्र 'एचोऽयवायवः का पूरक है। महर्षि पाणिनि ने देखा कि ओ और औ के बाद कोई स्वर न रहने पर भी यकारादि प्रत्ययों के कारण अव्-आव् रूप 'वान्त' आदर्श भाषा में प्रयोग हो रहे थे, अतः उन्होंने इस सूत्र का प्रणयन किया और इस सूत्र ने अयादि का क्षेत्र विस्तृत कर दिया। यदि इस सूत्र का विधान न हुआ होता, तो 'गव्यम्'—आदि प्रयोग व्युत्पन्न न हो पाते। उदाहरणार्थ—पानी 'गो + यम्' में गकारोत्तरवर्ती ओकार के पश्चात् यद्यपि अच् (स्वर) नहीं है, तथापि 'अव्' आदेश इसलिये हो रहा है, क्योंकि 'यम्' (यत्) यकारादि प्रत्यय है। इस प्रकार 'ग्+अव्+यम्—इस दशा में वर्ण-संयोग करने पर 'गव्यम्' प्रयोग बनता है। इसी प्रकार 'नाव्यम्' प्रयोग को भी समझना चाहिए।

साधुत्व प्रक्रिया—

(i) **गव्यम्**—'गो + यम्'—इस स्थिति में 'गोर्विकार:'—ईत्येथं

'गोः पयसोर्यत्'—सूत्र से 'यत्' प्रत्यय करने पर यतः यत्यकारादि प्रत्यय है, अतः वान्तो—

'यि प्रत्यये'—सूत्र से गकारोत्तरवर्ती 'ओकार के स्थान पर 'अव् (वान्त)' आदेश करने पर—'ग्+अव्+यम्'—इस स्थिति में **अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्'** के विधानानुसार परस्पर वर्णसंयोग करने पर 'गव्यम्' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

(ii) **नाव्यम्**—'नौ + यम्'—इस स्थिति में 'नावातार्यम्'—इत्यर्थे **"नौवयोधर्मविषमूल ०००"**—सूत्र से 'यत्' प्रत्यय **'वान्तो यि प्रत्यये'** सूत्र से नकारोत्तरवर्ती 'औ' के स्थान पर आव् (वान्त) आदेश करने पर—'न्+आव्+यम्'—इस स्थिति में **'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्'** के विधानानुसार परस्पर वर्णसंयोग करने पर **'नाव्यम्'** अभीष्ट प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

(वा०) अध्वपरिमाणे च। गव्यूतिः

अध्वपरिमाणे (स० ए०) च (अव्यय)

हिन्दी अनुवाद—अध्व (मार्ग) के परिमाण (अर्थ) में भी ('गो' शब्द के ओकार का 'यूति' परे रहते 'अव्' आदेश होगा। जैसे:—'गव्यूति'।

व्याख्या—इसे 'गव्यूति' में अवादेशविधायक वार्तिक समझना चाहिए। 'एचोऽयवायावः' तथा 'वान्तो यि प्रत्यये' इन दो सूत्रों से 'एच'—प्रत्याहार के वर्णों के स्थान पर स्वरों तथा 'ओ और औ के स्थान पर यकारादि प्रत्ययों के परे रहते केवल अयादि या वान्त आदेश की ही व्यवस्था महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में की थी, उन्होंने 'गव्यूति' पद के विषय में कोई समाधान नहीं दिया है, किन्तु यह पद वैदिक तथा लौकिक दोनों संस्कृत में व्यवहृत हो रहा था, फलतः महर्षि कात्यायन ने वैदिक तथा लौकिक दोनों के लिए पृथक्शः दो वार्तिकों की व्यवस्था करके गव्यूति की सिद्धि की इस प्रकार उनके 'गोयूतौ छन्दसि' तथा अध्वपरिमाणे च' ये दो वार्तिक इस पद की सिद्धि के मूलाधार हैं। इस प्रकार यह वार्तिक भी अयादि का पूरक है। प्रकृत वार्तिक में प्रयुक्त 'अध्वपारिमाणे' पद का अर्थ है—सन्धि से व्युत्पन्न पद मार्ग—परिमाणवाची हो। जैसे—इस वार्तिक से व्युत्पन्न 'गव्यूति' पद। 'गव्यूति': क्रोशयुगलम्' रूप 'अमरकोश' के इस वाक्यानुसार दो कोश (चार मील) का वाचक है। अतः इसे अध्वपरिमाण समझना चाहिए। इस प्रकार इस वार्तिक से 'ओ' के स्थान पर 'अवादेश' हो जायेगा। उदाहरणार्थ—'गो+यूतिः' से व्युत्पन्न पद 'गव्यूति' का अर्थ यतः 'क्रोशयुगल' रूप अध्वपरिमाण है, अतः इसी वार्तिक के अनुसार गकारोत्तरवर्ती 'ओकार' के स्थान पर 'अव्' आदेश करने पर 'ग् अव् यूतिः' 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' के विधानानुसार परस्पर वर्णसंयोग करने पर 'गव्यूतिः' पद व्युत्पन्न होगा।

५. अदेङ् गुणः १।१।२

अत् (प्र० ए०) एङ् (प्र० ए०) गुणः (प्र० ए०)

[अत् (ह्रस्व अ) और एङ् (ए, ओ) गुण होते हैं।] अत् एङ् च गुणसंज्ञः स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—अत् और एङ् गुणसंज्ञक हो (होते हैं)।

व्याख्या—यह गुणसंज्ञा विधायक सूत्र है। व्याकरणशास्त्र में 'गुण' एक पारिभाषिक पद है। प्रकृत सूत्र के अनुसार गुण का अर्थ है—'अ, ए, ओ'। सूत्र

में प्रयुक्त अदेङ् पद=‘अत्+एङ्’ । इस प्रकार अत् का अर्थ है, ह्रस्व ‘
और एङ् प्रत्याहार है, जिसमें ‘ए और ओ’ परिगणित हैं । प्रस्तुत सूत्र में
के साथ पठित ‘त्’ वर्ण के प्रयोग का मन्तव्य स्पष्ट नहीं है । अतः आगा
निम्नाङ्कित सूत्र में उसे समझाया गया है ।

२६. तपरस्तत्कालस्य १।१।७०

तपरः (प्र० ए०) तत्कालस्य (ष० ए०)

[तपर (स्वर) तत्काल (मात्र) का (बोधक) होता है ।)] तः परो यस्मा
च तात्परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव संज्ञा स्यात् ।

हिन्दी अनुवाद—त् (तकार) पर (परवर्ती) (बाद में स्थित) हो जिसके
और ‘त्’ से जो परवर्ती (त् के बाद में स्थित) हो, वह भी केवल अपने उच्च
रण के समकाल का ही बोधक होता है ।

व्याख्या—प्रस्तुत सूत्र ‘अदेङ् गुणः’ में पठित ‘अत्’ के तकार की उ
योगिता सिद्ध करता है और ‘अणुदित् सवर्णस्य च प्रत्ययः’ सूत्र द्वारा विस्ता
‘अ’ आदि स्वरों की सीमा को सीमित कर देता है । यदि इस सूत्र का प्रण
न किया गया होता तो ‘अत्’ में पठित अकार अपने १८ भेदों का भी बो
हो जाता और इस प्रकार उक्त अष्टादश अकारों की गुणसंज्ञा होने से अ
विसङ्गतियाँ होने लगतीं । अतः इस सूत्र का विधान परमावश्यक था ।
सूत्र का अभिप्राय है कि यदि किसी स्वर के पूर्व अथवा पश्चात् तकार
प्रयोग किया जाय तो उच्चारणकाल में उस स्वर की जो मात्रा हो वह के
उसी का बोधक हो । उदाहरणस्वरूप यतः ‘अत्’ में ह्रस्व ‘अ’ का उच्चारण
और इस प्रकार ह्रस्व ‘अ’ के पश्चात् ‘त्’ है अतः वृत्ति की प्रथम व्याख्या “
परो यस्मात् सः” (बहुव्रीहि) के अनुसार वह केवल अपने उच्चार्यमाण समक
(मात्रा) अर्थात् ह्रस्वत्व का ही बोधक है, अन्य का नहीं । इस प्रकार ‘अ
में पठित ह्रस्व ‘अ’ से दीर्घ, प्लुत आदि अकार के अन्य भेदोपभेदों का बो
नहीं होगा । इसी प्रकार ‘अदेङ्’ में पठित ‘एङ्’ ‘त्’ के पश्चात् स्थित है, अ
वृत्ति की द्वितीय व्याख्या ‘तात्परश्च’ (पञ्चमी तत्पुरुष) के अनुसार ‘एङ्’
और ओ) भी अपने उच्चार्यमाण समकाल (द्विमात्रिक दीर्घ) के ही बोधक है
तदितर प्लुत आदि प्रभेदों के नहीं ।

यदि स्वर के पूर्व अथवा पश्चात् ‘त्’ पठित (श्रुत) न हो तो वह अपने स
भेदोपभेदों का बोधक होगा । उदाहरणार्थ—‘इकोयणचि’ सूत्र में पठित ‘इक्’

र्व अथवा पश्चात् यतः 'त्' का पाठ नहीं है, अतः 'तपर' न होने से वह अपने दोपभेदों का बोधक है।

इस प्रकार इस सूत्र से ह्रस्व 'अ, ए और ओ' (भेद रहित) की गुण संज्ञा ती है। उदाहरणार्थ—'गङ्गा+उदकम्' प्रयोग में गकारोत्तरवर्ती आकार द्विमात्रिक) और 'उदकम्' के उकार (एकमात्रिक) के स्थान पर त्रिमात्रिक ोकार का निषेध कर यह सूत्र द्विमात्रिक ओकार का विधान करता है।

७. आद्गुणः ६।१।८७

आत् (पं० ए०) गुणः (प्र० ए०)

[अ के पश्चात् (असमान स्वर आने पर दोनों के स्थान पर) गुण (एका- श होता है।)]

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोर्गुण आदेशः स्यात्। उपेन्द्रः, गङ्गोदकम्।

हिन्दी अनुवाद—(भेदोपभेद सहित) अ के पश्चात् (असमान) स्वर की प्ति होने पर पूर्व और पर के स्थान पर गुणएकादेश हो जाता है।

व्याख्या—प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'आत्' पद 'अ' के पञ्चमी एकवचन का है और इसमें प्रयुक्त पञ्चमी 'तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र के अनुसार पञ्चमी भक्ति परवर्तित्व की बोधिका है, अतएव 'आत्' का अर्थ है भेदोपभेद सहित " के पश्चात्। यहाँ 'आत्' में प्रयुक्त 'त्' का सम्बन्ध 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र नहीं है, अन्यथा 'आत्' में पठित 'आ' केवल दीर्घ का बोधक हो जायेगा और कार केवल उसी के बाद असमान स्वर आने पर गुण हो सकेगा, उसके य ह्रस्व, प्लुत आदि भेदोपभेदों के पश्चात् असमान स्वर आने पर गुण का षेध होने लगेगा। इस प्रकार समग्र सूत्र का अर्थ हुआ, यदि किसी भी 'अ' पश्चात् 'इ, उ' अथादि स्वर आवें तो पूर्व और पर दोनों के स्थान पर गुण ादेश होगा। यतः गुण की संज्ञा तीन है अतः 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र के प्रमानुसार सदृशतम गुण ही होगा। यतः 'अदेङ्गुणः' सूत्र 'एकः पूर्वपरयोः के धिकार क्षेत्र में आता है, अतः पूर्व पर दोनों के स्थान पर एक मात्र गुणादेश मा आता है। उदाहरणार्थ—'उपेन्द्र' और 'गङ्गोदकम्' प्रयोगों में क्रमशः ारोत्तरवर्ती अकार और गकारोत्तरवर्ती आकार के पश्चात् 'इन्द्र' का इकार र 'उदकम्' के उकार रूप असमान स्वर की प्राप्ति की दशा में 'स्थाने- रतमः' सूत्र के सहकार से 'ए' और 'ओ' गुण हो जाते हैं।

साधुत्व प्रक्रिया

१. उपेन्द्र—'उप + इन्द्रः' इस स्थिति में पकारोत्तरवर्ती अकार के पश्च यतः 'इन्द्र' का इकार रूप असमान स्वर प्राप्त हो रहा है, अतः 'आद्गु सूत्र के नियमानुसार गुणएकादेश करने पर, यतः अदेङ्गुणः' सूत्र में पठित ' ए और ओ' रूप गुणत्रय में से किसका विधान किया जाय ? इस समस्या निदान 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र से करने पर—

यतः अ का उच्चारण स्थान 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार 'क 'इ' का उच्चारण स्थान 'इचुयशानां तालु' के अनुसार 'तालु' है, अतः इ स्थान पर 'कण्ठ तालु' आदेश ही सम्भव हो सकता है। अतः 'एदैतोः कण्ठता के अनुसार 'कण्ठतालव्य' 'ए' गुण का विधान और अन्य गुणों का निषेध क पर निम्नाङ्कित स्थितियां प्राप्त हुई—

उप+इन्द्रः

=उप् अ+इ न्द्रः

=उप् अ+=इ 'ए' (एकादेश) +न्द्रः

='उप्+ए+न्द्रः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयो के विधानानुसार परस्पर वर्णसंयोग करने पर 'उपेन्द्रः' रूप सिद्ध होगा।

२. गङ्गोदकम्—'गङ्गा+उदकम्' इस स्थिति में यतः गकारोत्तर आकार के पश्चात् 'उदकम्' का उकार रूप असमान स्वर (अच्) प्राप्त रहा है, अतः 'आद्गुणः' सूत्र के नियमानुसार यहाँ पूर्व पर (आ और उ स्थान पर गुण एकादेश प्राप्त हुआ। सम्प्रति 'अदेङ्गुणः' में परिगणित 'अ और ओ', रूप गुणत्रय में से 'स्थानेऽन्तरमः' सूत्रानुसार—'अकुहविसर्जनीय कण्ठः' के अनुसार कण्ठ स्थानीय गकारोत्तरवर्ती 'आकार' और 'उपूपध्म यानामोष्ठौ' के अनुसार 'उदकम्' के उकार के स्थान पर 'ओदौतोः कण्ठो के अनुसार कण्ठोष्ठ्य ओकार गुण का विधान और तदितर गुणों (अ—ए निषेध करने पर निम्नांकित दशायें प्राप्त हुईं—गंगा+उदकम्

=गंग्+आ+उ+दकम्

=गंग्+आ+उ='ओ' (एकादेश) + दकम्

(कण्ठ्य+ओष्ठ्य=कण्ठोष्ठ्य)

='गंग्+ओ+दकम्'—सम्प्रति इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) संयोज्यम्' के विधानानुसार परस्पर वर्ण—संयोगेन 'गंगोदकम्' रूप हुआ।

८. उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२

उपदेशे(स० ए०) अच् (प्र० ए०) अनुनासिकः (प्र० ए०) इत् (प्र० ए०)

[अन्वय—उपदेशे अनुनासिकः अच इत्—उपदेश की अवस्था में अनुना-
क अच् इत्संज्ञक (होता है)।]

उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। लण्-
वस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा।

हिन्दी अनुवाद—उपदेश की दशा में अनुनासिक अच् (स्वर) इत्संज्ञक
ता है (की इत्संज्ञा होती है)। अनुनासिक सम्बन्धिनी प्रतिज्ञा पाणिनि (अथवा
नके वक्तव्यों या निर्देशों) पर निर्भर है [अनुनासिक वर्णों का परिज्ञान
तिज्ञान) पाणिनीय संकेतों (निर्देशों) पर अवलम्बित है।] 'लण्' सूत्र में
थत 'अ' वर्ण के साथ उच्चार्यमाण रेफ (रकार) र्—ल् वर्णों का बोधक
ज्ञक) होगा (है)।

व्याख्या—यह स्वरों की इत्संज्ञा विधायक सूत्र है, जैसा कि 'हलन्त्यम्'
त्र में बताया गया था कि 'अइउण्' आदि चतुर्दश माहेश्वर—सूत्र अथवा
तन आचार्यों के कथन (उच्चारण) आदि उपदेश हैं—"उपदेश आद्योच्चार-
म्"।

"धातु सूत्रगणोणादिवाक्यलिंगानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशा नुपदेशाः प्रकीर्त्तिताः॥"

या—

"प्रत्ययः शिवसूत्राणि आदेशा आगमस्तथा।
धातुपाठो गणपाठ उपदेशाः प्रकीर्त्तिताः॥"

प्रकृत सूत्र के अनुसार उपदेश की दशा में अनुनासिक स्वर की इत्संज्ञा
गी। अब प्रश्न उठता है कि स्वरों को अनुनासिकत्व का निर्धारण कैसे किया
ाय या किन स्वरों को अनुनासिक माना जाय? वृत्तिकार ने इसका सुन्दर
माधान दिया है—पाणिनि ने जिन स्वरों को अनुनासिक माना है, उन्हें ही
नुनासिक मानना चाहिए। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिन्हें पाणिनि ने
नुनासिक नहीं माना है, उन्हें अनुनासिक न माना जाय। वृत्तिकार का स्वरों
अनुनासिकत्व सम्बन्धी यह कथन गुरु परम्परानुगामी है—"प्रतिज्ञायते इति

प्रतिज्ञा, अनुनासिकस्य भावः आनुनासिक्यम्। प्रतिज्ञानुनासिक्यं येषां प्रति
नुनासिक्याः।" —'तत्वबोधि

अन्य मतानुसार—"प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा या अस्यास्तीति प्रतिज्ञम्। प्रति
आनुनासिक्यमेषां, ते प्रतिज्ञानुनासिक्याः। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनी
तदधीयते विदन्ति वा पाणिनीयाः।"

तत्वबोधिनीकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि यद्यपि सूत्रकार पाणि
अनुनासिक पाठ सम्प्रति विनष्ट हो गये हैं, तथापि वृत्तिकार आदि के व्यव
के आधार पर कार्यानुसार इनका निर्धारण कर लेना चाहिए। वस्तुतः म
पाणिनि अपने 'अष्टाध्यायी' में अनुनासिक वर्णों पर कोई चिह्न (संकेत) ल
रहे होंगे, किन्तु वे सम्प्रति 'अष्टाध्यायी' की उपलब्ध प्रतियों में प्राप्त
होते। वे चिह्न कैसे थे, किस प्रकार के थे? आदि अनुमान सर्वथा कल्पना
या असम्भव हैं। अनुनासिक की जो अवधारणा आज हमारे मन में है, पा
या उनके पूर्ववर्ती काल में भी वही थी, यह कहना भी असम्भव है। प्राचं
काल में प्रकाशन व्यवस्था के अभाव में हस्तलिपियों में वे चिह्न धीरे
विलुप्त होते गए। यदि सम्प्रति प्रचलित अनुनासिक चिह्न (ँ) को ही
पाणिनीय अनुनासिक चिह्न मान लें तो प्रथम प्रश्न यह उठता है कि ह
पास इसे सिद्ध करने का प्रमाण क्या है? अतः प्रमाण के अभाव में निर्ध
कठिन है। द्वितीयतः यदि यही चिह्न था तो हस्तलेखों में विलुप्त कैसे हुअ
जबकि यह चिह्न प्राचीन हस्तलेखों में प्रचलित अर्थ को बताने के लिए मि
ही है।

यह भी सम्भव है, कि अनुनासिकत्व का प्रतिज्ञान बाद में होता हो। जै
प्रथमा एकवचन के विभक्ति-प्रत्यय 'सु' के 'उ' का लोप, तत्पश्चात् 'स'
रुत्वविसर्ग देखने से पता चलता है कि 'उ' अनुनासिक है, अतः उसकी
सूत्र से इत्संज्ञा और लोप हुआ। सप्तमी बहुवचन 'सुप्' का उकार अनुना
नहीं है, क्योंकि 'बहुषु बहुवचनम्' सूत्र में स्थित 'बहुषु'—पद में जुड़े
(सप्तमी बहुवचन सूचक विभक्ति-प्रत्यय) में 'प्' का ही लोप परिलक्षित ह
है, 'उ' का नहीं अतः वह 'अनुनासिक' और 'इत्' नहीं है।'

वृत्तिकार ने इस सूत्र की वृत्ति में 'र'—प्रत्याहार की सिद्धि—प्रक्रिया
स्वरूप का निरूपण किया है। उनके अनुसार 'लण्' सूत्रस्थ अकार के
उच्चार्यमाण रेफ (र्) र् और ल् वर्णों का बोधक है। इस प्रकार स्पष्ट है
'हयवरट्' सूत्र के अकाररहित शुद्ध 'र्' और 'लण्' के 'अकार' (इत्संज्ञक

ोग से 'र'—प्रत्याहार बनता है ह—यवरट्, लण्>र+अ=र=र् ल्, 'र्' और 'ल्' वर्णों का बोधक है, क्योंकि 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्रानुसार पदेशेऽजनुनासिक इत्' और लणमध्येत्विसंज्ञकः' वृत्ति के अनुसार इत्संज्ञक ार सहित आदि रकार मध्यवर्ती 'ल्' और स्वयं अर्थात् 'र्' का बोधक है। प्रकार यह सिद्ध हुआ, कि 'लण्' में विद्यमान 'अ' अनुनासिक है, अतः 'र' ाहार 'रँ'—इस प्रकार लिखना चाहिए। इस प्रकार प्रयोगों के आधार पर नासिकों का प्रतिज्ञान किया जायेगा। इसके लिए हम पाणिनि के ऋणी या ापेक्षी है।

यह 'रँ' प्रत्याहार आगामी सूत्र 'उरण् रपरः' में प्रयुक्त होता है, और इस ार 'रपरः' का अर्थ 'रपरः' और 'लपरः' दोनों होता है, तभी 'कृष्णर्द्धिः' और ल्कारः' सिद्ध हो पाते हैं। यद्यपि नवीन वैयाकरण 'र' प्रत्याहार को स्वी- नहीं करते, तथापि उक्त प्रयोगों की सिद्धि के लिए इसकी आवश्यकता विवाद है।

. उरण् रपरः १।१।५१

उः (ष० ए०) अण् (प्र० ए०) रपरः (प्र० ए०)

[ऋ के स्थान पर आदेशभूत (होने वाला) 'अण्' रपर (रपर-लपर) ा।]

ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम्। तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते।

हिन्दी अनुवाद—'ऋ' अपने तीस (भेदों) का बोधक है, यह पहले ही कहा चुका है। उस (ऋ) के स्थान पर जो अण् (अ इ उ) (आदेश होगा) वह र (रपर-लपर) होकर ही प्रवृत्त होगा। जैसे कृष्णर्द्धिः तवल्कारः।

व्याख्या—सूत्र में प्रयुक्त 'उः' 'ऋ' के षष्ठी एक वचन का रूप है, अतः का अर्थ हुआ 'ऋके' अथवा ऋ के समान में (पर)'। 'अणुदित्सवर्णस्य चा- यः' सूत्रानुसार अविधीयमान् अण् रूप 'ऋ' अपने तीस भेदों (ऋ—१८+ —१२=३०) का बोधक होगा।

सूत्र में प्रयुक्त अण् का विशेषण है—'रपरः' रपरः का अर्थ है— रः परः (यस्मात्) सः अर्थात् र हो बाद में जिसके या जिससे। अतः अण् (अ) के बाद में र होगा—अर्थात् 'अर्, इर् और उर्' के रूप में अण् प्रवृत्त ा, जिसका अभिप्राय होगा, 'अर्-अल्, इर्-इल्, उर्-उल्'।

गुणसन्धि के प्रकरण में 'स्थानेऽन्तरतमः' के अनुसार 'ऋ' के स्थान प
और 'लृ' के स्थान पर 'अल्' आदेश होगा, क्योंकि यतः अ का उच्चारण
'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार कण्ठ और 'ऋ' का उच्चारण
'ऋटुरषाणां मूर्धा' के अनुसार मूर्धा है, अतः 'अ और ऋ' के स्थान पर
मूर्धास्थानीय 'अर्' और इसी प्रकार यतः 'लृ' का उच्चारण स्थान 'लृतुल
दन्ताः' के अनुसार 'दन्त' है, अतः 'अ और लृ' के स्थान पर कण्ठदन्त स
'अल्' आदेश ही होगा।

यह सूत्र 'आद्गुणः' का पूरक है, अब 'आद्गुणः' का अभिप्राय हुआ
अ (समस्त भेदों सहित) के पश्चात (असमान) स्वर स्वरूप इ, उ, ऋ त
आवे, तो क्रमशः अ और इ मिलकर 'ए', अ और उ मिलकर 'ओ', अ औ
मिलकर 'अर् तथा 'अ और लृ' मिलकर 'अल्' हो जायेंगे। जैसे—'कृ
और तवल्कारः' प्रयोगों में क्रमशः णकारोत्तरवर्ती आकार के पश्चात ऋद्धि के
के आने पर 'अर्' तथा वकारोत्तरवर्ती आकार के पश्चात लृकार के '
आने पर 'अल्' आदेश हुआ।

साधुत्व-प्रक्रिया

(१) **कृष्णर्द्धिः**—'कृष्ण + ऋद्धिः'—इस स्थिति में णकारोत्तरवर्ती
के पश्चात ऋद्धिः का ऋकार रूप असमान स्वर प्राप्त हो रहा है, अतः
गुणः' सूत्र से पूर्व पर के स्थान पर गुणएकादेश, सम्प्रति 'अदेङ्गुणः'
परिगणित 'अ, ए, ओ' रूप गुणत्रय में से कौन विहित हो, इस आश
निवारण 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र से करने पर—

यतः अ का उच्चारण स्थान 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार
है और 'ऋ' का उच्चारण स्थान 'ऋटुरषाणां मूर्धा' के अनुसार 'मूर्धा'
इन दोनों के स्थान पर कण्ठमूर्धस्थानीय आदेश ही सम्भव है। 'ए'
कण्ठतालु'' के अनुसार 'कण्ठतालव्य' और 'ओ' 'ओदौतोः कण्ठोष्ठम्'
सार 'कण्ठोष्ठ्य' हैं, अतः ये आदेश 'अ और ऋ' के स्थान पर विहित
सकते। अब परिशेष्यात् शुद्ध कण्ठस्थानीय 'अ' गुण विहितव्य है।

सम्प्रति यह अ गुण यतः अण् है, और ऋ के स्थान पर विहितव्य
'उरण् रपरः' सूत्रानुसार 'रपर' होकर ही प्रवृत्त होगा। अतः 'अ और
स्थान पर कण्ठमूर्धास्थानीय 'अर्' आदेश करने पर—

कृष्ण् + अ + ऋ + द्धिः

= कृष्ण + अ + ऋ = 'अर्' (एकादेश) + द्धिः

(कण्ठ्य + मूर्धास्थानीय = कण्ठमूर्धास्थानीय)

= 'कृष्ण + अर् + द्धिः'

सम्प्रति 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' के विधानानुसार परस्पर वर्ण-संयोग करने पर 'कृष्णर्द्धिः' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

(ii) तवल्कार—'तव + लृकारः'—इस स्थिति में यतः वकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् लृकारः का 'लृकार' असमान अच् प्राप्त हो रहा है, अतः पूर्व पर के स्थान पर 'आद्गुणः' से गुण एकादेश, सम्प्रति 'अदेङ् गुणः' में परिगणित 'अ, ए, ओ' में से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'अ और लृ के स्थान पर 'ए और ओ' का 'एदैतौः कण्ठतालु' तथा 'ओदौतोः कण्ठोष्ठम्' के अनुसार क्रमशः कण्ठतालव्य और काण्ठोष्ठ्य होने से निरस्तीकरण और परिशेष्यात् से 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार कण्ठ्य 'अ' का विधान, किन्तु यतः 'अ' अण् है और ऋ (लृ) के स्थान पर विहितव्य है, अतः उरण् रपरः' सूत्र से यह रपर अर्थात् 'लृतुलसानां दन्ताः' के अनुसार दन्त स्थानीय 'लृ' के विकल्प स्वरूप 'लपर' होकर ही प्रवृत्त होगा। अतः 'अ और लृ' के स्थान पर कण्ठदन्त्य 'अल्' आदेश करने पर—

तव + लृकारः

= तव् अ + लृ + कारः

= तव् + अ + लृ = 'अल्' (एकादेश) + कारः

(कण्ठ्य + दन्त्य—कण्ठदन्त्य)

= 'तव् + अल् + कारः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' के अनुसार वर्ण संयोग करने पर अभीष्ट प्रयोग 'तवल्कारः' व्युत्पन्न होगा।

३०. लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९

लोपः (प्र० ए०) शाकल्यस्य (ष० ए०)

[शाकल्य के (मत में) लोप होता है।]

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे।

हिन्दी अनुवाद—अवर्णपूर्वक पदान्त के (में स्थित) यकार और वकार अश् बाद में होने पर विकल्प से लोप होता है।

व्याख्या—महर्षि पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख कर अपनी अतिशय सदाशयता और ईमानदारी का परिचय दिया है, वहीं हमें अज्ञातनामा और अज्ञातकृति अनेक वैयाकरणों से भी परिचय करा व्याकरण-शास्त्र के इतिहास सँजोने में सुविधा प्रदान की है। उन्होंने अ सूत्रों में यदि इनका उल्लेख न किया होता, तो आज हम इनके नाम से परिचित न होते। आचार्यों के नामोल्लेख युक्त सूत्रों की विधियाँ वैकल्पि होती हैं। यहाँ ध्यातव्य है, कि लोप तो शाकल्य के मतानुसार होगा लोपाभाव (लोप न होना) पाणिनि के मतानुसार होगा। इस प्रकार प्राक् आचार्यों के नामोल्लेख द्वारा महर्षि पाणिनि को पूर्वाचार्यों के मत के सम और खण्डन तथा मौलिक सिद्धान्तों के उपस्थापन का अवसर मिल जाता है पाणिनि से पूर्व शाकल्य के समय में लोप नित्य होता रहा होगा, और पाणि भाषा में लोपाभाव के उदाहरण प्रस्तुत कर उस नित्य लोप-विधि को वैकल्पि सिद्ध कर दिया।

यह पदान्त यकार और वकार के लोप का विधायक सूत्र है। उदा रणार्थ—हर इह—'हरयिह'—प्रयोग में 'हरे+इह'—इस स्थिति में 'ए ऽयवायावः' सूत्र से रकारोत्तरवर्ती 'एकार' के स्थान पर 'यथासङ्ख्यमनुदे समानाम्' सूत्र के सहकार से 'अय्' आदेश—'हर्+अय्+इह'—इस स्थि में यतः 'य्' वर्ण से पूर्व अकार है, और वह 'हरे' पदान्त में स्थित है, उसके बाद 'इकार' रूप अश् भी प्राप्त है, अतः 'लोपः शाकल्यस्य' रूप प्र सूत्र से 'य्' का वैकल्पिक लोप करने पर—'हर् अ इह' स्थिति प्राप्त ह सम्प्रति 'अज्झीनं व्यञ्जनं परेण संयोज्यम्' के विधानानुसार परस्पर वर्णसंयो करने पर 'हर इह' प्रयोग बना, जहाँ 'य्' का वैकल्पिक लोप नहीं होगा, व 'हरयिह' प्रयोग बनेगा।

इसी प्रकार 'विष्ण इह—विष्णविह'—प्रयोग में 'विष्णो+इह' इस द में भी 'एचोऽयवायाव' सूत्र से णकारोत्तरवर्ती ओकार के स्थान पर 'यथासङ् ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से 'अव्' आदेश—'विष्ण् अव् इह'—इ स्थिति में यतः 'अव्' का अकार 'विष्णो' पद के अन्त में स्थित है और अव पूर्वक तथा उसके बाद 'इह' का 'इकार' अश् भी है, अतः प्रकृत सूत्र 'लोप शाकल्यस्य' के अनुसार 'व्' का वैकल्पिक लोप होगा और निम्नांकित स्थि प्राप्त होगी—

'विष्ण् अ इह'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' के विधानानुसार वर्ण संयोग करने पर 'विष्ण इह' प्रयोग सिद्ध हुआ।

जहाँ 'व्' का वैकल्पिक लोप नहीं होगा, वहाँ 'विष्णविह' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

अब यहाँ यह आशङ्का होती है, कि 'हर इह' और 'विष्ण इह' प्रयोगों में 'आद् गुणः' से गुण क्यों नहीं होता ? और उससे 'हरेह तथा विष्णेह' रूप क्यों नहीं बनते ? अतः महर्षि पाणिनि इस आशङ्का के समाधानार्थ आगामी सूत्र का विधान करते हैं—

३१. पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१

पूर्वत्र (अव्यय) असिद्धम् (प्र० ए०)

[पूर्वत्र (इससे पूर्ववर्ती सूत्र) (की दृष्टि में परवर्ती सूत्र) असिद्ध हों (होंगे)।]

सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धं स्यात्। हर इह, हरयिह। विष्ण इह, विष्णविह।

हिन्दी अनुवाद—सपादसप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी असिद्ध होगी, और त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति पर शास्त्र असिद्ध होगा। (उदाहरणार्थ)—हर इह, हरयिह। विष्ण इह, विष्णविह।

व्याख्या—महर्षि पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के नाम से ही विदित होता है, कि इसमें आठ अध्याय हैं। प्रकृत सूत्र में 'अष्टाध्यायी' के वर्गीकरण (अनुक्रम) का संकेत है। प्रत्येक अध्याय को चार पादों में विभाजित किया गया है। इस प्रकार अष्टाध्यायी में कुल बत्तीस पाद हैं। पूर्व के उन तीस पादों को 'सपादसप्ताध्यायी' [सात अध्याय और एक पाद (आठवें अध्याय का प्रथम पाद] कहते हैं। अवशिष्ट अन्तिम तीनों पादों को 'त्रिपादी' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। यह पूर्व के प्रति परशास्त्र के असिद्धत्व का विधायक सूत्र है।

प्रकृत सूत्र 'पूर्वत्रासिद्धम्' के अनुसार सपादसप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी असिद्ध होगी और त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति परशास्त्र असिद्ध होगा। अर्थात् उनतीस पादों के सूत्रों की दृष्टि में त्रिपादी (३०-३१-३२) के विधान असिद्ध माने जायेंगे। अभिप्राय यह हुआ, कि जहाँ सपादसप्ताध्यायी और त्रिपादी की

एकत्र समकालिक प्राप्ति होगी, वहाँ त्रिपादी के विधान असिद्ध सम
जायेंगे और इसी प्रकार त्रिपादी में भी दो सूत्रों की एकत्र समकालिक प्रा
होने पर परवर्ती विधान असिद्ध माना जायगा। उदाहरणार्थ—'हर इह' इ
स्थिति में रेफोत्तरवर्ती 'अकार' और इह के 'इकार' के मध्य 'आद्गुणः' से गु
प्राप्त होने पर 'आद्गुणः–(६।१।८७)' की दृष्टि में 'लोपः शाकल्यस्य-
(८।३।१९)' द्वारा हुआ यकार का वैकल्पिक लोप रूप कार्य असिद्ध हो जाय
क्योंकि 'आद्गुणः' सपादसप्ताध्यायी का सूत्र है, और 'लोपः शाकल्यस
त्रिपादी का सूत्र है। अतः 'आद्गुणः' की दृष्टि में 'लोपः शाकल्यस्य' का यक
लोप हुआ ही नहीं है, अतः गुणसन्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रक
जब हम रेफोत्तरवर्ती 'अकार' और इह के 'इकार' के मध्य 'आद्गुणः' से गु
करने चलते हैं, तो 'पूर्वत्रासिद्धम्' के अनुसार 'लोपः शाकल्यस्यस्य' कृत यक
लोप रूप कार्य असिद्ध हो जाने से दोनों के मध्य 'य्' का व्यवधान हो जाय
और इस प्रकार गुण की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार 'विष्ण इह' में
णकारोत्तरवर्ती 'अकार' और इह के 'इकार' के मध्य 'व्'—लोप असिद्ध हो जा
से 'व्' के व्यवधान के कारण गुण नहीं होगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

'हर इह—हरयिह', 'विष्ण इह—विष्णविह' प्रयोग की साधुत्व-प्रक्रिया
लिये 'लोपः शाकल्यस्य' और 'पूर्वत्रासिद्धम्' का 'उदाहरणार्थ'—शीर्षक
साथ लिखना होगा।

३२. वृद्धिरादैच् १।१।१

वृद्धिः (प्र० ए०) आत् (प्र० ए०) ऐच् (प्र० ए०)
[वृद्धि हैं—आत् (आ) और ऐच् (ऐ, औ)।]
आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—आत् (आ) और एच् (ऐ-औ) की 'वृद्धि' सं
होती है।

व्याख्या—ध्यातव्य है, कि 'आत् और ऐच्' तपर हैं, अतः 'तपरस्तत्का
स्य' सूत्र से तन्मात्रक मात्र के बोधक होंगे। अतः 'वृद्धिरादैच्' के अन्त
परिगणित केवल दीर्घ 'आ, ऐ, और औ' की ही वृद्धि संज्ञा होगी, उनके तत्त
दोषभेदों की नहीं। यह 'वृद्धि' संज्ञा विधायक सूत्र है। यह 'अष्टाध्यायी'
प्रथम सूत्र है, जिसमें प्रयुक्त 'वृद्धि'—पद से महर्षि पाणिनि ने मङ्गला

की परम्परा का पालन किया है। यद्यपि उद्देश्य होने से 'आदैच्' का प्रयोग पहले किया जा सकता था, और सूत्र 'आदैच् वृद्धिः' के रूप में कहा जा सकता था, किन्तु वैयाकरणोचित संक्षिप्त मङ्गलाचरणार्थं 'वृद्धि' को पहले पढ़ा गया और 'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' का पालन महर्षि ने नहीं किया, क्योंकि "मङ्गलादीनि······शास्त्राणि प्रथन्ते·········· सिद्धार्थाः स्युः।"

—(महाभाष्य)

'प्रार्च्छति तथा प्राल्कारीयति' आदि प्रयोगों में 'ऋ' और लृ' के स्थान पर विहितव्य 'आ' रूप वृद्धिरेकादेश 'उरण् रपरः' के बल से 'रपर' (रपर-लपर) अर्थात् 'आर्' और 'आल्'—रूपों में ही प्रवृत्त होगा।

३३. वृद्धिरेचि ६।१।८८

वृद्धिः (प्र० ए०) एचि (स० ए०)

[एच् (ए, ओ, ऐ, औ) बाद में आने पर वृद्धि (होती है)।]

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। गुणापवादः। कृष्णैकत्वम्, गङ्गौघः, देवैश्वर्यम्, कृष्णौत्कण्ठ्यम्।

हिन्दी अनुवाद—(किसी भी प्रकार के) अ के पश्चात् एच् (ए, ओ, ऐ, औ) की प्राप्ति होने पर पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जायगा। (यह) गुण का अपवाद (है)। (उदाहरणार्थ-) कृष्णैकत्वम्, गङ्गौघः, देवैश्वर्यम् कृष्णौत्कण्ठ्यम्।

व्याख्या—यह वृद्धिसन्धि विधायक सामान्य सूत्र है। इसके अनुसार यदि अ या आ के पश्चात् 'एच'-प्रत्याहार के वर्ण अर्थात् 'ए, ओ, ऐ, औ' आवें, तो 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से अ और ए तथा ऐ' के स्थान पर 'ऐ' और 'अ और ओ तथा औ' के स्थान पर 'औ' वृद्धि एकादेश हो जायेगा।

प्रकृत सूत्र 'आद्गुणः' का अपवाद है, क्योंकि 'आद्गुणः' के अनुसार अ के पश्चात् कोई अच् (एच् आदि भी) आने पर गुण एकादेश होगा किन्तु 'वृद्धिरेचि' के अनुसार 'एच्' प्रत्याहार के वर्णों के बाद में आने पर 'वृद्धि' होगी, 'गुण' नहीं। अतः यह गुण का अपवाद सिद्ध हुआ। यह गुण के क्षेत्र को सीमित करता है। इस प्रकार 'एच्' के अतिरिक्त अन्य अचों (स्वरों) के आने पर निर्बाध रूप से पूर्ववत् गुण होता रहेगा, किन्तु 'एच्' के आने पर 'वृद्धि' होगी, 'गुण' नहीं। इस प्रकार बाद में सम्पूर्ण 'अच्' की प्राप्ति में यदि गुण माना जाय,

तो वृद्धि के लिये अवकाश नहीं रह जायगा, अत: यह 'निरवकाशोविधिरपवाद: के नियमानुसार अपवादसूत्र सिद्ध होता है, और सामान्य नियम को अपने क्षे में वारित कर देता है। उदाहरणार्थ—

साधुत्व-प्रक्रिया

(१) कृष्णैकत्वम्—'कृष्ण+एकत्वम्'—इस स्थिति में णकारोत्तरवर्ती 'अकार' के पश्चात् एकत्वम् का 'एकार' रूप अच् की प्राप्ति होने पर आद्गुण: से गुण प्राप्त हुआ, किन्तु यत: एकार 'एच' है, अत: उसे वारित कर वृद्धिरेचि सूत्र से पूर्वपर के स्थान पर 'वृद्धि'—एकादेश करने पर—

अब 'वृद्धिरादैच्' में पठित 'आ, ऐ, औ'—में से कौन सी वृद्धि की जाय? इस आशंका का निदान 'स्थानेऽन्तरतम:' सूत्र के सहकार से—यत: अकुहविसर्जनीयानां कण्ठ:' के अनुसार 'अ' कण्ठस्थानीय है, और 'एदैतो कण्ठतालु' के अनुसार 'ए' कण्ठतालु स्थानीय है, अत: इन दोनों के स्थान पर विहितव्य आदेश भी कण्ठतालुस्थानीय होना चाहिए अत: 'ऐ' वृद्धि कण्ठतालुस्थानीय है, अत: वही सदृशतम और विहितव्य सिद्ध हुआ और शेष निरस्त हो गए। अत: 'ऐ' वृद्धिकादेश करने पर—

कृष्ण+अ+ए+कत्वम्

=कृष्ण्+अ+ए='ऐ'+कत्वम्

(कण्ठ्य+कण्ठतालव्य=कण्ठतालव्य)

='कृष्ण+ऐ+कत्वम्'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'कृष्णैकत्वम् रूप व्युत्पन्न हुआ।

(२) गङ्गौघ—'गंगा+ओघ:'—इस स्थिति में यत: गकारोत्तरवर्ती 'आकार' के पश्चात् ओघ: का 'ओकार' रूप अच् प्राप्त हो रहा है, अत: 'आद्गुण:' से गुण एकादेश प्राप्त होने पर यत: ओ 'एच्' भी है, अत: प्राप्त गुण को 'वृद्धिरेचि' सूत्र से वारित कर वृद्धि एकादेश करने पर—सम्प्रति 'वृद्धिरादैच्' में पठित 'आ, ऐ, औ' में से 'स्थानेन्तरतम:' के सहकार से 'अकुहविसर्जनीयनां कण्ठ:' के अनुसार कण्ठस्थानीय 'आकार' और 'ओदौतो: कण्ठोष्ठम' के अनुसार कण्ठोष्ठ्य 'ओकार' के स्थान पर सदृशतम कण्ठोष्ठ्य 'औ' वृद्धिरेकादेश का विधान और केवल कण्ठ्य 'आ' तथा कण्ठतालव्य 'ऐ' का निषेध करने पर—
गंगा+ओघ:

=गंग्+आ+ओ+घः

=गंग्+आ+ओ='औ' (वृद्धि रेकादेश)+घः
(कण्ठ्य+कण्ठौष्ठ्य=कण्ठौष्ठ्य)

='गंग्+औ+घः'—इस स्थिति में अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'गंगौघः' प्रयोग निष्पन्न हुआ।

(३) देवैश्वर्यम्—'देव+ऐश्वर्यम्'—इस स्थिति में यतः वकारोत्तरवर्ती 'अकार' के पश्चात् ऐश्वर्यम् के 'ऐ' कार रूप अच् प्राप्त हो रहा है, अतः 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त हुआ, किन्तु यतः 'ऐ' 'एच' भी है, अतः 'वृद्धिरेचि' सूत्र से गुण को बाधित कर वृद्धिरेकादेश करने पर—सम्प्रति 'वृद्धिरादैच' में परिगणित 'आ, ऐ, औ' रूप वृद्धित्रय में से 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र के सहकार से 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठ.' के अनुसार कण्ठ्य 'अकार' और 'एदैतोः कण्ठतालु' के अनुसार कण्ठतालव्य 'ऐ' के स्थान पर सदृशतम 'ऐ' वृद्धिरेकादेश का विधान और केवल कण्ठ्य 'आ' और 'ओदौतोः कण्ठोष्ठम्' के अनुसार कण्ठौष्ठ्य 'औ' का निषेध करने पर—

देव+ऐश्वर्यम्

=देव् अ+ऐ+श्वर्यम्

=देव् अ+ऐ='ऐ' (वृद्धिरेकादेश)+श्वर्यम्
(कण्ठ्य+कण्ठतालव्य=कण्ठतालव्य)

='देव्+ऐ+श्वर्यम्'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यंजनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण-संयोग करने पर 'देवैश्वर्यम्' रूप अभीष्ट प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

(४) कृष्णौत्कण्ठ्यम्—'कृष्ण+औत्कण्ठ्यम्'—इस स्थिति में यतः णकारोत्तरवर्ती 'अकार' के पश्चात् 'औ' रूप 'अच्' की प्राप्ति हो रही है, अतः यहां 'आद्गुणः' से गुण एकादेश प्राप्त होता है, किन्तु यतः 'औ' एच् भी है, अतः 'वृद्धिरेचि' से गुण को वारित कर वृद्धिरेकादेश करने पर—सम्प्रति 'वृद्धिरादैच्' में पठित 'आ' ऐ, औ, रूप वृद्धित्रय में से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार कण्ठस्थानीय 'अकार' और 'ओदौतोः कण्ठोष्ठम्' के अनुसार कण्ठौष्ठ्य 'औ' के स्थान पर सदृशतम कण्ठौष्ठ्य 'औ' वृद्धिरेकादेश का विधान और केवल कण्ठ्य आकार तथा 'एदैतोः कण्ठतालु' के अनुसार कण्ठतालव्य 'ऐ' का निषेध करने पर—

कृष्ण + औत्कण्ठ्यम्

=कृष्ण + अ + औ + त्कण्ठ्यम्

=कृष्ण् अ + औ = 'औ' (वृद्धिरेकादेश) + त्कण्ठ्यम्

(कण्ठ्य + कण्ठोष्ठ्य = कण्ठोष्ठ्य)

='कृष्ण् + औ + त्कण्ठ्यम्'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परे संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'कृष्णौत्कण्ठ्यम्' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ ।

३४. एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९

एत्येधत्यूठ्सु (स० व०)=एति + एधति + ऊठ्सु

[एति, एधति, ऊठ् बाद में होने पर (भी) (वृद्धिरेकादेश होगा)]

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेका देशः स्यात् । पररूपगुणाप वादः । उपैति, उपैधते, पृष्ठौहः ।

हिन्दी अनुवाद—अवर्ण से परे एजादि एति, ऐधति और ऊठ् आ पर पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धिरेकादेश हो जाता है । (यह) पररूप तथा गुण अपवाद (है) । (यथा—) उपैति, उपैधते (तथा) प्रष्ठौहः ।

व्याख्या—यदि अकार के पश्चात् एजादि √इण् (गतौ) का 'एति' औ √एध् का 'एधति' रूप तथा √ऊठ् का 'ऊहः' प्राप्त हो, तो वहाँ भी अ सन्धियाँ वारित हो जायेंगी और 'वृद्धिरेकादेश होगा । उदाहरणार्थ—'उपैति प्रयोग में 'उप + एति'—इस स्थिति में यतः णकारोत्तरवर्ती 'अकार' के पश्चा एजादि 'एति' पद प्राप्त हो रहा है, अतः प्रकृत सूत्र से वृद्धिरेकादेश हो 'उपैति' प्रयोग बनेगा और पररूप निषिद्ध हो जायगा । इसी प्रकार 'उपै तथा प्रष्ठौहः' प्रयोगों में भी वृद्धिरेकादेश हुआ है, और क्रमशः पररूप तथा गु का निषेध किया गया है ।

यह सन्धि पररूप तथा गुण का अपवाद है, क्योंकि 'उपैति तथा उपै प्रयोगों में 'एङि पररूपम्' सूत्र से अकारान्त उपसर्ग 'उप' के पकारोत्तरव 'अकार' के पश्चात् एङादि 'एति' की प्राप्ति के कारण पररूप एकादेश प्रा था, अतः 'उपेति' रूप बनता, किन्तु उसे वारित कर इस सूत्र से वृद्धिरेका किया ।

इसी प्रकार अकारान्त 'उप' उपसर्ग के पकारोत्तरवर्ती 'अकार' औ एङादि एधते के 'ए' कार के स्थान पर भी पररूप प्राप्त था और पररूप क

र 'उपेधते' रूप बनता, किन्तु उसे इसी सूत्र से वारित कर वृद्धिरेकादेश करने पर 'उपैधते' प्रयोग निष्पन्न हुआ।

'प्रष्ठ+ऊहः' प्रयोग में ठकारोत्तरवर्ती 'अकार' और ऊहः के 'ऊकार' के स्थान पर 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त था और इस प्रकार 'प्रष्ठोहः' रूप व्युत्पन्न होता, किन्तु उसे वारित कर इसी सूत्र से वृद्धिरेकादेश करने पर 'प्रष्ठौहः' प्रयोग व्युत्पन्न होता है। अतः यह पररूप तथा गुण का अपवाद सिद्ध होता है। यतः यह सन्धि केवल 'उपैति तथा उपैधते और प्रष्ठौहः' तक ही सीमित है, शेष स्थलों पर पररूप तथा गुण निर्बाध रूप से होंगे, अतः यह सूत्र 'निरवकाशो विधिपरवादः'—परिभाषा को अन्वर्थं करता है। इस प्रकार यह सूत्र इन प्रयोगों में प्राप्त पररूप तथा गुण को वारित कर वृद्धि का विधान करेगा। यदि पररूपादि का निषेध न किया जाय, तो यह सूत्र व्यर्थं हो जाएगा।

एजाद्योः किम् ? उपेतः, मा भवान् प्रेदिधत्।

हिन्दी अनुवाद—(वृत्ति में) एजादि (विशेषण) का प्रयोग क्यों किया गया ? 'उपेतः और मा भवान् प्रेदिधत' (आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिये)।

व्याख्या—'इण्' और 'एध्' धातु के उदाहरणों 'उपैति और उपैधते' का जहाँ तक प्रश्न है, यदि 'एजादि' विशेषण वृत्ति में न रखा गया होता, तो भी इन स्थलों पर वृद्धि हो जाती। अतः इसकी क्या आवश्यकता है ? यह आशंका होने पर समाधान, स्वरूप कहा जा सकता है कि—"सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्" अर्थात् सम्भव और व्यभिचार से ही विशेषण सार्थक होता है। अतः विशेषण वही हो सकता है, जो हो भी और न भी हो। जैसे—'रक्तः, अश्वः' वाक्य में 'रक्तः' अश्वः का विशेषण इसलिये हो सकता है, क्योंकि रक्त (लाल) अश्व होता भी है और श्वेत, काले आदि रंगों के भी घोड़े होते हैं, अर्थात् घोड़े लाल नहीं भी होते। अतः एजादि विशेषण इसलिए सार्थक है, क्योंकि एजादि 'इण् तथा एध्' होती भी हैं, और नहीं भी होतीं, जैसे—'इतः' और 'इदिधत्'। अतः यदि एजादि विशेषण का पाठ न किया गया होता, तो एजादि न होने पर भी इण् और एध् की प्राप्ति में भी अनभीष्ट वृद्धि होने लगती। अतः उस अनिष्ट से बचने के लिये वृत्ति में एजादि पाठ परमावश्यक था, अन्यथा 'उप+इतः'—इस स्थिति में भी प्रकृत सूत्र से वृद्धि होकर 'उपैतः' अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग व्युत्पन्न होने लगता, और इसी प्रकार 'मा भवान् प्रेदिधत्' के स्थान पर 'प्र+इदिधत्'—इस स्थिति में वृद्धि होकर अशुद्ध

अर्थात् 'मा भवान् प्रौदिधत्' होने लगता। अतः इस अशुद्धता से बचने के लि 'एजादि' पाठ आवश्यक था। इस प्रकार इन स्थलों पर 'आद् गुणः' से होगा और गुण की दृष्टि से 'एजादि' पाठ अनिवार्य था।

(वा०) अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्

अक्षात् (पं० ए०) ऊहिन्याम् (स० ए०) उपसङ्ख्यानम् (प्र० ए०)

हिन्दी अनुवाद—'अक्ष्' शब्द के पश्चात् 'ऊहिनी' बाद में आने पर (पू पर के स्थान पर) वृद्धि का उपसङ्ख्यान (विस्तार) (समझें)।

व्याख्या—महर्षि पाणिनि ने 'प्रष्ठौहः' की सिद्धि के लिये तो 'एत्येधत्यूठ् सूत्र की व्यवस्था की, किन्तु 'अक्षौहिणी' की साधुत्व-प्रक्रिया की उक्त सूत्र कोई व्यवस्था नहीं थी, अतः लोकभाषा में प्रचलन की दृष्टि से मह कात्यायन ने प्रकृत वार्तिक से इसकी सिद्धि को व्यवस्थित किया।

साधुत्व-प्रक्रिया

अक्षौहिणी—'अक्ष + ऊहिनी'—इस स्थिति में क्षकारोत्तरवर्ती 'अकार' पश्चात् 'ऊहिनी' पद आने पर 'आद्गुणः' से गुणैकादेश प्राप्त था, किन्तु उ प्रकृत वार्तिक 'अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्' से बाधित कर वृद्धि का उपसङ ख्यान करने पर 'वृद्धिरादैच्' में पठित 'आ, ऐ औ'—इन वृद्धित्रय में 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र के सहकार से 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसा कण्ठ्य क्षकारोत्तरवर्ती 'अकार' और 'उपूपध्मानीयानामोष्ठौ' के अनुसार ओष्ठ्य ऊहिनी के 'ऊ' के स्थान पर 'ओदौतोः कण्ठोष्ठम्' के अनुसार काण्ठोष्ठ्य सदृशतम 'औ' वृद्धिरेकादेश का विधान और केवल कण्ठ्य 'आ' तथा 'एदैतो कण्ठतालु' के अनुसार कण्ठतालव्य 'ऐ' का निषेध करने पर—

अक्ष + ऊहिनी

=अक्ष् + अ + ऊ + हिनी

=अक्ष् + अ + ऊ='ओ' गुणैकादेश प्राप्ति, किन्तु उसक निषेध—

अक्ष् + अ + ऊ ='औ' (वृद्धिरेकादेश) + हिनी

(काण्ठ्य + ओष्ठ्य = कण्ठौष्ठ्य)

='अक्ष् + औ + हिनी'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'अक्षौहिनी'—इस स्थिति

र्व-पदात्संज्ञायामगः' सूत्र से 'न्' के स्थान पर णकार करने पर 'अक्षौहिणी' प व्युत्पन्न हुआ। 'अक्षौहिणी' एक विशिष्ट सेना को कहते हैं। सका वर्णन निम्नवत् मिलता है—

"अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खांगाष्टैकाद्विकैर्गजैः।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नै पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः॥"

अर्थात् जिस सेनांग में २१८७० हाथी, २१८७० रथ, ६५६१० अश्व र १०९३५० पदाति सैनिक होते हैं, उसे 'अक्षौहिणी' की संज्ञा में अभिहित ते हैं।

(वा०) प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु। प्रौहः। प्रौढ़ः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः।

प्रात् (पं० ए०) ऊहोढोढ्येषैष्येषु (स० ब०)

=प्रात्+ऊह+ऊढ+ऊढि+एष+एष्येषु

हिन्दी अनुवाद—'प्र' उपसर्ग के पश्चात् ऊह, ऊढ, ऊढि, एष, एष्य शब्दों आने पर (भी पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धिरेकादेश हो जायेगा।) जैसे—प्रौहः, : प्रौढिः, प्रैषः, और प्रैष्यः।

व्याख्या—'प्र' उपसर्ग के पश्चात् यदि ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य द पद आवें, तो प्राप्त गुण तथा पररूप आदि सन्धियाँ वारित हो जायेंगी पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धिरेकादेश हो जायेगा। महर्षि कात्यायन ने लोक-हार में इन शब्दों में वृद्धि के प्रचलन को वैधता देने तथा गुण के निषेध के ही प्रकृत वार्तिक की रचना की। जैसे—'प्र+ऊहः'—इस स्थिति में रकारो-वर्ती 'अकार' और ऊहः के 'ऊकार' के मध्य 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त हुआ उससे अशुद्ध 'प्रोहः' रूप व्युत्पन्न होने लगा, किन्तु उसे इसी वार्तिक से त कर वृद्धिरेकादेश होकर शुद्ध 'प्रौहः' रूप बनता है, इसी प्रकार 'प्रौढः प्रौढिः' में भी वृद्धि होगी गुण नहीं।

साथ ही, 'प्र+एषः'—इस स्थिति में रकारोत्तरवर्ती 'अकार' और एषः कार' के मध्य 'वृद्धिरेचि' प्राप्त वृद्धि को वारित कर 'एङि पररूपम्' से रूप प्राप्त होने पर 'प्रेषः' अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग बनने लगता है, : उसे इसी वार्तिक से वारित कर वृद्धिरेकादेश करने पर 'प्रैषः' प्रयोग न्न होता है। इसी प्रकार 'प्र+एष्यः=प्रैष्यः' में भी प्राप्त पररूप वारित र वृद्धिरेकादेश होता है।

साधुत्व-प्रक्रिया

(i) प्रौहः—'प्र+ऊहः'—इस स्थिति में रकारोत्तरवर्ती 'अकार' और
कार के मध्य 'आद् गुणः' से गुण एकादेश प्राप्त होता है, और 'प्रोहः'
अनभीष्ट तथा अशुद्ध प्रयोग बनने लगता है, फलतः उसे इसी वार्तिक '
होढोढ्येषैष्येषु' से वारित कर पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धिरेकादेश करने
'वृद्धिरादैच्' सूत्र में परिगणित 'आ, ऐ, और औ' रूप वृद्धित्रय में से 'स्थाने
तमः' सूत्र के सहकार से 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार कण्ठ्म र
त्तरवर्ती अकार और 'उपूपध्मानीयानामोष्ठौ' के अनुसार ओष्ठ्य 'ऊकार
स्थान पर केवल कण्ठ्य 'आ' तथा 'एदैतोः कण्ठतालु के अनुसार कण्ठत
'ऐ' का निषेध और 'ओदौतोः कण्ठोष्ठम्' के अनुसार सदृशतम कण्ठोष्ठ्य
वृद्धिरेकादेश करने पर—

प्र+ऊहः

=प्र्+अ+ऊ+हः

=प्र्+अ+ऊ='ओ' (गुणैकादेश)+हः, (किन्तु निषेध)

=प्र्+अ+ऊ='औ' (वृद्धिरेकादेश) (प्रादूहो···इत्यादि से

(कण्ठ्य+ओष्ठ्म=कण्ठोष्ठ्य)

='प्र्+औ+हः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यंजनं) परेण सं
से वर्णसंयोग करने पर 'प्रौहः' रूप व्युत्पन्न होगा।

(ii) प्रौढः—'प्र+ऊढः' इस स्थिति में रकारोत्तरवर्ती 'अकार
'ऊ' कार के मध्य 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त होने पर 'प्रोढ़ः' अशुद्ध औ
भीष्ट प्रयोग व्युत्पन्न होने लगता है, अतः उसे प्रकृत वार्तिक 'प्रादूहोढोढ्
से निषिद्ध कर वृद्धिरेकादेश का विधान, सम्प्रति कण्ठ्य 'अ' और
'ऊकार' के स्थान पर 'वृद्धिरादैच्' में परिगणित 'आ, ऐ, औ' में
कण्ठस्थानीय 'आ' कण्ठतालव्य 'ऐ' का निषेध और कण्ठोष्ठ्य 'औ' रू
तम वृद्धि रेकादेश—

प्र+ऊढः

=प्र् अ+ऊ+ढः

=प्र्+अ+ऊ='ओ' (गुणैकादेश)+ढः (किन्तु उसका

=प्र+अ+ऊ='औ' (वृद्धिरेकादेश) (का प्रादूहो···इत्यादि से विधान)
+ढः

(कण्ठ्य+ओष्ठ्य=कण्ठौष्ठ्य)

='प्र्+औ+ढः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्
वर्ण संयोग करने पर प्रौढः रूप व्युत्पन्न होगा ।

(iii) 'प्रौढिः' की साधुत्व प्रक्रिया 'प्रौढ' की भाँति ही समझें।

(iv) प्रैषः—'प्र+एषः' इस स्थिति में 'आदगुणः' से प्राप्त गुण को
रित कर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि प्राप्त हुई, जिसे 'एङि पररूपम्' से वारित
पररूप प्राप्त होने पर अभीष्ट और अशुद्ध रूप 'प्रेषः' व्युत्पन्न होने लगता
अतः प्रकृत वार्तिक 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु से पररूप को वारित कर पुनः
द्धिरेकादेश विहित करने पर 'वृद्धिरादैच्' में परिगणित 'आ, ऐ, औ' रूप
द्धित्रय में से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से रेफोत्तरवर्ती 'अकुहविसर्जनीयानां
ठः' के अनुसार कण्ठम 'अकार' और एदैतोः कण्ठतालु' के अनुसार कण्ठ-
लव्य 'एकार' के स्थान पर केवल कण्ठ्य 'आ' तथा 'ओदौतोः कण्ठोष्ठम्' के
सार कण्ठौष्ठ्य 'औ' का निषेध और सदृशतम कण्ठतालव्य वृद्धि 'ऐ' का
धान करने पर—

प्र+एषः

=प्र्+अ+ए+षः

=प्र्+अ+ए='ए' (गुणैकादेश, किन्तु उसका निषेध)+षः

=प्र्+अ+ए='ऐ' ('वृद्धिरेचि' से वृद्धिरेकादेश, किन्तु उसका भी
धो+षः)

=प्र्+अ+ए='ए' (पररूप एकादेश, किन्तु उसका भी निषेध)+षः

=प्र्+अ+ए='ऐ' (प्रादूहो···इत्यादि से वृद्धिरेकादेश का विधान)
+षः

='प्र्+ऐ+षः' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' के
सार वर्ण संयोग करने पर 'प्रैषः' रूप अभीष्ट प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

(v) 'प्रैष्यः' की साधुत्व-प्रक्रिया ठीक 'प्रैषः' की ही प्रतिरूपवत् है, अतः
को नहीं लिखा जा रहा है।

(वा०) ऋते च तृतीयासमासे—सुखेन ऋतः सुखार्तः

ऋते (स० ए०) च (अव्यय) तृतीया समासे (स० ए०)

हिन्दी अनुवाद—तृतीया (तत्पुरुष) समास की दशा में भी (अ पश्चात्) 'ऋत' शब्द आने पर (पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धिरेकादेश हो (उदाहरणार्थ—) सुखेन ऋतः सुखार्तः ।

व्याख्या—यह तृतीया समास में ऋत के बाद में आने पर वृद्धिवि वार्तिक है। लोकव्यवहार में प्रचलित वृद्धि को वैधता तथा शुद्धता प्रदान के लिए महर्षि कत्यायन ने गुण के निषेध और वृद्धि के विधान के लिए वार्तिक की व्यवस्था दी। तृतीया तत्पुरुष समास के प्रकरण में अ पश्चात् 'ऋत'—पर प्राप्त होने पर भी पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि होगा, गुण नहीं। उदाहरणार्थ—

साधुत्व-प्रक्रिया

'सुखेन ऋतः सुखार्तः'—इस प्रयोग में "संहितैकपदे नित्या"— वाक्यानुसार समास की दशा में सन्धि की नित्यता की स्थिति में 'सुख+ —इस दशा में तृतीया तत्पुरुष घटक खकारोत्तरवर्ती 'अकार' और ऋ 'ऋकार' के मध्य 'आद्गुणः' सूत्र से गुण एकादेश प्राप्त होकर 'सुखर्तः' बनने लगा, किन्तु प्रकृत वार्तिक 'ऋते च तृतीया समासे' से निषेध औ रेकादेश का विधान करने पर-सम्प्रति 'स्थानेऽन्तरतम' के सहक 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार कण्ठ्य 'अ' और 'ऋटुरषा के अनुसार मूर्धन्य 'ऋ' के स्थान पर 'वृद्धिरादैच्' में परिगणित 'आ, रूप वृद्धित्रय में से कण्ठ्य 'आ' का विधान और 'एदैतो कण्ठतालु' के कण्ठतालव्य 'ऐ' तथा 'ओदौतोः कण्ठोष्ठम्' के अनुसार कण्ठोष्ठ्य निषेध करने पर वृद्धिरेकादेश रूप 'आ' अण् यतः 'ऋ' के स्थान पर हो अतः 'उरण् रपरः' और 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'रपर होकर 'आर्' रूप में ही प्रवृत्त होगा, अतः सदृशतम कण्ठमूर्धन्य 'आर्' आदे पर—

सुख+ऋतः

=सुख्+अ+ऋ+तः

=सुख् अ+ऋ='अर्' (गुणैकादेश)+तः (किन्तु उसका निषे

=सुख्+अ+ऋ='आर्' (वृद्धिरेकादेश)+तः
(कण्ठ्य+मूर्धन्य=कण्ठमूर्धन्य)

='सुख्+आर्+तः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण ोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'सुखार्तः' अभीष्ट प्रयोग निष्फल हुआ।

तृतीयेति किम् ? परमर्तः

हिन्दी अनुवाद—(वार्तिक के अनुवन्ध स्वरूप समास के विशेषणवत्) तीया' पद का प्रयोग क्यों किया गया ? [यदि 'समासे' ही रखते, तो क्या त्तर (अनिष्ट) होता।] (उत्तर—) 'परमर्तः' (आदि में अभीष्ट गुण का धान और अनभीष्ट वृद्धि का निषेध करने के लिए 'तृतीया' विशेषण वश्यक था।)

व्याख्या—'ऋते च तृतीयासमासे'—इस वार्तिक में समासे के साथ नुवन्ध स्वरूप 'तृतीया' पद का प्रयोग क्यों किया गया ? यदि केवल 'समासे' रखते, तो क्या हानि होती ? इस प्रकार की आशङ्काओं के समाधानार्थ यह र्क दिया जा सकता है, कि यदि तृतीया न रखते, तो समास के प्रकरण में र्वत्र अनिवार्यतः वृद्धि होती, और इस प्रकार अनभीष्ठ प्रयोग बनते। इस कार इस अनिष्ट से बचने के लिए और अभीष्ट गुण के विधानार्थ 'तृतीया' द अनिवार्य था। उदाहरणार्थ—'परमश्चासौ ऋतः' इस विग्रह में कर्मधारय मास के कारण सन्धि की नित्यता की स्थिति में 'परम+ऋतः'—इस स्थिति भी यदि 'तृतीया' पद का प्रयोग वर्तिक में न होता, तो 'वृद्धि' रेकादेश ने लगता और 'आदगुणः' से प्राप्त गुणैकादेश वारित हो जाता है और रमार्तः' रूप अनभीष्ट और अशुद्ध प्रयोग व्युत्पन्न होने लगता, फलतः इस निष्ट (हानि) से बचने के लिए और गुण के विधानार्थ 'तृतीया' पद का योग आवश्यक था। फलतः 'परम+ऋतः'—इस स्थिति में मकारोत्तरवर्ती कार' और ऋतः के 'ऋकार' के मध्य 'आदगुणः, अदेङ्गुणः, स्थानेऽन्तरतमः था उरण् रपरः' के सहकार से 'अर' गुण होकर 'परमर्त' रूप बनता है।

(वा०) प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे

प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानाम् (ष० ब०) ऋणे (स० ए०)

हिन्दी अनुवाद—प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण, और दश घटक (अकार) पश्चात् 'ऋण' पद आने पर (भी पूर्वपर के स्थान पर वृद्धिरेकादेश होगा)। जैसे—) प्रार्णम्, वत्सतरार्णमित्यादि।

व्याख्या– यद्यपि प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण तथा दश के पर
ऋण आने पर पाणिनीय व्याकरणशास्त्र के अनुसार गुण सन्धि होनी चा
थी, किन्तु भाषा में लोक व्यवहार में इसके विपरीत 'वृद्धि' सन्ध्यन्त शब्दो
प्रयोग हो रहा था, अतः महर्षि कात्यायन ने प्रकृत वार्तिक द्वारा वृद्धि
व्यवस्था करके लोक-व्यवहार में प्रचलित वृद्ध्यन्त पदों को शुद्ध घो
किया। यह भी सम्भव है, कि पाणिनि के समय तक गुणान्त पदों का प्र
होता रहा हो और बाद में पाणिन्योत्तर काल में वृद्ध्यन्त का प्रयोग होने
हो। इस प्रकार इन पूर्योक्त शब्द घटक अकार के पश्चात् 'ऋण' शब्द
पर पूर्व-पर के स्थान पर गुण का निषेध कर वृद्धिरेकादेश होगा। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

(i) **प्रार्णम्**—'प्र+ऋणम्'—इस स्थिति में 'आद्गुणः' से गुण
होने पर अनभीष्ट 'प्रर्णम्' प्रयोग सिद्ध होने लगता है, किन्तु उसे
'प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे' वार्तिक से पूर्व-पर रेफोत्तरवर्ती 'अ
और 'ऋकार' के स्थान पर वृद्धिरेकादेशसम्प्रति 'वृद्धिरादैच्' में परि
'आ, ऐ, औ, रूप वृद्धित्रय में से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहयोग से परिशे
'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार कण्ठ्य 'अकार और 'ऋटुरषाणां
के अनुसार मूर्धन्य ऋकार के स्थान पर कण्ठ्य 'आ' का विधान
'एदैतोः कण्ठतालु' के अनुसार कण्ठतालव्य 'ऐ' और 'ओदौतोः कण्ठोष्ठम्
अनुसार कण्ठोष्ठ्य 'औ' का निषेध करने पर—

प्र+ऋणम्
=प्र्+अ+ऋ+णम्
=प्र्+अ+ऋ='अर्' (गुणैकादेश)+णम्, किन्तु उसका नि

='प्र्+अ=ऋ='आ' वृद्धिरेकादेश+णम्'—इस स्थिति में
(कण्ठ्य+मूर्धन्य=कण्ठ्य)आ-अण् आदेश ऋ के स्थान पर हो रहा है,
'उरण् रपरः' सूत्र से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से वह 'रपर' हो
प्रवृत्त होगा, अतः कण्ठमूर्धन्य सदृशतम वृद्धिरेकादेश 'आर्' करने पर—

'प्र्+आर्+णम्'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयो
के अनुसार वर्ण संयोग करने पर 'प्रार्णम्' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ। इसी प्रका

(ii) वत्सतरार्णम्, वार्तिक में प्रयुक्त (iii) वसनार्णम् तथा (iv) द
(म्) आदि प्रयोग भी बनेंगे।

३५. उपसर्गाः क्रियायोगे १।४।५९

उपसर्गाः (प्र० ब०) क्रियायोगे (स० ए०)

(क्रिया के योग में उपसर्ग संज्ञा होती है।)

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः। प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप—एते प्रादयः।

हिन्दी अनुवाद—क्रिया के योग में प्रादि (प्र, परा अप आदि) की उपसर्ग-संज्ञा होती है। प्र, परा, अप, सम्, अउ, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, और उप—ये प्रादि हैं।

व्याख्या—प्र-आदि की क्रिया के योग में ही 'उपसर्ग' संज्ञा होती है, अर्थात् जब ये प्र-आदि क्रिया के साथ प्रयुक्त होते हैं, तभी इनकी 'उपसर्ग' संज्ञा होती है। अतः स्पष्ट है, कि उपसर्गता के लिए क्रियायोग अनिवार्य अनुबन्ध है। यदि प्र-आदि क्रिया के साथ प्रयुक्त होते हैं, तो इनकी इसी सूत्र से 'उपसर्ग' संज्ञा और 'गतिश्च' से 'गति'-संज्ञा होती है, और जब ये प्रातिपदिक के साथ प्रयुक्त होते हैं, अथवा स्वतन्त्र या एकाकी होते हैं, तो 'प्रादयः' से 'निपात'-संज्ञा मात्र होगी। इनकी संख्या वृत्तिकार ने वाईस बतायी है। इनके विषय में निम्नाङ्कित कारिका स्मरणीय है—

"प्रविपरापसमन्ववनिर्निसो दुरति दुष्प्रति सूदधि पर्यपि।
(तदनु) चाङभिनी उप विंसतिर्द्विसहितेत्युपसर्ग समाह्वयाः॥"

इसे 'उपसर्ग'-संज्ञाविधायक सूत्र समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—'प्रति-गच्छति' में 'गम्'-क्रिया के योग में 'प्रति' की 'उपसर्ग'- संज्ञा होगी।

३६. भूवादयो धातवः १।३।१

भूवादयः (प्र० ब०) धातवः (प्र० बहु०)

[भूवादि (क्रियावाची भू आदि) धातुएं हैं (की 'धातु' संज्ञा होती है)]

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः।

हिन्दी अनुवाद—क्रियावाची भू-आदि की 'धातु'-संज्ञा होती है।

व्याख्या—प्राचीन वैयाकरणों ने 'भूवादयः' की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—भूश्च वाश्च भूवौ (द्वन्द्व) आदिश्च आदिश्च आदि, भुवौ आदी, बहुवचने

आदयः, भूवादयः। यहाँ 'वा' का अर्थ चलना आदि क्रिया है। इस प्र
'भूवादयः' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ 'क्रियावाची भू-आदि'। अतः सूत्र
ने पृथ्वीवाची 'भू' का निषेध करने के लिए ही सूत्र में 'वा' का क्रियावाचि
प्रयोग किया है। अतः केवल क्रियावाची भू-आदि की ही 'धातु'-संज्ञा हो
अन्य अर्थों में प्रयुक्त भू-आदि की 'धातु'-संज्ञा नहीं होगी, अन्यथा तन्निमि
कार्य होने लगेंगे। धातु पाठ में सर्व प्रथम 'भू' का उल्लेख होने से धातुओं
लिए 'भू-आदि' कहा गया है। उदाहरणार्थ—'भवति' प्रयोग में 'भू' क्रि
वाची है, अतः इसकी 'धातु' संज्ञा होगी।

३७. उपसर्गादृति धातौ ६।१।९१

उपसर्गात (पं० ए०) ऋति (स० ए०) धातौ (स० ए०)

[(अवर्णान्त) उपसर्ग के पश्चात् ऋकारादि धातु आने पर भी पूर्व-पर
स्थान पर वृद्धिरेकादेश हो जायेगा।)]

अवर्णान्तादुपसर्गा दृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेका देशः स्यात्। प्रार्च्छति।

हिन्दी अनुवाद—अवर्णान्त उपसर्ग के पश्चात् ऋकारादि धातु आने
(भी) वृद्धिरेकादेश होगा, (जैसे-) प्रार्च्छति।

व्याख्या—यदि अवर्णान्त (उप, अव, अप, परा, प्र आदि) उपसर्गों
पश्चात् 'ऋच्छति' आदि ऋकारादि धातुएँ प्राप्त हों, तो वहाँ भी प्रकृत
से वृद्धिरेकादेश होगा, गुण नहीं। द्रष्टव्य है, कि 'ऋत' में पठित ऋकार ह्र
है, अतः वह 'तपस्तत्कालस्य' सूत्र के अनुसार केवल ह्रस्व का ही बोधक हो
अतः प्रकृत सूत्र का अर्थ होगा, अवर्णान्त उपसर्ग से परे ह्रस्व ऋकारादि ध
आने पर ही वृद्धिरेकादेश होगा, तदितर अन्य दीर्घ प्लुत आदि ऋकारादि
आने पर नहीं। 'ऋति धातौ' में प्रयुक्त सप्तमी द्वारा वृद्धिनिर्देश के का
'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' सूत्र से ऋदन्त धातु बाद में होगी और वृद्धि क
पूर्व को होगा। अतः सूत्र का अर्थ किया गया—यदि अवर्णान्त उपसर्ग
पश्चात् ह्रस्व ऋकारादि धातु हो, तो भी वृद्धिरेकादेश होगा। यह वृद्धिरेकादे
पूर्व-पर के स्थान पर होता है। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

प्रार्च्छति—प्रयोग में 'प्र+ऋच्छति'–इस स्थिति में रेफोत्तरवर्ती 'अका
और 'ऋच्छति' के 'ऋकार' के मध्य 'आद्गुणः' से गुणैकादेश होकर 'प्रर्च्छति

रूप अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग व्युत्पन्न होने लगता है, किन्तु यतः 'प्र' 'उपसर्गाः क्रियायोगे' के अनुसार उपसर्ग और अवर्णान्त है, और 'ऋच्छति' 'भूवादयो धातवः' से गमनक्रियावाची होने के कारण धातु संज्ञक और ह्रस्व ऋकारादि है, अतः प्राप्त गुण का 'उपसर्गादृति धातौ' सूत्र से निषेध और वृद्धिरेकादेश का विधान करने पर 'वृद्धिरादैच्' में परिगणित 'आ, ऐ, औ' रूप वृद्धित्रय में से 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार कण्ठ्य 'अकार' और 'ऋटुरषाणां मूर्धा' के अनुसार मूर्धन्य ह्रस्व ऋकार के स्थान पर केवल कण्ठ्य आ का परिशेष्यात् विधान और 'एदैतोः कण्ठतालु' के अनुसार कण्ठतालव्य 'ऐ' और 'ओदौतोः कण्ठोष्ठम्' के अनुसार कण्ठौष्ठ्य 'औ' का निषेध करने पर—

प्र् + अ + ऋच्छति

= प्र् + अ + ऋ = 'अर्' (गुणैकादेश) + च्छति, किन्तु उसका निषेध,

= प्र् + अ + ऋ = 'आ' (वृद्धिरेकादेश) + च्छति
(कण्ठ्य + मूर्धन्य = कण्ठ्य)

सम्प्रति यतः 'आ' वृद्धिरेकादेश रूप अण् 'ऋ' के स्थान में हो रहा है, अतः वह 'उरण् रपरः' के अनुसार 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'रपर' होकर ही अर्थात् 'आर्' के रूप में ही प्रवृत्त होगा, अतः 'आर्' वृद्धिरेकादेश करने पर—

'प्र् + आर् + च्छति'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' के अनुसार वर्ण संयोग करने पर 'प्रार्च्छति' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

३८. एङि पररूपम् ६।१।९४

एङि (स० ए०) पररूपम् (प्र० ए०)

(एङ् आने पर पररूप होगा।)

आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात्। प्रेजते, उपोषति।

हिन्दी अनुवाद—अवर्णान्त उपसर्ग के पश्चात् एङादि (एङ् अर्थात् ए और ओ आदि में हो जिसके ऐसी) धातु आने पर (पूर्व-पर के स्थान पर) पर रूप एकादेश होगा। (जैसे-) प्रेजते (और) उपोषति।

व्याख्या—'वृद्धिरेचि' से सामान्यतया 'अ' के पश्चात् 'ए-ओ'-आदि आने पर प्राप्त वृद्धि के निषेधपूर्वक 'प्रेजते'-आदि प्रयोग की सिद्धि के लि प्रकृत सूत्र का विधान आवश्यक था, क्योंकि लोक-व्यवहार में पररूपान्त प्रयो ही प्रचलित था, वृद्ध्यन्त नहीं। अतः महर्षि पाणिनि ने देखा, कि केव एङादि के प्रसङ्ग में ही पररूप हो रहा था, अतः उन्होंने व्यवस्था दी, यदि अवर्णान्त उपसर्ग के पश्चात् एङादि धातु आवे, तो पूर्व-पर (अकार अ एङ्) के स्थान पर पररूप (एङ्) एकादेश हो जायगा। यह पररूप-विधा और वृद्धि का अपवाद सूत्र है। उदाहरणार्थ—

साधुत्व-प्रक्रिया

(i) प्रेजते—'प्र+एजते'—इस स्थिति में 'वृद्धिरेचि' सूत्र से वृद्धिरेका होने पर 'स्थानेऽन्तरमः' के सहकार से 'ऐ' वृद्धि करने पर 'प्रैजते' रूप अ और अनभीष्ट प्रयोग बनते लगता है, किन्तु यतः 'उपसर्गाः क्रियायोगे' सूत्र 'प्र' उपसर्ग और रेफ के पश्चात् अन्तिम वर्ण अकार होने के कारण अवण है और एजते का आदि वर्ण 'ए' रूप एङ् होने से वह 'भूवादयो' धातवः से एङादि धातु है, अतः प्रकृतसूत्र 'एङिपररूपम्' के अनुसार उसे (वृद्धि वारित कर पररूप अर्थात् एङ् आदेश करने पर—

प्र्+अ+ए+जते
=प्र्+अ+ए='ऐ' (वृद्धिरेकादेश)+जते, किन्तु उसका निषेध,
=प्र्+अ+ए=ए (एङ्-पररूपैकादेश)+जते

='प्र्+ए+जते'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यंजनं) परेण संयोज्य से वर्ण संयोग करने पर प्रेजते' रूप व्युत्पन्न हुआ।

(ii) उपोषति—'उप+ओषति'—इस स्थिति में पकारोत्तरवर्त्ती 'अ के पश्चात् 'ओ' आने पर 'वृद्धिरेचि' से पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धिरेका प्राप्त था और 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से परिशेष्यात् 'औ' होकर 'उपौष अशुद्ध और अनभीष्ट रूप बन रहा था, किन्तु यतः 'उपसर्गाः क्रियायोगे' अनुसार 'उप' उपसर्ग है और 'प्' के पश्चात् अन्त में 'अकार' होने से अवर्ण है तथा ओषति का 'ओकार' एङ्-आदि में होने से 'भूवादयो धातवः' सूत्र ओषति एङादि धातु है, अतः प्रकृत सूत्र 'एङि पररूपम्' से वृद्धि को वा कर पररूप (पश्चाद्वर्ती एङ्) करने पर—

उप्+अ+ओ+षति

=उप्+अ+ओ='औ' वृद्धिरेकादेश+पति, किन्तु उसका निषेध

=उप्+अ+ओ='ओ' पररूप (एङ्) एकादेश+षति

='उप्+ओ+षति'—इस स्थिति में 'अज्झीनं व्यञ्जनं परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'उपोषति' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

३९. अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४

अचः (ष० ए०) अन्त्यादि (प्र० ए०) टि (प्र० ए०)

[अच् (स्वर) के अन्त्यादि की 'टि' संज्ञा होती है।]

अचां मध्ये योऽन्त्यः सः आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—स्वरों के मध्य अन्तिम (स्वर) जिस (वर्ण-समुदाय) के आदि में होता है, उसकी 'टि' संज्ञा होती है।

व्याख्या—यह 'टि'-संज्ञा-विधायक सूत्र है । इसके अनुसार स्वरों के मध्य अन्तिम स्वर जिस (वर्ण समुदाय) के आदि में होता है, उसकी टिसंज्ञा होती है। उदाहरणार्थ–'मनस्' (म् अ न् अ स्) में दो स्वर हैं, जिनमें से नकारोत्तरवर्ती 'अकार' अन्तिम अच् है, और वह आदि में है 'अस्' वर्ण-समुदाय के, अतः उसकी प्रकृत सूत्र से टि संज्ञा होती है। इसी प्रकार शक (श् अ क् अ) तथा कर्क (क् अ र् क् अ) में दो अकार रूप अच् है, जिनमें ककारोत्तरवर्ती 'अकार' अन्तिम है, इसके अन्त में अन्य वर्ण नहीं है, अतः यह स्वयं अपने ही आदि में है, अतः 'देवदत्तस्य एकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः' के अनुसार अमुख्य में मुख्य इव व्यवहार रूप व्यपदेशिवद्भावेन अन्त के अभाव में. अपने ही आदि में है। अतः इसकी भी 'टि' संज्ञा होगी। यह टि संज्ञा आकृतिगणीय मनीषा, कर्कन्धुः आदि प्रयोगों की सिद्धि का मूलाधार है, यदि 'टि' संज्ञा का विधान न होता, तो ये रूप सिद्ध न हो पाते।

(वा०) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्

शकन्ध्वादिषु (स० ब०) पररूपम् (प्र० ए०) वाच्यम् (प्र० ए०)

['शकन्धु'-आदि में पररूप कहें (समझें)।]

तच्च टेः। शकन्धुः, कर्कन्धुः, मनीषा, आकृतिगणोऽयम् मार्तण्डः।

हिन्दी अनुवाद—और (शकन्ध्वादिषु""आदि वार्तिक के अनुसार सम्भ
वित) वह (पररूप एकादेश) 'टि' (संज्ञक) के स्थान पर (होता है), पूर्व अच
के स्थान पर नहीं। (जैसे—) शकन्धुः, कर्कन्धुः और मनीषा। यह आकृति
गण है, (जैसे—) मार्तण्ड।

व्याख्या—प्रकृत वार्तिक शकन्धुः, कर्कन्धुः, मनीषा तथा मार्तण्ड आदि
सिद्धि के लिए आवश्यक था। अष्टाध्यायी से पठित सूत्रों के अनुसार इन प
की साधुत्व-प्रक्रिया सम्भव न थी, यतः ये लोक-व्यवहार में नित्य प्रति व्यवह
हो रहे थे, अतः इन्हें 'अपदं न प्रयुञ्जीत्' के अनुसार असिद्ध, अपद और अप्रयो
भी घोषित नहीं किया जा सकता था, अतः महर्षि कात्यायन ने इनके साधु
के लिए प्रकृत वार्तिक का आविष्कार किया। इसके अनुसार शकन्धुः आ
पदों में 'टि' संज्ञक वर्णसमुदाय के स्थान पर पररूप आदेश होगा
उदाहरणार्थ—

साधुत्व-प्रक्रिया

१. शकन्धुः—'शक+अन्धुः' इस स्थिति में ककारोत्तरवर्ती 'अका
और अन्धु के 'अकार' के मध्य 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश 'आ' प्रा
था और इस प्रकार 'शकान्धुः' अनभीष्ट और अव्यवहृत अतएव अशुद्ध प्रयो
व्युत्पन्न हो रहा था, किन्तु प्रकृत वार्तिक 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्'
अनुसार व्यपदेशिवद्भावेन 'अचोऽन्त्यादि टि' से 'टि' संज्ञक ककारोत्तरव
'अकार' के स्थान पर पररूप आदेश—यतः अन्धुः का "अकार" पर है अत
उसका रूप ह्रस्व अकार करने पर—

शक्+अ+अ+न्धुः

=शक् अ+अ='आ' (दीर्घ एकादेश)+न्धुः, किन्तु बाध

=शक् अ+अ (टि)='अ' (पररूप एकादेश) न्धुः

='शक्+अ+न्धुः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परे
संयोज्यम्' से वर्ण-संयोग करने पर 'शकन्धुः' प्रयोग व्युत्पन्न होगा। ठीक इसी
प्रकार—

२. 'कर्कन्धुः' की भी व्युत्पत्ति समझनी चाहिए।

३. मनीषा—'मनस्+ईषा'—इस स्थिति में 'मनस्' पद समुदाय
मकारोत्तरवर्ती 'अकार' और नकारोत्तरवर्ती 'अकार' दो अच् हैं, अतः इन
अन्तिम अच् नकारोत्तरवर्ती 'अकार' यतः 'अस्' के आदि में है, अतः उसक

'अचोऽन्त्यादि टि' सूत्र से 'टि' संज्ञा होगी--म् अ् न् अ् स्—टि+ईषा। सम्प्रति 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वार्तिक से 'टि' संज्ञक 'अस्' के स्थान पर पररूप एकादेश होने पर—

मन् अस् (टि)+='ई' पररूप एकादेश+षा='मन्+ई+षा' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'मनीषा' पद व्युत्पन्न होगा, जिसका अर्थ 'बुद्धि या अभिलाष' होता है।

आकृतिगणोऽयम्—व्युत्पत्ति प्रक्रिया को सुगम एवं सुबोध बनाने के लिए महर्षि पाणिनि अथवा उनके पूर्ववर्ती वैयाकरणों ने प्रतिपादिकों और धातुओं को विभिन्न गनों में विभाजित किया था। विभक्त गणों का नामकरण प्रथम पद के नाम पर किया गया और उसके साथ आदि शब्द जोड़ दिया गया। जैसे—सर्वादि, शिवादि, दिगादि, रेवत्यादि, गौर्यादि, भूवादि। इन गणों में कुछ तो ऐसे हैं, जिनके शब्दों की संख्या निश्चित है; अतः गणपाठ में उस प्रकार के सभी शब्दों को गिना दिया है, जैसे—सर्वादि गण। इस गण में 'सर्व' शब्द से 'किम्' शब्द तक सभी सर्वनाम शब्दों को गिनाया गया है और इनकी व्युत्पत्ति आदि क्रियायें सर्वादि मानकर की जाती हैं।

कुछ ऐसे भी गण हैं, जिनके शब्दों की संख्या अपरिमित और अनिर्धारित है। अतः एक समान व्युत्पत्ति वाले कुछ ही शब्दों को पढ़कर उनके अन्त में 'आकृतिगणोऽयम्' लिख दिया जाता है। 'आकृतिगण' का अर्थ है—'आकृत्या स्वरूपेण कार्यदर्शनेन गण्यन्ते परिचीयन्ते ये ते आकृतिगणाः तेषां गणः आकृतिगणः।' उदाहरणार्थ—शकन्ध्वादिगण ही लिया जा सकता है, इस गण में 'शकन्धुः' से लेकर 'मार्तण्ड' तक द्वादश शब्दों की परिगणना करके अन्त में 'आकृति गणोऽयम्' लिख दिया गया है, जिसका अभिप्राय है, कि इन शब्दों की साधुत्व-प्रक्रिया में 'टि' का पररूप होगा और इस प्रकार इन बारह शब्दों के अतिरिक्त भी जिन शब्दों में 'टि' का पररूप करके सिद्धि की जायेगी वे भी इसी गण के शब्द माने जायेंगे। दूसरे शब्दों में जिन शब्दों की आकृति 'शकन्धुः' आदि से मिलती हो या जिनकी सिद्धि 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' रूप वार्तिक से होती हो उन्हें शकन्ध्वादिगण में परिगणित किया जायगा। उदाहरणार्थ—यद्यपि 'मार्तण्ड' शब्द शकन्ध्वादिगण में परिणित नहीं है, तथापि उसमें भी तद्गणीयकार्य ('टि' का पररूप) प्राप्त होता है, इसलिए इसकी परिगणना भी शकन्ध्वादि में की जायेगी। इसी प्रकार 'समर्थ्' शब्द भी इसी शकन्ध्वादि-गण में परिगणित होगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

मार्तण्ड—'मृत + अण्डः' इस स्थिति में तकारोत्तरवर्ती 'अकार' तथा अण्ड के 'अकार' के मध्य 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ सन्धि प्राप्त थी और इस प्रकार 'मृताण्डः (मार्ताण्डः)' रूप अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग निष्पन्न होता, किन्तु यतः 'मृत' पद में 'ऋकार और अकार' दो अच् हैं, और अन्तिम अच् 'अकार' की 'अचोऽन्त्यादि टि' से 'टि' संज्ञा हो जाती है, अतः 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' से 'टि' संज्ञक 'अकार' और अण्डः के 'अकार' के स्थान पर पररूप एकादेश का विधान और दीर्घ का निषेध करने पर—

मृत् + अ + अ + ण्डः

=मृत् + अ + अ = 'आ' (दीर्घ एकादेश) + ण्डः, किन्तु उसका निषेध,

=मृत् + अ + अ = 'अ' (पररूप एकादेश) + ण्डः

='मृत् + अ + ण्डः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'मृतण्डः' यह स्थिति प्राप्त होने पर सम्प्रति अण् प्रत्यय तथा 'तद्धितेष्वचामादेः' सूत्र से 'स्थानेऽन्तरतमः और उरण् रपरः' सूत्रों के सहकार से सदृशतम 'आर्' वृद्धिकारेदेश—

म् + ऋ > आर् + तण्डः = 'मार्तण्डः' रूप व्युत्पन्न हुआ।

४०. ओमाङोश्च ६।१।६५

ओमाङोः (स० द्वि०) च (अव्यय)

(ओम् और आङ् आने पर भी·······)

ओमि आङि च परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायों नमः। शिव + एहि इति स्थिते—

हिन्दी अनुवाद—(अकार के पश्चात्) 'ओम् तथा आङ्' आने पर (पूर्व पर के स्थान पर) पररूप एकादेश होगा। (उदाहरणार्थ—) शिवायों नमः। 'शिव + एहि'—इस स्थिति में—

व्याख्या—यदि अवर्ण के पश्चात् 'ओम् और आङ्' आवें, तो भी पूर्व-पर के स्थान पर पररूप एकादेश होगा। उदाहरणार्थ—

साधुत्व-प्रक्रिया

१. शिवायों नमः—'शिवाय+ओम्+नमः'—इस स्थिति में यकारोत्तर-वर्ती 'अकार' और ओम् के 'ओकार' के मध्य 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि प्राप्त थी और इस प्रकार 'औ' वृद्धिरेकादेश होकर अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग 'शिवायौं नमः' व्युत्पन्न होने लगता अतः उसे 'ओमाङोश्च' सूत्र से वारित कर पररूप एकादेश करने पर—

शिवाय्+अ+ओ+म्+नमः

=शिवाय्+अ+औ='औ' (वृद्धिरेकादेश)+म् नमः, किन्तु उसका निषेध,

=शिवाय्+अ+ओ='ओ' (पररूप एकादेश)+म् नमः

='शिवाय्+ओ+म् नमः' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'शिवायोम् नमः' इस स्थिति में 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से ओम् के मकार के स्थान पर नकार (हल्) परे रहते अनुस्वार (ं) करने पर—

'शिवायों नमः' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ। इसी प्रकार—

२. शिवेहि—'शिव+एहि'—इस स्थिति में भी नकारोत्तरवर्ती 'अकार' और एहि के आङ्त्वप्राप्त 'एकार' के मध्य 'वृद्धिरेचि' से प्राप्त वृद्धिरेकादेश 'ऐ' का विधान 'ओमाङोश्च' से वारित हो जायगा और फलतः 'शिवैहि' अन-भीष्ट और अशुद्ध रूप व्युत्पन्न नहीं होगा, प्रत्युत पररूप एकादेश होकर 'शिवेहि' रूप ही व्युत्पन्न होगा। इस प्रयोग के विस्तृत साधुत्वार्थ अग्रिम सूत्र की साधुत्व-प्रक्रिया अवलोकनीय है।

४१. अन्तदिवच्च ६।१।८५

अन्तादिवत् (अव्यय) च (अव्यय)

(अन्तादि के समान)

योऽय्येकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत्-शिवेहि।

हिन्दी अनुवाद—जो यह एकादेश (होगा) वह पूर्व के अन्तवत् और पर के आदिवत् होगा। (यथा—) शिवेहि।

व्याख्या—यह एकादेश के अन्तादिवद्भाव का विधायक अतिदेश सूत्र है। यह सूत्र एकादेश में स्थानित्व का आधान करके स्थानी के साथ किये जाने वाले कार्यों को आदेश के साथ भी विहित करता है। सूत्र के इस कथन का एकादेश पूर्व के अन्तवत् और पर के आदिवत् होगा का आशय यह है, कि एकादेश से पूर्व या पर समुदाय में जो धातुत्व-प्रातिपदिकत्व-सुवन्तत्व-निपातत्व आदि कार्य (व्यवहार) होते हैं वे एकादेश में भी होंगे—"आद्यन्ताभ्यां पृथक् स्थिताभ्यां धातुत्व-प्रातिपदिकत्व निपातत्त्वादयो ये व्यवहारा: ते कृतैकादेशस्यापि भवन्ति।"

उदाहरणार्थ—'आ इति' में गुणादेश के पूर्व 'आ (आङ्)' में होने वाला आङ्त्व गुणादेश 'ए' में भी होगा। इस प्रकार 'शिव+एहि'—इस स्थिति में प्रकृत सूत्र 'अन्तादिवच्च' से 'ए' में आङ्त्व का आधान कर 'ओमाङोश्च' सूत्र से पररूपत्व का विधान तथा वृद्धि का निषेध किया जाता है।

साधुत्व-प्रक्रिया

शिवेहि—'शिव+आ(ङ्)+इहि'—इस स्थिति में वकारोत्तरवर्ती 'अकार' तथा आङ् के 'आ' के मध्य 'अक: सवर्णे दीर्घ:' से दीर्घ, तथा आङ् के 'आ' और इहि के 'इकार' के मध्य 'आद्गुण:' से गुण की समकालिक प्राप्ति हो रही है। अत: इनमें से कौन सा कार्य पहले और कौन सा बाद में होगा? यह आशङ्का होने पर "धातूपसर्गयो: कार्यमन्तरङ्गमन्यद्बहिरङ्गम्" तथा "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" के अनुसार यत: धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग तथा अन्य कार्य वहिरङ्ग माने जाते हैं और अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग की समकालिक प्राप्ति में अन्तरङ्ग कार्य सिद्ध तथा वहिरङ्ग असिद्ध होता है और यत: 'आ' 'उपसर्गा: क्रियायोगे' से उपसर्ग और 'इहि' 'भूवादयो धातव:' से धातु है, अत: इसके मध्य का कार्य 'गुण' अन्तरङ्ग सिद्ध होता है, अन्य कार्य 'दीर्घ' वहिरङ्ग, अत: गुण ही विधेय होगा, अत: 'स्थानेऽन्तरतम:' के सहकार से 'ए' गुणैकादेश करने पर—

'शिव+एहि'—इस स्थिति में वकारोत्तरवर्ती 'अकार' और एहि के 'ए' के मध्य 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि प्राप्त होती है, किन्तु यत: 'एहि' में आङ्त्व नहीं है, अत: आङ्त्व के अभाव में यह सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता, अत: अन्तादिवच्च' के सहकार से 'आ' और इहि के 'इ' के स्थान पर होने वाले 'ए' में आङ्त्व का आधान करने पर—'ओमाङोश्च' से पररूप का विधान और वृद्धि का निषेध करने पर—

शिव+एहि
=शिव्+अ+ए+हि
=शिव+अ+ए='ऐ' (वृद्धिरेकादेश)+हि, किन्तु उसका निषेध
=शिव्+अ+ए='ए' (पररूप)+हि
='शिव्+ए+हि'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्'
र्णसंयोग करने पर 'शिवेहि' रूप व्युत्पन्न हुआ ।

अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१

अकः (पं० ए०) सवर्णे (स० ए०) दीर्घः (प्र० ए०)
[सवर्ण आने पर अक् (अ, इ, उ, ऋ,) के स्थान पर दीर्घ होता है ।]

अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात् । दैत्यारिः, श्रीशः,
ूदयः, हेतृकारः ।

हिन्दी-अनुवाद—अक् (अ, इ, उ, और ऋ) के पश्चात् सवर्ण अच् (स्वर)
पर पूर्व-परे के स्थान पर दीर्घ एकादेश होगा (जैसे—) दैत्यारिः, श्रीशः,
ूदयः (तथा) होतृकारः ।

व्याख्या—'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' के अनुसार प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त
और वृत्ति में प्रयुक्त अच् अविधीयमान होने से अपने भेदोपभेदों के भी
क होंगे । इस प्रकार सूत्र का अभिप्राय हुआ, यदि अक् प्रत्याहार के वर्णों
किसी भी भेद के पश्चात् सवर्ण स्वर (अच्) का कोई भेद प्राप्त हो, तो
पर के स्थान पर दीर्घ एकादेश होगा । यह सवर्ण दीर्घ—विधायक सूत्र
यथा—'दैत्यारिः' श्रीशः, विष्णूदयः यथा होतृकारः, आदि प्रयोगों की
में प्राप्त गुण यणादि तत्तत्सन्धियों को वारित कर दीर्घ एकादेश किया
है ।

त्व-प्रक्रिया

(i) दैत्यारिः—'दैत्य+अरिः'—इस स्थिति में यतः यकारोत्तरवर्ती
र' और अरिः का 'अकार' रूप स्वर प्राप्त होने से 'आद् गुणः' से गुण
देश प्राप्त होता है, किन्तु यतः दोनों अकार रूप अच् सवर्ण हैं, अतः प्रकृत
'अकः सवर्णे दीर्घः' से उसे बांधकर दीर्घ एकादेश और 'स्थानेऽन्तरमयः'
दृशतम आदेश 'आकार' करने पर—

दैत्य+अरि:

=दैत्य् अ+अ=गुण एकादेश अ+रि:, किन्तु उसका बाध

=दैत्य् अ+अ='आ' दीर्घ एकादेश+रि:

='दैत्य्+आ+रि:'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण
ज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'दैत्यारि:' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

(ii) श्रीशः—'श्री+ईशः'—इस स्थिति में रेफोत्तरवर्ती 'ई' के
ईशः के 'ई' के आने पर 'इकोयणचि' से यणादेश की प्राप्ति और 'श्री
अशुद्ध तथा अनभीष्ट प्रयोग सिद्ध होने लगता है, किन्तु सवर्ण होने
बाधकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से
आदेश 'ई' करने पर—

श्र्+ई+ई+शः

=श्र्+ई+ई='य्' (यणादेश)+शः, किन्तु उसका बाध,

=श्र्+ई=ई='ई' (दीर्घ एकादेश)+शः

='श्र्+ई+शः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जन) परेण सं
से वर्ण संयोग करने पर 'श्रीशः' प्रयोग निष्फल हुआ।

(iii) विष्णूदयः—'विष्णु+उदयः'—इस स्थिति में णकारो
'उकार' और उदयः के 'उकार' के मध्य 'इकोयणचि' सूत्र से
णकारोत्तरवर्ती 'उकार' के स्थान पर 'व्'—यणादेश प्राप्त होता है,
प्रकार 'विष्ण्वुदयः' रूप अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग बनने लगता है
सवर्णत्वात् उसे बाधकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सह
सदृशतम 'ऊ' दीर्घ एकादेश करने पर—

विष्ण् उ+उ+दयः

=विष्ण् उ+उ='व्' (यणादेश)+उ+दयः, किन्तु उसका बाध

=विष्ण् उ+उ='ऊ' (दीर्घ एकादेश)+दयः

='विष्ण्+ऊ+दयः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण सं
के अनुसार वर्ण संयोग करने पर 'विष्णूदयः' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

(iv) होतृकारः—'होतृ+ऋकारः' इस स्थिति में तकारो
'ऋकार' के पश्चात् ऋकारः के 'ऋकार' आने पर 'इको

से प्रथम ऋकार के स्थान पर 'र्' यणादेश प्राप्त होता है और इस प्रकार
ृकार:' रूप अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग बनने लगता है, किन्तु सवर्णत्वात्
बाधकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से
तम 'ॠ' दीर्घएकादेश करने पर—

होतृ ऋ+ऋ+कार:

=होत्+ऋ+ऋ=र् (यणादेश)+ऋकार:, किन्तु उसका बाध

=होत्+ऋ+ऋ='ॠ' (दीर्घ एकादेश+कार:

='होत्+ॠ+कार:'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण
ज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'होतॄकार:' प्रयोग व्युत्पन्न होता है।

४३. एङः पदान्तादति ६।१।१०९

एङः (पं० ए०) पदान्तात् (पं० ए०) अति (स० ए०)

[परान्त एङ्: (ए, ओ) के पश्चात् अत् (ह्रस्व अकार) आने पर (अयादि
कर पूर्वरूप होगा)।]

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव, विष्णोऽव।

हिन्दी-अनुवाद:—पदान्त एङ् (ए और ओ) के पश्चात् अत् ह्रस्व अकार)
पर (पूर्व-पर—एङ् और अ के स्थान पर) पूर्वरूप एकादेश (एङ्) (ही)
है, (अयादि नहीं) (जैसे-) हरेऽव (और) विष्णोऽव।

व्याख्या—यह पूर्वरूप विधायक सूत्र है। यह अयादि सन्धि ('एचोऽय-
वः') का अपवाद है। इस सूत्र के अनुसार यदि पदान्त में स्थित एङ् (ए
ओ) के पश्चात् 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्रानुसार अत् रूप ह्रस्व अकार आवे,
यादि बारित हो जायेगी, और पूर्व-पर (एङ् और ह्रस्व अकार) के स्थान
र्वरूप अर्थात् एङ् (ए और ओ) हो जायगा। परम्परा उस अवस्था में
ी पूर्व स्थिति के सूचनार्थ अवग्रह (ऽ) का प्रयोग किया जाता है यह
अक्षर विशेष नहीं है, और इसका लगाना अनिवार्य या आवश्यक नहीं
दाहरणार्थ—'हरेऽव तथा विष्णोऽव' में प्राप्त अयादि का निषेध कर
(एङ्—ए—ओ) किया गया है।

-प्रक्रिया

१. हरेऽव—'हरे+अव' इस स्थिति में रेफोत्तरवर्ती 'एकार' के अकार
आने पर 'एचोऽयवायावः' सूत्र से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के

सहकार से 'ए' के स्थान पर 'अया' देश' होकर 'हरयव' अशुद्ध तथा अन
रूप बनने लगता है, किन्तु यतः 'हरे' 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र से सम्
एकवचन का रूप होने से पद है, और रकारोत्तरवर्ती 'एकार' एङ् (ए
और उसके पश्चात् अव का ह्रस्व 'अकार' प्राप्त हो रहा है, अतः प्रकृ
'एङः पदान्तादति' से अयादि को बाधकर पूर्वरूप अर्थात् 'एकार' एकादेश
पर—

हर्+ए+अ+व
=हर्+ए+अ='अय्' (अयादि)+अव, किन्तु उसका बाध,
=हर्+ए+अ='ए' (पूर्वरूपैकादेश)+व
='हर्+ए+व'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयो
से वर्णसंयोग करने पर 'हरेव' स्थिति प्राप्त होती है, सम्प्रति परम्परा
अकार के स्थान पर अवग्रह लगाने पर 'हरेऽव' रूप व्युत्पन्न होता है।

२. विष्णोऽव:—'विष्णो+अव' इस स्थिति में णकारोत्तरवर्ती 'अ
के पश्चात् अव के 'अकार' के आने पर 'एचोऽयवायाव:' सूत्र से ओक
स्थान पर 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से अव् आदेश
'विष्णवव' रूप अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग सिद्ध होने लगता है, किन्
'विष्णो' विष्णु शब्द के सम्बोधन एकवचन का रूप है, अतः उसकी 'सुप्
पदम्' सूत्र से पदसंज्ञा होती है, और 'ओ' पदान्त एङ् सिद्ध होता है और
बाद अव का ह्रस्व 'अ' प्राप्त हो रहा है, अतः प्रकृतसूत्र 'एङः पदान्ताद
पूर्वरूप एङ् (ओ) का विधान और अयादि का निषेध करने पर—

विष्ण् ओ+अ+व
=विष्ण् ओ+अ=अव् (अयादि)+अव, किन्तु उसका बाध,
=विष्ण् ओ+अ='ओ' (पूर्वरूपैकादेश)+व,
='विष्ण्+ओ+व'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यंजनं) परेण संयो
से वर्ण संयोग करने पर 'विष्णोव' स्थिति प्राप्त होती है, और परम्परय
के स्थान पर अवग्रह लगाने पर 'विष्णोऽव' रूप अभीष्ट प्रयोग सिद्ध होता

४४. सर्वत्र विभाषा गोः ६।१।१२२

सर्वत्र (अव्यय) विभाषा (प्र० ए०) गोः (ष० ए०)

[गो (शब्द) के पश्चात् (अत् आने पर) सर्वत्र (लौकिक और वै
संस्कृत में) विभाषा (पूर्वरूप का वैकल्पिक विधान) (समझें)।]

लोक वेदे चैङन्तस्य गो रति वा प्रकृतिभावः पदान्ते। गोअग्रम्, गोऽग्रम्। एङन्तस्य किम् ? चित्रग्वग्रम्। पदान्ते किम् ? गोः।

हिन्दी अनुवाद—लौकिक तथा वैदिक संस्कृत में यदि पदान्त में एङन्त गो के पश्चात् अत् (ह्रस्व अ) आवे, तो विकल्प से प्रकृति भाव हो जायगा। (जैसे-) गो अग्रम्, गोऽग्रम्। (वृत्ति में) 'एङन्त' (अनुबन्ध) क्यों (रखा गया) ? चित्रग्वग्रम् (की सिद्धि के लिए)। (इसी प्रकार) पदान्त (अनुबन्ध) की क्या आवश्यकता है) ? 'गोः' (की सिद्धि के लिए)।

व्याख्या—लौकिक और वैदिक दोनों संस्कृत में सर्वत्र 'गो' शब्द के 'एङन्त' पद के पश्चात् ह्रस्व 'अकार' आने पर नित्य पूर्व रूप नहीं होगा, प्रत्युत विकल्प से प्रकृतिभाव कहें (समझें)। सूत्र में प्रयुक्त 'विभाषा' पद का अर्थ है, वैकल्पिक विधान या वैकल्पिक विधान सम्बन्धी कथन। प्रकृतिभाव का अर्थ है, प्रयोग की निर्विकार मूल स्थिति अर्थात् सन्धिजन्य कार्य का अभाव। उदाहरणार्थ—यतः 'गोः अग्रम्' विग्रह में प्रयुक्त 'गो'-अंश एङन्त (ओ) है, और उसके पश्चात् अग्रम् का ह्रस्व अकार प्राप्त हो रहा है, अतः प्रकृत सूत्र 'सर्वत्र विभाषा गोः' से प्रकृतिभाव हो जायगा, और 'गो अग्रम्' रूप व्युत्पन्न होगा।

जहाँ पर विकल्प से प्रकृतिभाव नहीं होगा, वहाँ 'एङः पदान्तादति' से पूर्व रूप होगा, तथा गोऽग्रम्' रूप व्युत्पन्न होगा।

वृत्ति में 'एङन्त'-अनुबन्ध का क्या रहस्य है ? एङन्त विशेषण न लगाने से क्या हानि है ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर स्वरूप कहा जा सकता है, कि यद्यपि 'चित्रगु' में प्रयुक्त 'गु' 'गो' से निष्पन्न है, तथापि यह एङन्त नहीं है, क्योंकि इसके अन्त में 'उ' है 'ए या ओ' नहीं। अतः यदि 'एङन्त' अनुबन्ध या विशेषण न होता तो यहाँ भी अनभीष्ट प्रकृतिभाव होने लगता और 'चित्रगु अग्रम्' रूप अनभीष्ट तथा अशुद्ध प्रयोग बनने लगता जबकि भाषा में सन्ध्यन्त रूप ही मिलता था प्रकृतिभावरूप नहीं। अतः 'चित्रगूग्रम्' रूप की सिद्धि और अनभीष्ट प्रयोग से बचने के लिए 'एङन्त' विशेषण परमावश्यक था। इस प्रकार 'चित्रगु+अग्रम्' इस स्थिति में गकारोत्तरवर्ती 'उकार' और अग्रम् के 'अकार' के मध्य 'इकोयणचि' सूत्र से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'उ' इक् के स्थान पर 'व्' यणादेश करने पर 'चित्रग्वग्रम्' रूप व्युत्पन्न होता है।

इसी प्रकार 'पदान्ते' विशेषण (अनुबन्ध) की क्या आवश्यकता है, क्या इसके बिना कार्य नहीं चल सकता था ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर है, कि यदि

'पदान्ते' अनुबन्ध नहीं रहेगा, तो विकल्प से 'गोः' पद व्युत्पन्न नहीं और वहाँ भी प्रकृतिभाव होने लगेगा। जैसे—गो+ङस् (ङसि)=गो =‘गो+अः’ इस स्थिति में यतः गोशब्द पद नहीं है, अतः 'ओ' पद स्थित नहीं है, क्योंकि यह प्रतिपदिक रूप है, सुवन्त नहीं, अतः 'सु पदम्' से उसकी पद संज्ञा नहीं है, प्रत्युत इसी सूत्र से सम्पूर्ण 'गो+अ पद है, अतः यहाँ प्रकृतिभाव नहीं होगा, प्रत्युत 'ङसिङसोश्च' से एकादेश होकर 'गोः' व्युत्पन्न होगा। यदि पदान्ते अनुबन्ध न होता, तो रूप अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग बनने लगता, अतः इस अनिष्ट से तथा 'गोः' की सिद्धि के लिए 'पदान्ते' का वृत्ति में प्रयोग आवश्यक था।

४५. अनेकाल् शित्सर्वस्य १।१।५५

अनेकाल् (प्र० ए०) शित् (प्र० ए०) सर्वस्य (ष० ए०)

[अनेकाल् (अनेक अक्षरों वाला) और शित् (ये दो आदेश) (स्थानी) के स्थान पर (होते हैं)।]

इति प्राप्ते।

हिन्दी अनुवाद—ऐसा प्राप्त होने पर (अनेकाल् और शित् रूप आदे सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होने पर)।

व्याख्या—सूत्र में प्रयुक्त 'अनेकाल्—पद का अर्थ है—अनेक+अ अर्थात् अनेक अल् (वर्णों) से युक्त आदेश। जैसे—'अस्तेर्भूः'—सूत्रानुसा और 'अवङ् स्फोटायनस्य' अवङ्। ये दोनों आदेश भू (भ ऊ) और (अ व् अ ङ्) अनेक अल् (वर्णों) से युक्त हैं, अतः अनेकाल् हुए। इसी 'अतो भिस ऐस्' में पठित 'ऐस' भी अनेकाल् है। अतः यह आदेश स्थानी भिस् के स्थान पर होगा। 'शकारः इत् यस्मिन् सः शित्' जै 'जश्शसोः शिः' सूत्र से 'जश् और शस्' विभक्तियों के स्थान पर 'शि' होता है और उसमें शकार की 'लशक्वतद्धिते' सूत्र से इत्संज्ञा होती है, 'शि' आदेश 'शित्' कहा जायगा, और यह भी प्रकृत सूत्र 'अनेकाल सर्वस्य' से सम्पूर्ण स्थानी 'जश् और शस्' के स्थान पर होगा। इस ज्ञान+जस् (शस्)=ज्ञान+शिं (इ)=ज्ञानानि रूप बनेगा।

६. ङिच्च १।१।५३

ङित् (प्र० ए०) च (अव्यय)

[किन्तु ङित् (अनेकाल् होते हुए अन्तिम वर्ण के स्थान पर होगा)।]

ङिदनेकालप्यन्तस्यैव स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—ङित् अनेकाल् होते हुए भी अन्तिम के ही स्थान पर ता है।

व्याख्या—पूर्वोक्त सूत्र 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' के अनुसार अनेकाल् आदेश पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं, किन्तु प्रकृत सूत्र उसका अपवाद है, और ङित् के सन्दर्भ में व्यवस्था देता है, कि ङित् अनेकाल् होते हुए भी सम्पूर्ण ानी के स्थान पर न होकर अन्तिम वर्ण के स्थान पर ही होगा। यथा—गो स्थान पर होने वाला 'अवङ्' अनेकाल् होने पर भी ङित् होने के कारण पूर्ण 'गो' के स्थान पर न होकर केवल अन्तिम वर्ण 'ओ' के स्थान पर ही गा। 'ङित्' का अर्थ है, जिसमें 'ङ्' इत्संज्ञक हो—'ङकारः इत् यस्मिन्।'

७. अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३

अवङ् (प्र० ए०) स्फोटायनस्य (ष० ए०)

[स्फोटायन के (मत में या अनुसार) अवङ् (आदेश होगा)।]

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वाऽचि। गवाग्रम्, गोऽग्रम्। पदान्ते किम्? वि।

हिन्दी अनुवाद—पदान्त में एङन्त 'गो' के पश्चात् अच् (स्वर) आने पर कल्प से 'अवङ्' (आदेश) हो जाता है। (जैसे—) गवाग्रम्, गोऽग्रम्। त्ति में) 'पदान्ते' (अनुवन्ध) की क्या (आवश्यकता है)? 'गवि' (की सिद्धि लिए)।

व्याख्या—यह 'गो' के अवङादेश का विधायक सूत्र है। यहाँ स्पष्ट है, पाणिनि के अनुसार अवङ् नहीं होगा, स्फोटायन के मतानुसार 'अवङ्' देश होगा। यद्यपि विभाषा की अनुवृत्तिपूर्वक वैकल्पिक विधान सम्भव था; थापि स्फोटायन के प्रति सम्मान या कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए स्फोटायन नामग्रहण किया गया है, पाणिनि ने यदि स्फोटायन का उल्लेख न किया

होता, तो आज हम इस वैयाकरण और उसके सिद्धान्त से प
हो पाते—

"स्फोटायनग्रहणं पूजार्थं विभाषैत्येव हि वर्तते ।" (

तथा—

"विभाषानुवृत्तेः स्फोटायनग्रहणं पूजार्थम्" (तत्त्व

स्फोटायन के मतानुसार पदान्त और एङन्त 'गो' के पश्चात् क
आने पर अवङ् आदेश हो जायगा। उदाहरणार्थ—

साधुत्व प्रक्रिया

गवाग्रम्—गोऽग्रम् – 'गो+अग्रम्'—इस स्थिति में यतः गो
पञ्चमी-षष्ठी एकवचन का रूप है, अतः सुवन्तत्वेन 'सुप्तिङन्तं पदम्'
सार पद है, और उसके अन्त में 'ओ' होने से एङन्त भी है, और उ
अग्रम् का 'अकार' अच् भी प्राप्त हो रहा है, अतः 'अवङ्स्फो
सूत्र से विकल्प से 'अवङ्' आदेश प्राप्त होगा। यह 'अवङ्' किसके स
हो ? यह आशङ्का होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्रानुसार अन्तिम अल्
स्थान पर 'अवङ्' विहितव्य होगा, किन्तु यतः अवङ् अनेकाल् है, अत
काल् शित् सर्वस्य' सूत्रानुसार यह आदेश केवल 'ओ' के स्थान प
प्रत्युत सम्पूर्ण 'गो के स्थान पर होगा, किन्तु यतः यह 'ङित्' भी
'ङिच्च' सूत्रानुसार अनेकाल् होते हुए भी अन्तिम 'ओ' के स्थान
होगा। इस प्रकार गकारोत्तरवर्ती 'ओ' के स्थान पर अवङ्' आदेश—

ग्+ओ...अग्रम्

=ग्+अवङ्+अग्रम्

अब 'हलन्त्यम्' से 'ङ्' की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप करने
'ग्+अव+अग्रम्'—इस स्थिति में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से वकारो
'अकार' और अग्रम् के 'अकार' के स्थान पर दीर्घ 'आ' एकादेश—'ग्+
आ+ग्रम्'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण
करने पर 'गवाग्रम्' रूप व्युत्पन्न होगा।

जहाँ पर वैकल्पिक 'अवङ्' आदेश नहीं होगा, वहाँ 'सर्वत्र विभा
के अनुसार पदान्त एङन्त गो के पश्चात् ह्रस्व 'अकार' आने के कारण

भाव और 'गो अग्रम्' रूप व्युत्पन्न होगा, तथा जहाँ—वैकल्पिक प्रकृति भी नहीं होगा, वहाँ 'एङः पदान्तादति' से 'एचोऽय-वायावः' को बाधकर पूर्व-पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होगा। इस प्रकार—

ग्+ओ+अग्रम्

=ग्+ओ+अ=अद् (अयादि)+ग्रम्, किन्तु इसका बाध

=ग्+ओ+अ='ओ' (पूर्वरूप)+ग्रम्

='ग्+ओ+ग्रम्'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'गोग्रम्'—इस स्थिति में परम्परानुसार 'अ' के स्थान पर अवग्रह (ऽ) लगाने पर 'गोऽग्रम्' रूप व्युत्पन्न होगा।

वृत्ति में 'पदान्ते' विशेषण (अनुबन्ध) की क्या आवश्यकता थी, यदि इसे न रखते, तो क्या अनिष्ट होता ? इस आशङ्का के समाधानार्थ कहा जा सकता है, कि यदि 'पदान्ते' अनुबन्ध न रखें, तो अपदान्त एङन्त गो के स्थान पर भी वैकल्पिक 'अवङ्' आदेश होने लगेगा और इस प्रकार 'गो+ङि (स० ए०)= गो+इ=ग्+अव (ङ्)+इ=गव+इ=गवे' रूप अनभीष्ट तथा अशुद्ध प्रयोग निष्पन्न होने लगेगा। अतः इस अनिष्ट एवं अशुद्धि से बचने के लिए 'पदान्ते' अनुबन्ध नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार अवङ् आदेश न होने पर 'गो+इ'—इस स्थिति में 'एचोऽयवायाव' से 'अव्' आदेश होने पर 'गवि' रूप निष्पन्न होता है। अतः गवि की सिद्धि तथा अवङ् के अनभीष्ट आदेश से बचने के लिए 'पदान्ते' का वृत्ति में प्रयोग नितान्त आवश्यक था।

४८. इन्द्रे च ६।१।१२४

इन्द्रे (स० ए०) च (अव्यय)

[(गो शब्द के बाद) इन्द्र आने पर भी (अवङ् आदेश होगा)।]

गोरवङ् स्यादिन्द्रे। गवेन्द्रः।

हिन्दी अनुवाद—गो (शब्द) के पश्चात् इन्द्र (शब्द) आने पर 'अवङ्' (आदेश) होगा। (यथा—) गवेन्द्रः।

व्याख्या—यद्यपि 'अवङ् स्फोटायनस्य' सूत्र से ही 'अवङ्' आदेश होकर गवेन्द्र रूप सिद्ध हो जाता, तथापि 'इन्द्रे च' के पृथक्पाठ की क्या आवश्यकता थी ? इस आशङ्का के उत्तर स्वरूप यही कहा जा सकता है, कि 'अवङ्

स्फोटायनस्य' वैकल्पिक 'अवङ्' करता है, अतः यदि 'इन्द्रे च' का पृथक्स्वतन्त्र पाठ न किया गया होता, तो यहाँ भी अनभीष्ट वैकल्पिक 'अवङ्' आदेश होता, जबकि भाषा में 'गवेन्द्र' में 'अवङ्' आदेश नित्य होता है। इस प्रकार यह इन्द्र आने पर नित्य अवङ् विधायक सूत्र सिद्ध होता है।

इस प्रकार प्रकृत सूत्रानुसार 'गो' शब्द के बाद यदि 'इन्द्र' आवे, तो उसके (गो के) स्थान पर नित्य अवङ् आदेश होगा। उदाहरणार्थ—

साधुत्व-प्रक्रिया

गवेन्द्रः—'गो + इन्द्रः'—इस स्थिति में 'गो' शब्द के पश्चात् 'इन्द्रः' आने पर 'इन्द्रे च' सूत्र से गो के स्थान पर नित्य 'अवङ्' आदेश प्राप्त हुआ। यह अवङ् किसके स्थान पर होगा? यह आशङ्का होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार अन्तिम अल् 'ओ' के स्थान पर 'अवङ्'—आदेश होना चाहिए, किन्तु यतः यह अवङ् 'ङित्' भी है, अतः 'ङिच्च' के अनुसार अन्त्य 'ओ' के स्थान पर ही होगा। इस प्रकार गकारोत्तरवर्ती अन्त्य 'ओ' के स्थान पर अवङ् आदेश करने पर—

'ग् अवङ् + इन्द्रः'—इस स्थिति में 'ङ्' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप करने पर—

'ग् + अव + इन्द्रः' इस स्थिति में वकारोत्तरवर्ती 'अकार' और इन्द्रः के 'इकार' के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'आद् गुणः' से 'अदेङ् गुणः' में से 'ए' गुण एकादेश करने पर 'ग् + अव् + ए + न्द्रः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'गवेन्द्रः' रूप व्युत्पन्न होता है।

४९. दूराद्धूते च ८।२।८४

दूरात् (पं० ए०) हूते (स० ए०) च (अव्यय)

[दूर से पुकारने पर (विकल्प से वाक्य की 'टि' को प्लुत होता है।)]

दूरात् सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा।

हिन्दी अनुवाद—दूर से सम्बोधन (आह्वान) करने पर वाक्य की 'टि' को विकल्प से प्लुत होता है।

व्याख्या—यदि किसी को दूर से पुकारा जाता है, तो आह्वान वाक्य के टि संज्ञक को विकल्प से प्लुत होता है। जैसे—'आगच्छ कृष्ण'—यह ए

आह्वान—वाक्य है अतः अन्त्य अच् णकारोत्तरवर्ती 'अकार' की टिसंज्ञा होगी और प्रकृत सूत्र से विकल्प से उसका प्लुतत्व होगा। इस प्रकार दो स्थितियाँ हुईं—(i) आगच्छ कृष्ण ३, (ii) आगच्छ कृष्ण।

प्लुत के चिह्नस्वरूप स्वर के सम्मुख ३ 'अङ्क' लिख दिया जाता है।

जिस स्थान तक शब्द पहुंचाने में वक्ता को विशेष प्रयत्न करना पड़े उसे 'दूर' समझना चाहिए। जहाँ आह्वान नहीं होता और वक्ता-श्रोता साथ ही होते हैं, वहाँ स्पर्धा की स्थिति में भी प्लुत होता है। जैसाकि 'ह्वेवञ् स्पर्धायां शब्दे च'—अर्थ से ही स्पष्ट है। ध्यातव्य है, कि आह्वान की दशा में भी जहाँ सम्बोधनपद अन्त में होगा, वहीं प्लुत होगा। जैसे—आगच्छ भो कृष्ण ३ किन्तु यदि पहले होगा, तो नहीं, जैसे— भो कृष्ण। इहागच्छ।

प्लुत होने से प्रकृतिभाव होता है, जिसका विधान आगामी निम्नांकित सूत्र में किया गया है—

५०. प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५

प्लुतप्रगृह्याः (प्र० ब०) अचि (स० ए०) नित्यम् (प्र० ए०)

[प्लुत और प्रगृह्य के बाद स्वर आने पर नित्य (प्रकृतिभाव होगा)।]

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः। आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति।

हिन्दी अनुवाद—ये (प्लुत और प्रगृह्य) बाद में स्वर (अच्) आने पर प्रकृत्य (प्राकृतिक अवस्था में विद्यमान) रहेंगे (अर्थात् कोई सन्धि-कार्य नहीं होगा) (जैसे—) आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति।

व्याख्या—यह प्रकृतिभाव विधायक सूत्र है। इसके अनुसार प्लुत और प्रगृह्यसंज्ञक के पश्चात् स्वरों की प्राप्ति की दशा में प्राप्त तत्तत्सन्धियाँ निषिद्ध हो जायेंगी और प्रकृतिभाव (सन्धि का अभाव) ही होगा। उदाहरणार्थ—'आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति'—इस स्थिति में णकारोत्तरवर्ती 'अकार' और अत्र के 'अकार' के मध्य 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घैकादेश की प्राप्ति हो रही है और इस प्रकार 'आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति' रूप अशुद्धानभीष्ट प्रयोग बनता, किन्तु यतः यहाँ दूराह्वान है, अतः 'दूराद्धूते च' से 'आगच्छ कृष्ण' रूप वाक्य के अन्त्य अच् णकारोत्तरवर्ती 'अकार' की 'अचोऽन्त्यादिटि' से टि संज्ञा और वैकल्पिक प्लुत है, अतः 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' से नित्य प्रकृति-

भाव होगा और प्राप्त दीर्घ का निषेध हो जायगा। इस प्रकार सन्धि के अभ
में प्रकृतिभाव होकर 'आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति' रूप ही रह जायगा।

प्रकृतसूत्र के साथ प्लुत का प्रकृतिभाव ही दिखाया गया है, प्रगृह्य
नहीं, अतः आगामी सूत्र में प्रगृह्य की परिभाषा और उदाहरण दिये जा
हैं—

५१. ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११

ईत् (प्र० ए०) ऊत् (प्र० ए०) एत् (प्र० ए०) द्विवचनम् (प्र० ए
प्रगृह्यम् (प्र० ए०)

(ईत्, ऊत् और एत् की द्विवचनों की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।)

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ: गंगे अमू

हिन्दी अनुवाद—ईदूदेदन्त (ईदन्त, ऊदन्त और एदन्त) द्विवचनान्त प
की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। (प्रगृह्यसंज्ञा का फल पूर्वोक्त सूत्र के अनुसार प्रकृ
भाव है।) (उदाहरणार्थ– हरी एतौ। विष्णू इमौ। गंगे अमू।

व्याख्या—यह प्रगृह्य संज्ञा विधायक सूत्र है। इसके अनुसार ऐसे द्विव
नान्त पद, जिनके अन्त में ईत्, ऊत् और एत् अर्थात् 'तपरस्तत्कालस्य'
अनुसार केवल दीर्घ 'ई' दीर्घ 'ऊ' और 'ए' हों, की प्रगृह्य संज्ञा होगी। इ
प्रकार 'ईदन्त' द्विवचन पद 'हरी' ऊदन्त द्विवचन पद 'विष्णू', एदन्त द्विव
पद 'गंगे' प्रगृह्य संज्ञक होंगे और इनके पश्चात् स्वर की प्राप्ति होने
'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से नित्य प्रकृतिभाव होगा, कोई सन्धि नहीं होगी
उदाहरणार्थ—

साधुत्व-प्रक्रिया

१. हरी एतौ—'हरी + एतौ'—इस स्थिति में रेफोत्तरवर्ती 'ईकार'
एतौ के 'एकार' के मध्य 'इकोयणचि' से यण्सन्धि की प्राप्ति होगी
इस प्रकार अशुद्ध अनभीष्ट और लोक व्यवहार में अप्रचलित 'हर्येतौ'
बनने लगेगा, किन्तु यतः 'हरी' पद ईदन्त द्विवचनान्त है, अतः 'ईदूदेद्द्विव
प्रगृह्यम्' से प्राप्त दीर्घ का बाधकर प्रकृतिभाव होकर 'हरी एतौ' रूप ही
जायगा और कोई सन्धि नहीं होगी।

(२) विष्णू इमौ:—'विष्णू + इमौ' इस स्थिति में णकारोत्तरवर्ती 'ऊका
और इमौ के 'इकार' के मध्य 'इको यणचि' से यणादेश होकर 'विष्णव

रूप अशुद्ध, अनभीष्ट और अप्रचलित रूप बनने लगता, किन्तु यतः 'विष्णू' ऊदन्त द्विवचनान्त पद है, अतः 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' से इसकी प्रगृह्य संज्ञा होगी और 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्राप्त ही यण् का बाधकर नित्य प्रकृतिभाव होकर 'विष्णू इमौ' रूप ही रह जायगा और सन्धि-कार्य नहीं होगा।

(३) गङ्गे अमू—'गङ्गे + अमू' इस स्थिति में गकारोत्तरवर्ती एकार और 'अमू' के ह्रस्व अकार के मध्य 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप होकर 'गङ्गेमू' अशुद्ध, अनभीष्ट और अप्रचलित रूप बनने लगता, किन्तु यतः 'गङ्गे' एदन्त द्विवचनान्त पद है, अतः 'ईदूदेद्द्विवचनं-प्रगृह्यम्' से इसकी प्रगृह्य संज्ञा और 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्राप्त पूर्वरूप का बाधकर नित्य प्रकृतिभाव होकर 'गङ्गे अमू' रूप ही रह जायगा, सन्धि कार्य नहीं होगा।

५२. अदसो मात् १।१।१२

अदसः (ष० ए०) मात् (पं० ए०)

[अदस् के (अङ्गभूत) मकार पश्चाद्वर्ती ('ई, ऊ' की भी प्रगृह्य संज्ञा होगी)।]

अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। मात्किम्? अमुकेऽत्र।

हिन्दी अनुवाद—अदस् शब्द के अवयव मकार के बाद स्थित ईकार और ऊकार की प्रगृह्य संज्ञा होती है। (जैसे) अमी ईशाः, रामकृष्णावमू आसाते। (सूत्र में) 'मात्' (अनुबन्ध) क्यों रखा? अमुकेऽत्र (की सिद्धि के लिए)।

व्याख्या—अदस् से निष्पन्न 'अमी और अमू' दो पदों में मकार के पश्चात् क्रमशः 'ई' और 'ऊ' हैं, अतः प्रकृत सूत्र से इन 'ई और ऊ' की प्रगृह्य संज्ञा होगी। फलतः इनके बाद स्वर आने पर भी प्राप्त सन्धियाँ नहीं होंगी और प्रकृतिभाव ही रह जायगा। उदाहरणार्थ—

साधुत्व प्रक्रिया

(१) अमी ईशाः—'अमी + ईशाः'—इस स्थिति में मकारोत्तरवर्ती 'ईकार' और ईशाः के 'ईकार' के मध्य 'अकः सवर्णेदीर्घः' से दीर्घ एकादेश प्राप्त था, और 'अमीशाः' यह अनभीष्ट, अप्रचलित तथा अशुद्धरूप बनता, किन्तु यतः 'अमी' पद अदस् का अवयव है और इसमें मकार के पश्चात् ईकार

प्राप्त है, अतः इसकी 'अदसोमात्' से प्रगृह्यसंज्ञा होने पर "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्राप्त दीर्घ का बाधकर नित्य प्रकृतिभाव होने पर 'अमी ईशा' रूप ही रह जायेगा, सन्धि कार्य नहीं होगा।

(२) रामकृष्णावमू आसाते—इस स्थिति में मकारोत्तरवर्ती 'ऊकार' और आसाते के 'आ' के मध्य 'इकोयणचि' सूत्र से यण् आदेश प्राप्त होकर अशुद्ध, अनभीष्ट और अप्रचलित रूप 'रामकृष्णावम्वासाते' बनने लगेगा, किन्तु यतः 'अमू' अदस् का अवयव है, और इसमें म् के पश्चात् 'ऊ' प्राप्त हो रहा है, अतः 'अदसोमात्' से 'ऊ' की प्रगृह्य संज्ञा और 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्राप्त यण् का निषेध और नित्य प्रकृतिभाव होने पर 'रामकृष्णावमू आसाते' रूप ही रह जायगा, सन्धि कार्य नहीं होगा।

'मात्' अनुबन्ध की क्या आवश्यकता थी ? इस आशङ्का के समाधानार्थ यह तर्क दिया जा सकता है, कि यदि सूत्र में 'मात्' अनुबन्ध न होता तो 'अदस्' से निष्पन्न 'अमुके' शब्द के पश्चात् अत्र का 'अकार' स्वर होने पर प्रगृह्यसंज्ञक एकार और अकार के मध्य 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव होने लगता, सन्धि न होती, क्योंकि 'अमुके' एदन्त है।

अतः 'अमुकेऽत्र' में प्रगृह्यत्व और प्रकृतिभाव के निषेधार्थ मात् अनुबन्ध आवश्यक था।

वस्तुतः 'मात्' कथन से सूत्र में 'एकार' की अनुवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि अदस् में मकार से परे 'एकार' की प्राप्ति असम्भव है। यदि 'मात्' का ग्रहण न किया गया होता, तो "सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः"—परिभाषा बलेन 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' से 'एत्' की भी अनुवृत्ति होती और 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव अवश्य होता, फलतः 'अमुके अत्र' रूप अशुद्ध, अनभीष्ट तथा अप्रचलित प्रयोग बनने लगता, यद्यपि स्त्रीलिङ्ग द्विवचनान्त 'अमुके' के साथ 'अत्र' प्राप्त होने पर 'अमुके अत्र' अवश्य बनता है। अतः इस अनिष्ट से बचने के लिए 'मात्' का सूत्र में पाठ आवश्यक था। जिसके परिणामस्वरूप 'अमुके' में म् के पश्चात् 'उ और क्' के व्यवधान के कारण प्रकृतिभाव निषिद्ध हो गयी, तथा 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप होने से 'अमुकेऽत्र' प्रयोग बनता है।

अतः 'एत्' की अनुवृत्ति और तज्जन्य प्रगृह्यत्व तथा प्रकृतिभाव के निषेधार्थ 'मात्' का पृथक्शः ग्रहण आवश्यक था—"तथा च एकराननुवृत्तिफलकं माद्ग्रहणमितिभावः।" (तत्त्वबोधिनी)

५३. चादयोऽसत्त्वे १।४।५७

च (अव्यय) आदयः (प्र० ब०) असत्त्वे (स० ए०)

[असत्त्व (अद्रव्यवाची) होने पर च आदि (वा, ह आदि) की निपात संज्ञा होती) ।]

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः ।

हिन्दी अनुवाद—अद्रव्यार्थक (द्रव्य से भिन्नार्थक) च् आदि की निपात-संज्ञा होगी ।

व्याख्या—च, वा, ह आदि को 'चादि' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। जब इनका अर्थ सत्त्व (द्रव्य) नहीं होता, तब चादि की निपात संज्ञा होती है।

उदाहरणार्थ—'च' का जब 'चन्द्रमा, कच्छप और चोर' आदि सत्त्व (द्रव्य) वाची होगा, तो उसकी निपात संज्ञा नहीं होगी, किन्तु जब वह 'और' रूप असत्व (अद्रव्य) वाची होगा तो उसकी निपात संज्ञा होगी। इसी प्रकार आकाश, पानी तथा शिव आदि द्रव्यवाची अर्थों में 'ह' अनिपात होगा, किन्तु निश्चयरूप असत्त्वार्थ में निपात संज्ञक होगा, और इसी प्रकार अथवा, तुल्य और विकल्प आदि अद्रव्य (असत्त्व) अर्थों में 'वा' निपात होगा, किन्तु तद्भिन्न द्रव्य (सत्त्व) वाचित्व की स्थिति में अनिपात।

५४. प्रादयः १।४।५८

प्रादयः (प्र० ब०)

[प्र—आदि (भी अद्रव्यवाची होने पर निपात संज्ञक होंगे।)]

एतेऽपि तथा।

हिन्दी-अनुवाद—ये भी वैसे ही होंगे (अर्थात् अद्रव्य या असत्त्ववाचिता की स्थिति में निपात संज्ञक होंगे।)

व्याख्या—प्र-आदि 'उपसर्गाः क्रियायोगे' सूत्र की वृत्ति में परिगणित बाइस उपसर्ग असत्त्ववाची (अद्रव्यवाची) होने पर निपातसंज्ञक होंगे।

५५. निपात एकाजनाङ् १।१।१४

निपातः (प्र० ए०) एकाच् (प्र० ए०) अनाङ् (प्र० ए०)

[अनाङ् (आङ् के अतिरिक्त) एक स्वर (एकाच्) मात्र रूप निपात (प्रगृह्यसंज्ञक होता है)।]

एकोऽज् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात् । इ इन्द्र । उ उमेशः ।

हिन्दी-अनुवाद—आङ् (आ) के अतिरिक्त (को छोड़कर) एक अ (स्वरमात्र) रूप निपात प्रगृह्यसंज्ञक होता है। (जैसे—) इ इन्द्रः । उ उमेशः।

व्याख्या—यह एकाच् निपात की प्रगृह्यसंज्ञा-विधायक सूत्र है । इसके अनुसार आङ् (आ) को छोड़कर शेष सभी एक स्वरमात्र रूप निपातों की प्रगृह्यसंज्ञा होगी। प्रकृत सूत्र में यदि 'एकाच्' न रखा जाय, तो 'येनविधिस्त-दन्तस्य' के अनुसार अजन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होने लगेगी। इस प्रकार 'प्र' की भी निपात संज्ञा होने लगेगी और 'प्र+इदम्' इस स्थिति में 'प्रेदम्' न बनकर 'प्रइदम्' रूप अनभीष्ट प्रयोग बनने लगेगा। अतः 'एक' का ग्रहण आवश्यक है। अतः 'एकाच्' का 'एकश्चासौ अच्'–कर्मधारय माना होगा, अर्थात् एकमात्र अच् या केवल एक अच् मात्र रूप निपात। जैसे—अ आक्षेपार्थक, आ—वाक्यस्मरणार्थक, इ—विस्मयार्थक, ई–सम्बोधनार्थक,–अ वितर्कार्थक 'ऊ-ए-ऐ-ओ-औ' सम्बोधनार्थक और आ—अल्पार्थक एवं मर्यादार्थक इत्यादि ग्यारह एकाच् निपात हैं। इनकी प्रकृत सूत्र से ही निपात संज्ञा होती है। तथा इनके योग में सन्धिकार्य नहीं होता प्रत्युत 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव हो जाता है। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

१—इ इन्द्रः—'इ+इन्द्रः' इस स्थिति में 'इ और इ' के स्थान पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश 'ई' प्राप्त था, जिससे 'ईन्द्रः' रूप अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग बनने लगता, किन्तु यतः 'इ' चादि विस्मयार्थक असत्वाचिता के कारण 'चादयोऽसत्त्वे' से निपातसंज्ञक है, और एकाच् होने से 'निपात एकाजनाङ्' से प्रगृह्यसंज्ञक भी है, अतः प्राप्त दीर्घ बाधित हो जायगा और 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से नित्य प्रकृतिभाव होकर 'इ इन्द्रः' रूप अभीष्ट प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

२—उ उमेशः—'उ+उमेशः' इस स्थिति में 'उ और उ' के स्थान पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ 'ऊ' एकादेश प्राप्त था, जिससे 'ऊमेशः' रूप अशुद्ध, अनभीष्ट तथा अप्रचलित रूप बनने लगता, किन्तु यतः 'उ' चादि वितर्कार्थक असत्त्ववाचिता के कारण 'चादयोऽसत्त्वे' से निपातसंज्ञक है और एकाच् होने से 'निपात एकाजनाङ्' से प्रगृह्यसंज्ञक भी है, अतः प्राप्त दीर्घ का वारण (निषेध) होकर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से नित्य प्रकृतिभाव होकर 'उ उमेशः' रूप ही रह जायगा, सन्धिकार्य नहीं होगा।

वाक्यस्मरणयोरङित् । आ एवं न मन्यसे, आ एवं किल तत् ।

हिन्दी अनुवाद—वाक्य और स्मरण के अर्थ में आङ् को अङित् (आ) समझें। (जैसे—) 'आ एवंनुमन्यसे', और 'आ एवं किल तत्'–(आदि प्रयोगों में) ।

व्याख्या—'आङ् और आ' इन दोनों निपातों का प्रयोग में 'आ' एक ही रूप होता है। 'आङ्' में ङ् की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप होता है। 'ङ् इत् यत्र सः ङित्, न ङित् इति अङित् ।'—यतः आङ में ङ् इत् है, अतः यह ङित् हुआ तथा 'आ' ङित् नहीं है, अतः यह 'अङित्' और अनाङ् हुआ ।

प्रकृतसूत्र 'निपात एकाजनाङ' से अङित् और अनाङ् 'आ' की प्रगृह्य संज्ञा होती है और इसके योग में 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्राप्त सन्धिकार्य न होकर प्रकृतिभाव होता है। जैसे—

व्युत्व-प्रक्रिया

(१) आ एवं नु मन्यसे—'आ+एवं नु मन्यसे' इस स्थिति में 'आ और ए' के स्थान पर 'वृद्धिरेचि' से 'ऐ' वृद्धि एकादेश प्राप्त था; जिससे 'ऐवं नु मन्यसे' रूप अशुद्ध, अनभीष्ट तथा अप्रचलित प्रयोग बनने लगता, किन्तु यतः 'आ' अनाङ् (अङित्) और एकाच् है, और वाक्यबोधक है, अतः 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से इसकी प्रगृह्य संज्ञा हुई और प्राप्त वृद्धि का निषेध होकर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव होकर 'आ एवं नु मन्यसे' रूप शुद्ध अभीष्ट तथा प्रचलित प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

(ii) आ एवं किल तत्—'आ+एवं किल तत्' इस स्थिति में 'आ और ए' के स्थान पर 'वृद्धिरेचि' से 'ऐ' वृद्धि एकादेश प्राप्त था, जिससे 'ऐवं किल तत्' रूप अशुद्ध तथा अप्रचलित रूप बनने लगता, किन्तु यतः 'आ' स्मरणार्थक अङित् (अनाङ् एकाच् है, अतः 'निपात एकाजनाङ्' से प्रगृह्य संज्ञक होने से प्राप्त वृद्धि का निषेध होकर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से नित्य प्रकृतिभाव 'आ एवं किल तत्' रूप व्युत्पन्न होगा ।

अन्यत्र ङित् । ईषदुष्णम् ओष्णम् ।

हिन्दी अनुवाद—(आ को) अन्यत्र ङित् समझें।

व्याख्या—वाक्य और स्मरण के अतिरिक्त अन्यत्र आङ् को ङित् स
चाहिये। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ङित् और अङित् 'आ' अन्तर
सुन्दर ढंग से निम्नाङ्कित कारिका में प्रदर्शित किया है—

"ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्यात् वाक्यस्मरणयोङित् ॥"

अभिप्राय यह है, कि अल्प अर्थ में, क्रियायोग में मर्यादा और अभि
अर्थ में जो 'आ' है, उसे ङित् (आङ्) समझें और वाक्य तथा स्मरण
जो 'आ' है उसे अङित् (आ) समझें। उदाहरणार्थ—

ओष्णम्—'आ+उष्णम्'—इस स्थिति में यतः 'आ' एकाच् है,
'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से इसकी प्रगृह्य संज्ञा होगी, और 'प्लुतप्रगृह्या
नित्यम्' से नित्य प्रकृतिभाव प्राप्त होकर 'आ उष्णम्' यह अशुद्ध अ
तथा अप्रचलित रूप व्युत्पन्न होने लगता है, किन्तु यतः यहाँ आ स्वल्प
प्रयुक्त है, अतः 'अन्यत्र ङित्' तथा "ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च
एकमातं ङितं विद्यात् वाक्यस्मरणभोरङित् ॥" के अनुसार ङित् हुआ,
यहाँ 'निपात एकाजनाङ्' की प्रवृत्ति नहीं होगी, फलतः प्रकृतिभाव भी
होगा, अतः 'आ और उ' के स्थान पर 'आद्गुणः से स्थानेऽन्तरतमः के
से 'ओ' गुणैकादेश करने पर 'ओष्णम्' रूप व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ
'स्वल्प (थोड़ा) उष्ण (गर्म)'।

५६. ओत् १।१।१५

ओत् (प्र० ए०)

[ओदन्त (निपात भी प्रगृह्यसंज्ञक होता है)।]

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यसंज्ञः। अहो ईशाः।

हिन्दी अनुवाद—ओदन्त निपात (भी) प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं। (जै
अहो ईशाः।

व्याख्या—ओदन्त का अर्थ है—ओत् (ओ) हो अन्त में जि
ओत्+अन्त=ओदन्त। अर्थात् ऐसे निपात जिनके अन्त में 'ओ' हो, वे
की अभिधा से अभिहित होंगे। जैसे—अहो, अघो, भो आदि। ओदन्त
भी प्रकृत सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञक होंगे, फलतः 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्'
इनके योग में भी प्रकृतिभाव ही होगा, सन्धिकार्य नहीं। जैसे—

अहो ईशाः—'अहो + ईशाः'—इस स्थिति में इकारोत्तरवर्ती 'ओ' और शाः के ईकार' के मध्य 'एचोऽयवायावः' से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के हकार से 'ओ' के स्थान पर 'अव्' आदेश होकर 'अह्वीशाः' अशुद्ध, अनभीष्ट था अप्रचलित रूप बनने लगता है, किन्तु यतः 'अहो' ओदन्त 'चादयोऽसत्त्वे' निपात संज्ञक भी है, अतः 'ओत्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञक भी है, अतः यहाँ लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव होगा, और प्राप्त अयादि सन्धि ारित हो जायेगी । इस प्रकार सन्धिकार्य न होकर 'अहो ईशाः' प्रयोग नेगा।

७. सम्बुद्धौशाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६

सम्बुद्धौ (स० ए०) शाकल्यस्य (ष० ए०) इतौ (स० ए०) अनार्षे स० ए०) .

[शाकल्य के (मतानुसार) सम्बोधन की स्थिति में अवैदिक (लौकिक) संस्कृत में) इति बाद में होने पर (ओकार विकल्प से प्रगृह्यसंज्ञक होगा)।]

सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे। विष्णो इति, विष्ण ति, विष्णविति ।

हिन्दी अनुवाद—सम्बुद्धिनिमित्तक ओकार अवैदिक (लौकिक) इति बाद आने पर विकल्प से प्रगृह्य (प्रगृह्यसंज्ञक) (होता है) । (यथा—) विष्णो ति, विष्ण इति, विष्णविति ।

व्याख्या—सम्बोधन के प्रकरण में एकवचन के रूप को 'सम्बुद्धि' कहते —'एकवचन सम्बुद्धिः' अतः 'सम्बुद्धौ' का अर्थ है 'सम्बुद्धि' होने पर अर्थात् म्बोधन एकवचन के रूप में स्थिति ओकार के प्रसङ्ग में। 'अनार्षे' का अर्थ —न + आर्षे = अनार्षे—अवैदिक अर्थात् लौकिक संस्कृत में। अभिप्राय यह , कि वैदिक संस्कृत में यह सूत्र प्रभावी नहीं होगा । 'इतौ' का अर्थ है 'इति' द आने पर ।

इस प्रकार सूत्र का अर्थ हुआ—सम्बोधन एकवचन में स्थित ओकार के श्चात् लौकिक संस्कृत में 'इति' पद आने पर शाकल्य के मतानुसार विकल्प 'ओकार' की प्रगृह्यसंज्ञा होगी ।

ध्यातव्य है, कि प्रगृह्यसंज्ञा शाकल्य के अनुसार ही होती है, पाणिनि के नुसार नहीं। जैसे—

साधुत्व प्रक्रिया

(१) विष्णो इति—विष्ण इति—विष्णविति—'विष्णो + इति' स्थिति में णकारोत्तरवर्ती ओकार के पश्चात् इकार प्राप्त होने पर 'एचो-ऽयवायावः' सूत्र से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से 'ओ' के स्थान 'अव्' आदेश प्राप्त होगा, किन्तु यतः 'एकवचनसम्बुद्धिः' सूत्रानुसार ओकार सम्बुद्धिनिमित्तक है, अतः 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' सूत्र से प्र वैकल्पिक संज्ञा हुई, और 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' सूत्र से प्रकृतिभाव पर 'विष्णो इति' रूप वनता है।

जहाँ विकल्प से 'ओ' की प्रगृह्यसंज्ञा नही होगी, वहाँ "एचो०" इत्या और "यथासंङ्ख्यमित्यादि" से 'अव्' आदेश होने पर 'अज्झीनं(व्यञ्जनं) परेणसंयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'विष्णविति' रूप वनेगा।

और 'विष्ण् अव् इति' इस स्थिति में 'लोपः—शाकल्स्य' सूत्र से 'व्' विकल्प से लोप करने पर 'विष्ण्अ इति'—इस स्थिति में 'अज्झीनं' से संयोग करने पर 'विष्ण इति' रूप वनेगा। अव 'अ' और 'इ' के मध्य 'आद्' से गुण एकादेश प्राप्त होगा, किन्तु यतः 'लोपःशाकल्यस्य' त्रिपादी है, 'आद्गुणः' सपादसप्ताध्यायी, अतः 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से गुण की दृष्टि त्रिपादी असिद्ध हो जायेगी, और 'व्' का लोप नहीं माना जायगा, फलतः का प्रश्न ही निरस्त हो जायेगा। इस प्रकार 'विष्णो इति 'विष्णविति विष्ण इति' तीन रूप व्युत्पन्न होंगे।

५८. मय उञोवो वा ८।३।३३

मयः (पं० ए०) उञः (ष० ए०) वः (प्र० ए०) वा (अव्यय)

[मयः (प्रत्याहार) के पश्चात् (स्थित) उञ् (उ) को (के स्थान विकल्प से 'व' हो जायगा)।]

मयः परस्य उञो वो वाऽचि। किम्वुक्तम्, किमु उक्तम्।

हिन्दी अनुवाद—मय् (प्रत्याहार) से परे उञ् (उ) को बाद में अच् (आने पर विकल्प सें 'व्' हो जाता है। (यथा—) किम्वुक्तम्, किमु उक्त

व्याख्या—यदि मय्—प्रत्याहार के पश्चात् उञ् हो और उसके बाद स्वर हो तो विकल्प से उञ् को 'व' हो जायेगा। जैसे—

ाधुत्व-प्रक्रिया

किमुक्तम्—किमु उक्तम—'किम्+उ+उक्तम्' इस स्थिति में 'अकः
वर्णे दीर्घः, से दीर्घ एकादेश प्राप्त होगा, किन्तु यतः मकारोत्तरवर्ती उकार
काच् है, अतः 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से उसकी प्रगृह्यसंज्ञा हुई और
लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव होकर 'अज्झीनं व्यञ्जनं परेण संयोज्यम्'
वर्ण संयोग करने पर 'किमुउक्तम्' रूप बनेगा, किन्तु यतः मय् म् के पश्चात्
ञ् उकार प्राप्त हो रहा है, अतः मय् उञो वो वा' से विकल्प से 'व्'
ादेश करने पर—'किम् व् उक्तम्' इस स्थिति में 'अज्झीनं(व्यञ्जनं) परेण
ंयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'किम्वुक्तम्' रूप व्युत्पन्न होगा।

अब विशेष ध्यातव्य है, कि 'किम् व उक्तम्' इस स्थिति में 'मोऽनुस्वरः'
ूत्र से 'म्' के स्थान पर अनुस्वर (ं) आदेश होना चाहिए, किन्तु यतः
त्रिपादी में 'मोऽनुस्वारः' के पश्चात् 'मय उञो वो वा' पढ़ा गया है, अतः
ूर्वत्रासिद्धम्' से 'मोऽनुस्ववरः' की दृष्टि में 'मय उञो वो वा' असिद्ध हो
ायेगा। अर्थात् 'व' आदेश नहीं होगा, अतः अनुस्वारत्व का प्रश्न ही निरस्त
ा जायगा, और अनुस्वार नहीं होगा। तत्वबोधिकार के अनुसार यदि 'मय
ञो वो वा' से केवल प्रकृतिभाव का निषेध अभीष्ट होता, तो इसे इको
णचि' के पश्चात् पढ़कर 'यण्' की अनुवृत्ति कर ली जाती। यतः 'इको यणचि
पश्चात् इसकी व्यवस्था नहीं की गई, अतः 'मोऽनुस्वार' का निषेध भी इसका
देश्य था।

९. इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७

इकः (ष० ए०) असवर्णे (स० ए०) शाकल्यस्य (ष० ए०) ह्रस्वः (प्र०ए०)
(अव्यय)

[शाकल्य के (अनुसार) इक् को (के स्थान पर) बाद में असवर्ण आने पर
ह्रस्व भी (होता है)।]

पदान्ता इको ह्रस्वो वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वर सन्धिः।
क्रि अत्र, चक्रयत्र। पदान्ता इति किम्? गौर्यौ।

हिन्दी अनुवाद—पदान्त इक् को (के स्थान पर) बाद में अ सवर्ण अच्
स्वर) आने पर विकल्प से ह्रस्व आदेश हो जाता है। ह्रस्व विधि (विधान)
सामर्थ्य से स्वर सन्धि नहीं (होगी)। यथा-) चक्रिअत्र, चक्रयत्र। (वृत्ति में)
दान्त यह (अनुबन्ध) क्यों (है)? 'गौर्यौ' (की सिद्धि के लिए)।

व्याख्या—महर्षि शाकल्य के अनुसार पदान्त इक् के पश्चात् यदि 'अच्' (स्वर) आता है, तो विकल्प से इक् के स्थान पर ह्रस्वादेश हो जा और प्रकृतिभाव रहता है। ध्यातव्य है, कि ह्रस्वत्व आदेश शाकल्य को मान्य है, पाणिनि को तो स्वर सन्धि अभीष्ट है। जैसाकि 'सिद्धान्त कौ में भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं:—

"पदान्ता इकोऽसवर्णेऽचि परे प्रकृत्या स्युर्ह्रस्वश्च वा" "ह्रस्व सामर्थ्यादेव प्रकृतिभावे सिद्धे तदनुकर्षणमिदचकारो न कर्त्तव्य इति स्थितम्।" जैसे:—

साधुत्व-प्रक्रिया

चक्रिअत्र-चक्र्यत्र—चक्री+अत्र इस स्थिति में रेफोत्तरवर्ती ई पश्चात् 'अकार' असमान स्वर आने पर 'इको यणचि' से यण् प्राप्त होत किन्तु प्रकृत सूत्र 'इकोसवर्णेशाकल्यस्यह्रस्वश्च' से वह बारित हो जा और इक् 'ई' के स्थान पर विकल्प से ह्रस्वादेश 'इ' करने पर—

चक्र् ई+अत्र

=चक्र ई+अ=य् यणादेश किन्तु उसका निषेध

=चक्र् ई+अ='इ'+अत्र

=चक्र् इ+अत्र

='चक्रि अत्र' रूप बना।

जहाँ विकल्प से ह्रस्वादेश नहीं होगा, वहाँ 'इको यणचि' से य करने पर—

चक्र् ई+अ=य् अ+त्र

='चक्र् य् अत्र' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्य वर्ण संयोग करने पर 'चक्र्यत्र' रूप व्युत्पन्न होगा।

अब आशंका होती है, कि, चक्रि अत्र'—इस ह्रस्वादेशरूप में 'इको की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती? इसके उत्तर स्वरूप वृत्तिकार ने पहले ही कर दिया है, कि "ह्रस्वसामर्थ्यान्न स्वरसन्धि:' अर्थात् दीर्घ स्थिति में यणचि' का उपयोग हो ही जाता है, यदि ह्रस्व में भी यणादेश किया ज तो ह्रस्वत्व व्यर्थ हो जायगा। पाणिनि का एक अक्षर भी निरर्थक नहीं

पूर्ण सूत्र या विधान निरर्थक होने लगेगा, साथ ही, भाषा में ह्रस्वरूव भी वहृत होते थे, अतः स्वर सन्धि नहीं होगी। प्रकृत सूत्र ह्रस्वत्व विधायक ।

अब प्रश्न है कि वृत्ति में 'पदान्ताः' विशेषण या अनुबन्ध का प्रयोग उल्लेख) क्यों किया ? इसके उत्तरस्वरूप कहा जा सकता है, कि यद्यपि 'एङः दान्तादति' से 'पदान्तात्' की अनुवृत्ति पूर्वक इक् के स्थान पर ह्रस्वत्व या णादेश सम्भव था, और 'चक्रि अत्र तथा चक्र्यत्र' प्रयोग निर्विघ्न व्युत्पन्न ते, कि 'पदान्ताः' विशेषण के अभाव में 'गौरी+औ' (प्रथमाद्वितीया द्विवचन) भी वैकल्पिक ह्रस्वत्व होने लगेगा, फलतः 'गौरि औ' अनभीष्ट वैकल्पिक प बनने लगता, यतः गौर्यौ अपदान्त है, अतः इससे बचने के लिए और र्यौ की यणादेश पूर्वक सिद्धि के लिए 'पदान्ताः' विशेषण (अनुबन्ध) ावश्यक था।

(वा०) न समासे

न (अव्यय) समासे (स० ए०)

हिन्दी-अनुवाद—समास में (ह्रस्वादेश) नहीं (होगा)।

व्याख्या—यह ह्रस्वत्व का अपवाद है। इसके अनुसार समास के प्रकरण में पदान्त इक् के पश्चात् असमान (असवर्ण) अच् (स्वर) आने पर भी ह्रस्वत्व नहीं होगा, फलतः स्वरसन्धि होगी। उदाहरणार्थ—

वाप्यश्वः—'वापी+अश्वः'—इस स्थिति में यद्यपि पकारोत्तरवर्ती 'ई' के पश्चात् असवर्ण अच् 'अ' आने पर 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' सूत्र से 'ई' (इक्) के स्थान पर ह्रस्व 'इ' आदेश प्राप्त होता है, और फलतः 'वापि अश्वः' रूप अनभीष्ट प्रयोग बनने लगता है, तथापि यतः यह पद तत्पुरुष समास का प्रकरण है, जिसका विग्रह पद है—'वाप्यामश्वः', अतः प्राप्त ह्रस्वत्व 'न समासे' वार्तिक से वारित हो जायगा और फलतः 'इको यणचि' से स्थानेऽन्त-रतमः' के सहकार से 'य्' यणादेश करने पर—

वाप्+ई+अश्वः

=वाप्+ई+अ='इ'+अश्वः, किन्तु उसका निषेध

=वाप्+ई+अ=य् (यणादेश)+अश्वः

='वाप् य् अश्वः' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'वाप्यश्वः' पद व्युत्पन्न होता है।

६०. अचोरहाभ्यां द्वे ८।४।४६

अचः (पं० ए०) रहाभ्याम् (पं० द्वि०) द्वे (प्र० द्वि०)

[अच् (स्वर) से परवर्ती रकार और हकार पर द्वित्व होता है।]

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वास्तः। गौर्य्यौ गौर्यौ।

हिन्दी-अनुवाद—अच् से परवर्ती रेफ (रकार) और हकार के पश्चा यर् का विकल्प से द्वित्व हो जाता है। (जैसे—) गौर्य्यौ, गौर्यौ।

व्याख्या—यदि किसी स्वर के पश्चात् रेफ और हकार हों और पश्चात् कोई 'यर्' प्रत्याहार का वर्ण हो, तो विकल्प से 'यर्' का द्वि जाता है। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

गौर्य्यौ-गौर्यौ—'गौरी+औ'—इस स्थिति में रेफोत्तरवर्ती 'ई' के प 'औ' होने से 'इको यणचि' सूत्र से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार 'ई' के पर 'य्' यणादेश करने पर—

गौर् ई+औ

=गौर् य्+औ इस स्थिति में यतः 'औ' अच् के पश्चात् र् (रेफ और उसके पश्चात् य् यर् की प्राप्ति हो रही है, अतः यर् 'य्' की विक द्वित्व करने पर—

'गौ र् य् य औ' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्य वर्णसंयोग करने पर 'गौर्य्यौ' रूप बनेगा।

जब यर् 'य्' का वैकल्पिक द्वित्व नहीं होगा, तो द्वित्वाभाव पक्ष में ' रूप बनेगा।

६१. ऋत्यकः ६।१।१२८

ऋति (स० ए०) अकः (ष० ए०)

[ऋत् (ह्रस्व ऋ) (बाद में) आने पर अक् के (स्थान) पर (ह्र आदेश हो जायगा)।]

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद्व। ब्रह्म ऋषिः ब्रह्मर्षिः। पदान्ताः कि आच्छंत्।

हिन्दी-अनुवाद—ऋत् (ह्रस्व ऋ) आने पर पदान्त अक् विकल्प से पूर्ववत् (ह्रस्ववत्) हो जाता है। (यथा—) ब्रह्मऋषिः, ब्रह्मर्षिः' (वृत्ति में) 'पदान्ताः, विशेषण (अनुबन्ध) क्यों (रखा है) ? 'आच्छंत्' (की सिद्धि के लिए)।

व्याख्या—प्रकृत सूत्र 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' का पूरक है। जिसमें केवल इक् के ह्रस्वत्व की व्यवस्था थी। 'ब्रह्म ऋषिः' आदि कुछ प्रयोगों में भी ह्रस्वादेश हो रहा था, अतः अक् के ह्रस्वत्व के लिए प्रकृत सूत्र 'ऋत्यकः' की पृथक् व्यवस्था करनी पड़ी। इसके अनुसार यदि पदान्त अक् के पश्चात् ऋत् (ह्रस्व ऋ) आवे, तो विकल्प से अक् का प्राग्वद्भाव (ह्रस्वत्व) हो जाता है, जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

ब्रह्मऋषि—ब्रह्मर्षिः—'ब्रह्म+ऋषिः'—इस स्थिति में मकारोत्तरवर्ती 'आकार' के पश्चात् ऋकार आने पर 'आद्गुणः' से गुणएकादेश प्राप्त होता है, किन्तु यतः 'ब्रह्मा पद के अन्त में 'आ' अक् है, और उसके पश्चात् 'ऋकार' ऋत् प्राप्त हो रहा है, अतः 'ऋत्यकः' सूत्र से विकल्प से 'आ' अक् का ह्रस्व करने पर—

=ब्रह्म+आ+ऋ='अर् (गुणैकादेश)+षिः, किन्तु उसका निषेध
=ब्रह्म्+आ+ऋ=अ ऋ षिः

='ब्रह्म् अ ऋ षिः' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्'—से वर्ण संयोग करने पर 'ब्रह्मऋषिः' प्रयोग व्युत्पन्न होता है, जहाँ वैकल्पिक ह्रस्वत्व नहीं होता, वहाँ ह्रस्वाभाव पक्ष में 'आद्गुणः और उरण् रपरः' से 'ब्रह्मर्षिः' रूप बनेगा।

पूर्व प्रयोग 'ब्रह्म ऋषि' में गुण की आशङ्का को निरस्त करने के लिए 'ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वर सन्धिः' उद्धरणीय है।

ध्यातव्य है, कि 'न समासे' वार्तिक 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' सूत्र पर 'ऋत्यकः' से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः 'ऋत्यकः' समास में भी ह्रस्वआदेश करेगा। जैसा कि भट्टोजि दीक्षित ने भी कहा है—

"समासेप्ययं प्रकृतिभावः सप्तऋषीणां, सप्तर्षीणाम्।" 'एङः पदान्तादति' से 'पदान्त' की अनुवृत्ति पूर्वक वृत्ति में प्रयुक्त 'पदान्ताः' विशेषण (अनुबन्ध) की क्या आवश्यकता है ? पदान्त अनुबन्ध बिना भी तो ह्रस्वत्व सम्भव था

और 'ब्रह्मर्षिः' आदि प्रयोग व्युत्पन्न हो ही जाते। इस आशङ्का का निराकरण 'आर्च्छत्' प्रयोग से किया जा सकता है। यदि 'पदान्त' अनुबन्ध न रखते तो अपदान्त में भी ह्रस्वत्व का अतिदेश होने लगता। फलतः 'आ ऋच्छत्' रूप अनभीष्ट और अप्रचलित रूप बनने लगता। अतः इस अनभीष्ट से बचने के लिए 'पदान्त' अनुबन्ध परमावश्यक था। इस प्रकार 'आ + ऋच्छत्' इस स्थिति में यतः आ उपसर्ग ऋच्छत् क्रियापद दोनों संयुक्त रूप से तिङन्त होने से पद है, अतः यह अपदान्त का प्रसङ्ग होने से ह्रस्वत्व प्रकृतसूत्र से नहीं होगा, फलतः 'आटश्च' से वृद्धि और 'उरण् रपरः' की सहायता से 'आर्' एकादेश करने पर—'आर्च्छत्' इस स्थिति में 'अज्झीनं व्यञ्जनं परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'आर्च्छत्' प्रयोग बनता है।

अतः 'आर्च्छत्' आदि प्रयोगों की सिद्धि तथा अपदान्त में ह्रस्वत्व के अनभीष्ट अतिदेश से बचने के लिए 'पदान्ताः' विशेषण (अनुबन्ध) आवश्यक है।

इत्यच् सन्धिः (अच् समाप्त)

———

अथ हल्सन्धिः

(हल्सन्धि प्रकरण)

६२. स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०

स्तोः (ष० द्वि०) श्चुना (तृ० ए०) श्चुः (प्र० ए०)

[सकार और तवर्ग के (स्थान पर) शकार और चवर्ग द्वारा (बाद में या पर) शकार और चवर्ग (हो जाता है)।]

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः। रामश्शेते, रामश्चिनोति, सच्चित्। शार्ङ्गिञ्जयः।

हिन्दी अनुवाद—सकार और तवर्ग का शकार और चवर्ग के साथ योग होने पर शकार और चवर्ग हो जाते हैं। (जैसे— रामश्शेते, रामश्चिनोति, सच्चित (और) शार्ङ्गिञ्जयः।

व्याख्या—यदि स् तथा तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) का शकार और चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) के साथ योग हो, तो सकार और तवर्ग के स्थान पर शकार और चवर्ग हो जाते हैं। अतः इसे श्चुत्वविधायक सूत्र कहते हैं।

प्रकृत प्रकरण में स्थानी और आदेश की संख्या समान है, अतः ये आदेश 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के अनुसार क्रमशः होंगे। यह यथासङ्ख्यत्व आदेश क्रम में ही होगा, किन्तु योग में यथासङ्ख्यत्व अपेक्षित नहीं। योग में सकार और तवर्ग का चकार और शकार दोनों के योग में शकार और चवर्ग होगा। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

१. रामश्शेते—'रामस्+शेते'—इस स्थिति में सकार और शकार का योग होने से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से प्रकृत सूत्र 'स्तोः श्चुनाश्चुः' से सकार के स्थान पर शकार करने पर—

'रामश्शेते' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' के अनुसार वर्ण संयोग करने पर 'रामश्शेते' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

२. रामश्चिनोति—'रामस्+चिनोति'—इस स्थिति में 'सकार और चकार' का योग होने से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से 'स्तोः श्चुनाश्चुः' सूत्र से सकार के स्थान पर शकार करने पर—

'रामश् चिनोति' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण् संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर —'रामश्चिनोति' रूप व्युत्पन्न होगा।

३. सच्चित्—'सत्+चित्'—इस स्थिति में 'तकार और चकार' के एकत्र में 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से 'स्तोः श्चुनाश्चुः' सूत्र से तकार के स्थान पर चकार आदेश करने पर—

'सच् चित' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेणसंयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'सच्चित्' रूप निष्पन्न होगा।

४. शार्ङ्गिञ्जयः—'शार्ङ्गिन्+जयः'—इस स्थिति में नकार (तवर्ग) और जकार (चवर्ग) के योग में 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से 'स्तोः श्चुनाश्चुः' सूत्र से नकार के स्थान पर ञकार करने पर—

'शार्ङ्गिन्‌जयः' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से संयोग करने पर 'शार्ङ्गिञ्जयः' रूप व्युत्पन्न होगा।

६३. शात् ८।४।४४

शात् (पं० ए०)

[शकार के पश्चात् (तवर्ग आने पर चवर्ग नहीं होता)।]

शात्परस्य तवर्गस्य श्चुत्वं न स्यात्। विश्नः। प्रश्नः।

हिन्दी अनुवाद—शकार से परवर्ती तवर्ग का श्चुत्व नहीं होता। (यथा विश्नः, प्रश्नः।

व्याख्या—यह श्चुत्व निषेध—विधायक सूत्र है। 'विश्नः और प्रश्नः प्रयोगों में प्राप्त श्चुत्व का निषेध ही इस सूत्र के प्रणयन का आवश्यक प्रयोजन है। उदाहरणार्थ—

विश्नः—'विश् + नः'—इस स्थिति में शकार और नकार (तवर्ग) के योग में 'स्तोः श्चुनाश्चुः' सूत्र से यथासङ्ख्यविधि से नकार (तवर्ग) के स्थान पर 'ञकार' (चवर्ग) प्राप्त होगा, और अशुद्ध, अनभीष्ट तथा अप्रचलित 'विश्ञः' रूप बनने लगता, किन्तु शकार के पश्चात् नकार (तवर्ग) होने से श्चुत्व निषिद्ध हो जायेगा, और तवर्ग ही रह जायगा, फलतः 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'विश्नः' प्रयोग बनेगा। इसी प्रकार—

प्रश्नः—'प्रश् + नः'—इस स्थिति में भी शकार और नकार के योग में 'स्तोः श्चुनाश्चुः' से ञकार प्राप्त था और इस प्रकार 'प्रश्ञः' अशुद्ध, अनभीष्ट और अप्रचलित रूप बनने लगता, फलतः उसे वारित करने हेतु 'शात्' सूत्र का पाठ किया गया, यतः शकार के पश्चात् नकार है, अतः यथास्थिति ही रह जायगी, श्चुत्व नहीं होगा, इस प्रकार 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'प्रश्नः' रूप बनेगा।

६४. ष्टुना ष्टुः ८।४।४१

ष्टुना (तृ० ए०) ष्टुः (प्र० ए०)

[(सकार और तवर्ग का) षकार और टवर्ग के साथ (योग) होने पर षकार और टवर्ग (रूप आदेश) हो जाता है।]

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ।

हिन्दी अनुवाद—सकार और तवर्ग का षकार और टवर्ग के साथ योग होने पर (के योग में) षकार और टवर्ग हो जाता है। (यथा—) रामष्षष्ठः, रामष्टीकते, पेष्टा, तट्टीका (तथा) चक्रिण्ढौक से।

व्याख्या—यह ष्टुत्वविधायक सूत्र है। इसमें 'स्तोः' की अनुवृत्तिः पूर्ववर्ती सूत्र 'स्तोः' की अनुवृत्ति सूत्र 'स्तोः श्चुनाश्चुः' से करनी पड़ती है। इसके अनुसार सकार और तवर्ग (त्, थ्, द्, ध् न्) और षकार तथा टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) का एकत्र योग होने पर सकार के स्थान पर 'षकार' और तवर्ग के स्थान पर टवर्ग आदेश हो जाता है। स्थानी और आदेश की संख्या समान होने से यहाँ भी 'यथा सङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के अनुसार क्रमशः आदेश होता है। यहाँ भी योग में यथासङ्ख्यत्व ग्राह्य नहीं है। उदाहरणार्थ—

साधुत्व-प्रक्रिया

(१) रामष्षष्ठः—'रामस्+षष्ठः'—इस स्थिति में सकार और षकार के एकत्र योग में 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से सकार के स्थान पर षकार आदेश करने पर—

'रामष्+षष्ठः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रामष्षष्ठः' रूप व्युत्पन्न होता है।

(२) रामष्टीकते—'रामस्+टीकते'—इस स्थिति में, टकार (टवर्ग) के एकत्र योग में 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकर से सकार के स्थान पर षकार करने पर—

'रामष्+टीकते' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रामष्टीकते' रूप व्युत्पन्न होगा।

(३) पेष्टा—'पेष्+ता'—इस स्थिति में षकार और तवर्ग (ता) के योग में 'ष्टुना ष्टु' सूत्र से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से टकार (टवर्ग) आदेश करने पर—

'पेष्+टा' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'पेष्टा' रूप बनेगा।

(४) 'तट्टीका'—'तत्+टीका'—इस स्थिति में तकार और ट (तवर्ग-टवर्ग) का एकत्र योग होने से प्रकृत सूत्र 'ष्टुना ष्टुः' के द्वा 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से तवर्ग के स्थान पर टवर्ग आ करने पर—

'तट्+टीका'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम् वर्ण संयोग करने पर तट्टीका' रूप व्युत्पन्न होगा।

(५) 'चक्रिण्ढौकसे'—'चक्रिन्+ढौकसे'—इस स्थिति में यतः 'च के नकार रूप तवर्ग और 'ढौकसे' के ढकार रूप टवर्ग का एकत्र योग है, 'यथासङ्ख्यमनेदेशः समानम्' के सहकार से 'ष्टुना ष्टु' सूत्र से नकार के स पर णकार आदेश करने पर—

'चक्रिण्+ढौकसे'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम् वर्ण संयोग करने पर 'चक्रिण्ढौकसे' रूप व्युत्पन्न होता है।

६५. न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२

न (अव्यय) पदान्तात् (पं० ए०) टो (पं० ए०) अनाम् (ष० व०)

[पदान्त टवर्ग के पश्चात् अनाम् (नाम्-षष्ठी बहुवचन को छोड़ सकार और तवर्ग का (ष्टुत्व) नहीं होता।]

पदान्ताट्टवर्गात्परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट्ते। पदान् किम्? इट्टे। टोः किम्? सर्पिष्टमम्।

हिन्दी अनुवाद—पदान्त टवर्ग से परवर्ती अनाम् (षष्ठी बहुवचन अतिरिक्त) सकार और तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता। (यथा—) षट् स षट्ते.(सूत्र और वृत्ति में) पदान्तात् विशेषण (अनुबन्ध) क्यों (रखा गया है 'इट्टे' प्रयोग की सिद्धि के लिए) 'टोः' क्यों (कहा गया)? 'सर्पिष्टमम् सिद्धयर्थ)।

व्याख्या—यह ष्टुत्वनिषेध-विधायक सूत्र है। इसके अनुसार यदि प अन्त में टवर्ग हो और उसके पश्चात् सकार और तवर्ग हो, तो भी सकार तवर्ग के स्थान पर षकार और टवर्ग ष्टुत्व रूप आदेश नहीं होता, किन्तु बहुवचन के नाम् के नकार को णकार (ष्टुत्व) होता है। अर्थात् षष्ठी बहु के प्रसङ्ग में यह ष्टुत्व-निषेध प्रभावी नहीं होता। यथा—

साधुत्व-प्रक्रिया

(१) षट् सन्त—'षड्+सन्तः'—इस स्थिति में ड् (टवर्ग) और स् (सकार) के एकत्र योग के कारण 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से ष्टुत्व प्राप्त होकर 'षड्षन्तः' और 'खरि च' से 'ट्' आदेश करने पर 'षट्षन्तः' रूप अशुद्ध, अनभीष्ट और अप्रचलित रूप व्युत्पन्न होने लगता, अतः महर्षि पाणिनि 'न पदान्ताट्टोरनाम्' रूप ष्टुत्व-निषेध सूत्र का प्रणयन किया, यतः 'ठ्' पदान्त में स्थित है, और षष्ठी बहुवचन का प्रसङ्ग भी नहीं है, अतः ष्टुत्व का निषेध होने पर यथास्थिति बनी रहेगी और 'षट् सन्तः' रूप बनेगा। इसी प्रकार—

२. षट्ते—'षड्+ते'—इस स्थिति में 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से टकार के योग से 'ते' के तकार को टकार प्राप्त होगा, और इस प्रकार 'षड् टे'—इस स्थिति में 'खरि च' से ट् करने पर 'षट्टे' रूप अशुद्ध, अनभीष्ट और अप्रचलित रूप बनने लगता, किन्तु यतः ट् पद के अन्त में है, और षष्ठी बहुवचन का प्रसङ्ग भी नहीं है, अतः 'न पदान्ताट्टोरनाम्' सूत्र से ष्टुत्व निषेध करके यथास्थिति बनाये रखने पर 'षट्ते' रूप व्युत्पन्न होगा।

अब प्रश्न है, कि यदि 'पदान्तात्' अनुबन्ध न होता तो भी 'षट् सन्तः' आदि प्रयोग बनते, और ष्टुत्व का निषेध हो जाता। अतः 'पदान्तात्' की क्या आवश्यकता है ? उत्तर स्वरूप यह तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है, कि 'षट् सन्तः' आदि में निस्सन्देह ष्टुत्व का निषेध तो हो ही जायगा, कि उक्त निषेध की अतिव्याप्ति अपदान्त में भी होने लगेगी और 'इट्+ते'—इस स्थिति में भी ष्टुत्व निषेध होकर 'ईट्ते' अशुद्ध, अनभीष्ट तथा अप्रचलित रूप बनने लगेगा, और अभीष्ट 'इट्टे' रूप कथमपि व्युत्पन्न नहीं हो सकेगा। अतः इस अनिष्ट से बचने के लिए 'पदान्तात्' अनुबन्ध नितान्त आवश्यक है।

'टोः' क्यों कहा ?—इस आशङ्का के उत्तर में यह तर्कपूर्ण समाधान दिया जा सकता है, कि प्रथमतः तो 'सर्पिष्+तमम्'—इस स्थिति में पदान्त षकार से परे भी ष्टुत्व—निषेध से 'सर्पिष्तमम्' अशुद्ध प्रयोग बनेगा, 'सर्पिष्टमम्' रूप अभीष्ट और शुद्ध नहीं। यदि 'टोः' अनुबन्ध रहता है, तो ष्टुत्व निषेध नहीं होता और अभीष्ट शुद्ध रूप 'सर्पिष्टमम्' सिद्ध हो जाता है।

द्वितीयतः 'ष्टुना ष्टुः' रूप पूर्ववर्ती सूत्र से 'ष्टु'—पद की अनुवृत्ति हो ही सकती थी, और 'पदान्तात् ष्टोः' अर्थ सुलभ था, जिसमें पदान्त षकार को

'झलां जशोऽन्ते' सूत्र से डकार हो जाने के कारण 'पदान्त षकार से परे' ही की सम्भावना ही निरस्त हो जायगी, और 'पदान्त टवर्ग से परे'— अनुबन्ध की स्वतः प्राप्ति (अनुवृत्ति) होने लगेगी, अतः 'टोः' का उल्ले व्यर्थ है।

किन्तु समाधानस्वरूप 'टोः' के प्रयोग का आशय इन शब्दों में स्पष्ट कि जा सकता है, कि 'सर्पिष्टमम्' में 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' सूत्र से षकार होता जो असिद्ध है। असिद्ध के कारण जश्त्व हो ही नहीं सकता, षकार ही रहेगा अतः निषेध से बचने के लिए 'टोः' का ग्रहण न किया गया होता, तो 'ष्टु' अनुवृत्ति होने पर षकार से पर को भी निषेध होगा और 'सर्पिष्तमम्' अ प्रयोग बनने लगेगा। इसके विपरीत यदि 'टोः' का ग्रहण रहता है, तो पद टवर्ग से ही निषेध होने के कारण 'सर्पिष् + तमम्' प्रयोग में उक्त निषेध प्राप्ति नहीं होती, फलतः ष्टुत्व होकर सर्पिष्टमम् रूप अभीष्ट तथा सं रूप व्युत्पन्न होने में कोई कठिनाई नहीं होती और न ही अशुद्ध रूप सर्पिष्त की व्युत्पत्ति की कोई सम्भावना ही रहती है।

अतः 'टोः' का पृथक् उल्लेख आवश्यक था।

(वा०) अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्। षण्णाम्, षण्णव (षड्णवतिः), षण्णगर्यः (षड्णगर्यः)।

अनाम्नवतिनगरीणाम् (ष० व०) वाच्यम् (प्र० ए०)

हिन्दी अनुवाद—(पदान्त टवर्ग से परे) नाम्, नवति, तथा नगरी के अ रिक्त (भिन्न) अन्य शब्दों के सकार और तवर्ग के ष्टुत्व का निषेध क (मानना) चाहिए। (इन पूर्वोक्त—नाम्—नवति—नगरी के सन्दर्भ में अवश्य होगा।) (जैसे—) षण्णाम्, षण्णवतिः (षड्णवतिः), षण्ण (षड्णगर्यः)।

व्याख्या—महर्षि पाणिनि ने 'न पदान्ताट्टोरनाम्' सूत्र में केवल 'अन का ही ग्रहण किया है, फलतः सूत्र द्वारा 'षण्णवतिः' और 'षण्णगर्यः' प्र व्युत्पन्न न हो पाते, अतः इस वार्तिक की रचना करनी पड़ी। इस वार्ति प्रकट है, कि 'अष्टाध्यायी' के प्रणयन काल तक 'षण्णवतिः और षण्ण पदों में ष्टुत्व निषेध रहा होगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

(i) **षण्णाम्**—'षष्+नाम्' इस स्थिति में 'झलांजशोऽन्ते' सूत्र से अ षकार को जश्त्व आदेश होने से 'षड्नाम्'—इस स्थिति में षड् की स्था

सर्वनाम-स्थान से पद संज्ञा, अब 'न पदान्ताट्टोरनाम्' से 'ष्टुना ष्टुः' से प्राप्त ष्टुत्व का निषेध, 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' वार्तिक से ष्टुत्व-निषेध का निषेध (पर्युदास) होने से 'ष्टुना ष्टुः' ष्टुत्व होकर 'षड् णाम्' रूप बना, और 'प्रत्यये भाषयां नित्यम्' वार्तिक से 'नाम्' प्रत्यय बाद में होने से उकार को नित्य अनुनासिक होने पर 'षण्णाम्' प्रयोग बनेगा।

(ii) षण्णवतिः (षड्णवतिः)—'षड्+नवतिः'—इस स्थिति में 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व (णकार) की प्राप्ति, किन्तु 'स्वादिष्व—सर्वनामस्थाने' सूत्र से 'षड्' की पद संज्ञा और 'न पदान्ताट्टोरनाम्' से निषेध, किन्तु 'अनाम्नवतिन-गरीणामित वाच्यम्' वार्तिक से पर्युदास करने पर पुनः 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व करने पर—

'षड् णवतिः'—इस स्थिति में 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिकोवा' सूत्र से उकार को विकल्प से अनुनासिकत्व करने पर 'षण्णवतिः' रूप बनेगा। जहाँ अनुना-सिकत्व नहीं होगा वहाँ 'षड्णवतिः' रूप बनेगा।

(iii) षण्णगर्यः—षड्णगर्यः—'षड्+नगर्यः'—इस स्थिति में 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व प्राप्त होता है, किन्तु 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र से 'षड्' की पद संज्ञा और 'न पदान्ताट्टोरनाम्' से उसका निषेध और पुनः अनाम्नवतिनगरी-णामिति वाच्यम्' से पर्युदास करने पर 'ष्टुना ष्टुः' से पुनः ष्टुत्व करने पर षड्णगर्यः'—इस स्थिति में 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिकोवा' से उकार को वैकल्पिक अनुनासिक करने पर 'षण्णगर्यः' रूप व्युत्पन्न होता है।

जहाँ पर विकल्प से अनुनासिकत्व नहीं होगा, वहाँ 'षड्णगर्यः' रूप बनेगा।

६६. तोः षि ८।४।४३

तोः (ष० ए०) षि (स० ए०)

[तवर्ग को (के स्थान पर) षकार परे रहने पर भी (ष्टुत्व नहीं होता।)]

न ष्टुत्वम्। सन् षष्ठः

हिन्दी अनुवाद—(तवर्ग के पश्चात् षकार होने पर भी) ष्टुत्व नहीं होता। (यथा—) सन् षष्ठः।

व्याख्या—यह ष्टुत्वनिषेध सूत्र है। इसके अनुसार षकार परे रहने पर भी तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान पर ष्टुत्व (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) नहीं होगा। यथा—

साधुत्व प्रक्रिया

'सन् षष्ठः'—'सन् पष्ठः'—इस स्थिति में नकार (तव
पश्चात् यद्यपि 'षष्ठः' का णकार प्राप्त है, तथापि यहाँ 'ष्टुनाष्टुः' से
ष्टुत्व 'तोः षि' से वारित हो जायगा और ष्टुत्वाभाव में यथावत् 'सन्
रूप ही रह जायगा।

६७. झलां जशोऽन्ते ८।२।३९

झलाम् (ष० ब०) जशः (प्र० ब०) अन्ते (स० ए०)

[(पद के) अन्त में झल् को (के स्थान पर) जश् (हो जाता है)।]

पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः ।

हिन्दी अनुवाद—पद के अन्त में स्थित झल् को (के स्थान पर) ज
जाता है । (यथा—) वागीशः ।

व्याख्या—यह जशत्व—विधायक सूत्र है । इसके अनुसार यदि पद
झल् 'प्रत्याहार के वर्ण हों, तो उनके स्थान पर जश-प्रत्याहार के व
जायेंगे । झल्-प्रत्याहार में 'झभञ्' के झकार से 'हल्' के लकार त
चौबीस अक्षर परिगणित हैं, इनमें स्थानी और आदेश का निर्धारण '
ऽन्तरतमः' द्वारा किया जायगा । इस प्रकार—तालुस्थानिया 'चवर्ग और
स्थान पर 'जकार' ओष्ठ स्थानीय पवर्ग के स्थान पर 'बकार', कण्ठ्य
और हकार' के स्थान पर 'गकार', मूर्धस्थानीय 'टवर्ग एवं षकार' के स्था
'डकार' तथा दन्तस्थानीय 'तवर्ग एवं सकार' के स्थान पर 'दकार' जश् ह
उदाहरणार्थ—

साधुत्व-प्रक्रिया

वागीशः—'वाक् + ईशः'—इस स्थिति में 'झलांजशोऽन्ते' सूत्र से
में स्थिति क् रूप झल् के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से
जश् आदेश करने पर—'वाग् + ईशः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्य
परेण संयोज्यम्' से वर्ण-संयोग करने पर 'वागीशः' रूप व्युत्पन्न हुआ ।

६८. यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५

यरः (ष० ए०) अनुनासिके (स० ए०) अनुनासिके (प्र० ए०) वा (अ

[(पदान्त) यर् को अनुनासिक परे रहते विकल्प से अनुनासिक हो
है ।]

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः, एद्द्-मुरारिः।

हिन्दी अनुवाद—पदान्त य र् को अनुनासिक परे रहते विकल्प से अनु-नासिक हो जाता है। (जैसे—) एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः।

व्याख्या—यह अनुनासिक विधि सूत्र है। इसके अनुसार पदान्त में स्थित यर् के पश्चात् अनुनासिक होने पर उसके स्थान पर भी विकल्प से अनुनासिक हो जाता है, यह अनुनासिकत्व 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से होता है। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः—'एतत् +मुरारिः' इस स्थिति में "यरोऽनुना-सिकेऽनुनासिको वा' सूत्र से पदान्त में स्थित तकार यर् के स्थान पर 'स्थानेऽन्त-रतमः' सूत्र के सहकार से 'नकार' अनुनासिक विकल्प से करने पर—'एतन् मुरारिः' इस स्थिति में 'अज्झीनं व्यञ्जनं परेण संयोज्यम्' से वर्ण-संयोग करने पर 'एतन्मुरारिः' रूप व्युत्पन्न हुआ। जहाँ विकल्प से अनुनासिक नहीं होगा, वहाँ 'झलां जशोन्ते' से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से तकार स्थानी के स्थान पर 'दकार' जश् करने पर—'एतद्मुरारिः' रूप निष्पन्न होगा।

(वा०) प्रत्यये भाषायां नित्यम्। तन्मात्रम्, चिन्मयम्।

प्रत्यये (स० ए०) भाषायाम् (स० ए०) नित्यम् (प्र० ए०)

हिन्दी अनुवाद—भाषा (लौकिक संस्कृत) में (अनुनासिकादि) प्रत्यय बाद में आने पर (य र् के स्थान पर) नित्य (अनुनासिकादेश होगा)।

व्याख्या—यह नित्य अनुनासिकविधि वार्तिक है। इसके अनुसार लौकिक संस्कृत में यदि यर् प्रत्याहार के वर्णों के बाद ऐसा प्रत्यय आवे, जिसका आदि वर्ण अनुनासिक (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्)हो, तो यर् के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से नित्य अनुनासिकत्व होगा, वैकल्पिक नहीं। अर्थात् कवर्ग के स्थान पर ङकार, चवर्ग के स्थान पर ञकार, टवर्ग के स्थान पर णकार, तवर्ग के स्थान पर नकार और पवर्ग के स्थान पर नित्य मकार अनुनासिक आदेश होगा यथा—

साधुत्व-प्रक्रिया

(i) तन्मात्रम्—'तत् + मात्रम्' इस स्थिति में 'झलां जशोऽन्ते' से 'स्थाने-ऽन्तरतमः' के सहकार से तकार के स्थान पर दकार करने पर—'तद्-मात्रम्' इस स्थिति में यतः तद् का दकार 'यर्' है, और उसके बाद मात्र का मकार अनुनासिक प्राप्त हो रहा है, अतः 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से वैकल्पिक अनुनासिकत्व प्राप्त होता है, किन्तु यतः यह लौकिक संस्कृत का रूप है, और 'मात्रम्' का मकार 'मात्रच्'—प्रत्यय का आदि वर्ण है, अतः 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्'—प्रकृत वार्तिक से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से नित्य 'नकार' अनुनासिक करने पर—'तन् + मात्रम्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण-संयोग करने पर 'तन्मात्रम्' रूप व्युत्पन्न हुआ।

(ii) चिन्मयम्—'चित् मयम्'—इस स्थिति में 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'त्' के स्थान पर 'द' करने पर—'चिद्-मयम्'—इस स्थिति म पदान्त दकार—यर् के पश्चात् मकार अनुनासिक आने पर 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से दकार स्थान पर वैकल्पिक अनुना-सिकत्व की प्राप्ति, किन्तु यतः दकार यर् के पश्चात् प्राप्त मकार 'मयट्'-प्रत्यय का आदि वर्ण है, और यह लौकिक संस्कृत का प्रकरण है, अतः 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' प्रकृत वार्तिक से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से दकार के स्थान पर नित्य अनुनासिक नकार करने पर—'चिन् + मयम्'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेणसंयोज्यम्' से वर्ण-संयोग करने पर 'चिन्मयम्' रूप व्युत्पन्न होता है।

६९. तोर्लि ८।४।६०

तोः (ष० ए०) लि (स० ए०)

[तकार को (के स्थान पर) लकार परे रहते (परसवर्ण हो जाता है)]

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति। नस्यानुनासिको लः।

हिन्दी-अनुवाद—तवर्ग को (के स्थान पर) बाद में लकार आने पर परसवर्ण आदेश हो जाता है। (जैसे—) तल्लयः, विद्वाँल्लिखित। नकार के स्थान पर अनुनासिक लँकार होता है।

व्याख्या—यह लकार परे तवर्ग के स्थान पर परसवर्णविधायक सूत्र है। इसके अनुसार यदि तवर्ग के पश्चात् लकार की प्राप्ति हो, तो तवर्ग के स्थान पर परसवर्ण अर्थात् लकार आदेश होगा, ध्यातव्य है, कि नकार के स्थान पर अनुनासिक लँकार होगा। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

(i) तल्लयः— तत् + लयः'—इस स्थिति में 'झलांजशोऽन्ते' से 'स्थाने-ऽन्तरतमः' के सहकार 'त्' के स्थान 'द्' करने पर—'तद् + लयः' इस स्थिति में द् (तवर्ग) के पश्चात् लकार आने पर 'तोर्लि' से परसवर्ण लकार करने पर—'तल् लयः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण-संयोग करने पर 'तल्लयः' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

(ii) विद्वाँल्लिखित—'विद्वान् + लिखित'—इस स्थिति में नकार-तवर्ग के पश्चात् लिखति के लकार के आने से 'तोर्लि' से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'नस्यानुनासिकोलः' वचनानुसार अनुनासिक लँकार आदेश करने पर—'विद्वाँल्लिखति'—प्रयोग व्युत्पन्न होता है।

७०. उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६१

उदः (पं० ए०) स्थास्तम्भोः (ष० द्वि०) पूर्वस्य (ष० ए०)

[उद् से परे स्था (और) स्तम्भ् (धातुओं) के (स्थान पर) पूर्व का (सवर्ण आदेश होगा)।]

उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः।

हिन्दी अनुवाद—उद् (उपसर्ग) से परे स्था (तथा) स्तम्भ् (धातुओं) को पूर्व सवर्ण (आदेश) (होता है)।

व्याख्या—यह उद् से परवर्ती स्था और स्तम्भ् के पूर्वसवर्ण का विधायक सूत्र है। यह उद् पूर्वक स्था और स्तम्भ् के स्थान पर पूर्व सवर्ण आदेश करता है। 'उदः' पद 'उद्' के पञ्चमी एकवचन का रूप है, जिसका अर्थ है, 'उद् से'। इस 'से' का अर्थ पूर्व या पर में से क्या किया जाय? यह स्पष्ट तथा निर्धारित नहीं है, अतः इसका निर्धारण आगामी सूत्र में इस प्रकार किया जाता है—

७१. तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७

तस्मात् (पं० ए०) इति (अव्यय) उत्तरस्य (ष० ए०)

[तस्मात् इस (पञ्चमी के निर्देशपूर्वक विधान) उत्तर (पर) के (स्थान पर समझें)]

पञ्चमीनिर्देशन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

हिन्दी अनुवाद—पञ्चमी के निर्देशपूर्वक किया जाने वाला कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित (अन्यवर्ण से अव्यवहित) पर (परवर्ती वर्ण) के स्थान पर समझें।

व्याख्या—यह स्थानी और आदेश के व्यवधान का नियामक परिभाषा सूत्र है। इसके अनुसार पञ्चमी निर्देशपूर्वक क्रियमाण कार्य अन्य वर्ण से अव्यवहित परवर्ती वर्ण के स्थान पर समझना चाहिये। उदाहरणार्थ पूर्ववर्ती सूत्र 'उद: स्थास्तम्भो: पूर्वस्य' में प्रयुक्त 'उद:' पद यत: पञ्चम्यन्त है, अत: इसके द्वारा क्रियमाण कार्य 'पूर्व सवर्णत्वं' परवर्ती 'स्था और स्तम्भ्' के स्थान पर होगा, क्योंकि दोनों 'उद् और स्था—स्तम्भ्' के मध्य किसी अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं है।

तात्पर्य यह है, कि 'उद:' में प्रयुक्त पञ्चमी परत्व की बोधिका है। इस प्रकार यह पूर्वसवर्णत्व रूप आदेश सम्पूर्ण स्थानी (स्था—स्तम्भ) के स्थान पर होता है. अत: 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र इसका निषेध करके अन्तिम अल् ('उद्+स्थानम्'—के मकार) के स्थान पर पूर्व-सवर्णत्व करने लगता है, अत: उसके निषेधार्थ अग्रिम सूत्र का विधान करना पड़ा—

७२. आदे: परस्य १।१।५४

आदे: (ष० ए०) परस्य (ष० ए०) "परस्य आदे:"

[परवर्ती (पर) का (के स्थान पर होने वाला) (आदेश) (उसके) आदि के (स्थान पर) (होगा)।]

परस्य यद् विहितं तत् तस्यादेर्बोध्यम्। इति सस्य थ:।

हिन्दी अनुवाद—पर के (स्थान पर) विहितव्य कार्य उसके आदि के (स्थान पर) समझना चाहिये। इस प्रकार 'स्' के स्थान पर 'थ्' करने पर—

व्याख्या—यह पूर्व सवर्णत्व रूप आदेश का नियामक और अन्त्यविधि का सूत्र है। जब 'उत्थानम् और उत्तम्भनम्' प्रयोगों में 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र से पूर्व सवर्णत्व अन्तिम अल् 'मकार' के स्थान पर होने लगा, और उसके द्वारा उक्त अभीष्ट प्रयोगों की सिद्धि में बाधा उत्पन्न हुई, तब इस सूत्र की व्यवस्था करनी पड़ी। इस प्रकार इस सूत्र के अनुसार परवर्ती (पर) के स्थान पर विहितव्य (पूर्वसवर्णत्व रूप) कार्य उसके (पर के) आदिम (प्रथम) वर्ण के स्थान पर होगा। उदाहरणार्थ—उद्+स्थानम् (स्तम्भनम्) प्रयोगों में पर (स्थानम् और स्तम्भनम्) के स्थान में विहितव्य पूर्वसवर्णत्व उनके आदि वर्ण अर्थात् 'स्' के स्थान पर होगा।

'स्' के स्थान पर पूर्वसवर्ण आदेश होगा। 'स्' से पूर्व 'द्' है, और 'द्' के सवर्ण हैं—त्, थ्, द्, ध्, न् क्योंकि इनके उच्चारण स्थान 'दन्त' और आभ्यन्तर प्रयत्न हैं 'स्पृष्ट'। यद्यपि 'लृ, ल् और स्' स्थान की दृष्टि से सवर्ण है, किन्तु उनका आभ्यन्तर प्रयत्न 'विवृत' है। अब 'द्' के सवर्णों त्, थ्, द्, ध्, न् 'स' का सदृशतम सवर्ण 'थ्' है, क्योंकि दोनों के बाह्य प्रयत्न—विवार, श्वास, अघोष और महाप्राण हैं। इस प्रकार 'स्' के स्थान पर 'थ्' पूर्व सवर्ण करने पर—उद्+थ्+थानम् (उद्+थ्+तम्भनम्) इस स्थिति में आगामी सूत्र प्रवृत्त होता है—

७३. झरो झरि सवर्णे ८।४।६५

झरः (ष० ए०) झरि (स० ए०) सवर्णे (स० ए०)

[सवर्ण झर् आने पर झर् का (वैकल्पिक लोप हो जाता है।)]

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि।

हिन्दी अनुवाद—हल् (व्यञ्जन) से झर् का बाद में सवर्ण झर् आने पर विकल्प से लोप हो जाता है।

व्याख्या—यह झर्लोपविधि सूत्र है। इसमें 'हलो यमां यमि लोपः' से 'हलः और लोपः की तथा: 'झयो होऽन्यतरस्याम्' से 'अन्यतरस्याम् के पर्याय 'वा' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इस प्रकार इसका भावार्थ हुआ—यदि हल् से परवर्ती (बाद में स्थित) 'झर्' के पश्चात् सवर्ण 'झर्' की प्राप्ति हो, तो उस का विकल्प से लोप हो जायेगा।

इस प्रकार 'ङ्, म्, ण्, न्, म्' को छोड़कर कवर्ग का कवर्ग परे रहने पर, चवर्ग का चवर्ग परे रहने पर, टवर्ग का टवर्ग पर रहने पर, तवर्ग का तवर्ग और

पवर्ग, का पवर्ग परे रहने पर और श्, ष्, स्, का क्रमशः श्, ष्, स् परे रहने पर इसी सूत्र से वैकल्पिक लोप प्राप्त होगा। उदाहरणार्थः—'उद्+थ्+थानम्'—इस स्थिति में, हल् दकार से परे 'थकार'—झर् का बाद में सवर्ण झर् 'थकार' आने पर विकल्प से लोप होने पर 'उद्+थानम्'— स्थिति प्राप्त हुई और वैकल्पिक लोपाभाव पक्ष में पूर्वस्थिति 'उद्+थ्+थानम्' बनी रहेगी। इसी प्रकार 'उद्+तम्भनम्' और 'उद्थ्तम्भनम्' दो स्थितियाँ प्राप्त होंगी।

७४. खरि च ८।४।५५

खरि (स० ए०) च (अव्यय)

[(झल् को) खर् परे रहते भी (चर्) होता है)।]

खरि झलां चरः स्युः। इत्युदो दस्य तः। उत्थानम् उत्तम्भनम्।

हिन्दी अनुवाद—यदि 'झल्' वर्णों के बाद खर् प्राप्त हों, तो भी उनके (झल् के) स्थान पर 'चर्' हो जाते हैं। अतः 'उद्' के दकार को 'तकार' (हुआ) (जैसे) उत्थानम्, उत्तम्भनम्।

व्याख्या—यह चर्त्वविधि सूत्र है। इसके अनुसार बाद में 'खर्' आने पर 'झल्' के स्थान पर 'चर्' हो जाता है। उदाहरणार्थ—'उद्+थानम्'—इस स्थिति में झल्—'दकार' के बाद खर्—'थकार' है, अतः प्रकृत सूत्र से 'द्' के स्थान पर 'चर्' आदेश हुआ। चर् के अन्तर्गत यतः 'च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्'—वर्ण परिगणित हैं, अतः इन में से 'स्थानेन्तरतमः' सूत्र से दन्त-स्थानीय 'द्' के स्थान पर परिशेष्यात् दन्तस्थानीय 'तकार' करने पर 'उत्थानम्' तथा 'उत्तम्भनम्' रूप बनते हैं।

साधुत्व-प्रक्रिया

(i) **उत्थानम्-उत्थ्थानम्**—'उद्+स्थानम्'—इस स्थिति में '**उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य**' सूत्र से 'उद्' के परवर्ती स्था को पूर्वसवर्ण (दकार) प्राप्त होगा, पूर्वसवर्णत्व सम्पूर्ण 'स्थानम्' के स्थान पर होगा या उसके किसी अवयव स्थान पर? इस आशंका समाधान प्रस्तुत करते हुए 'तस्यादित्युत्तरस्य' सूत्र व्यवस्था देता है, कि 'उदः'—पञ्चमी के निर्देशपूर्वक क्रियामाण कार्य पूर्व-सवर्णत्व वर्णान्तर से अव्यवहित परवर्ती सम्पूर्ण 'स्थानम्' के स्थान पर होगा, किन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' उसे बाधित कर अन्तिम अल् मकार के स्थान पर पूर्व-सवर्णत्व का विधान करने लगता है, अतः 'आदेः परस्य' सूत्र द्वारा उसे बाधित कर परवर्ती 'स्थानम् के आदिवर्ण 'सकार' के स्थान पर पूर्वसवर्णत्व का विधान

ोने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र से विवार, श्वास, अघोष एवं महाप्राण बाह्य-यत्नी 'सकार' के स्थान पर 'दकार' के सवर्णभूत विवार, श्वास, अघोष तथा हाप्राण प्रयत्नी सदृशतम 'थकार' पूर्वसवर्ण आदेश करने पर—'उद् थ् थानम' —स्थिति में 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र से पूर्व 'थकार' का वैकल्पिक लोप करने पर उद्थानम्,—स्थिति प्राप्त हुई और लोपाभावपक्ष में 'उद् थ् थ नम्' पूर्व स्थिति नी रहेगी।

अब 'खरि च' सूत्र से उद् के 'द्' (झल्) को थानम् के 'थ्' (खर्) परे हते 'तकार' करने पर —'उत् थानम्'—इस स्थिति मे 'अज्झीनं (व्यंजनं) रेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'उत्थानम्' रूप व्युत्पन्न होगा तथा पाभावपक्ष में वैकल्पिक रूप 'उत्थ्थानम्' बनेगा।

'उत्थ्थानम्'—इस स्थिति में सकार के स्थान में हुए 'थकार' को 'खरि च थानम् के 'थकार' रूप खर् बाद में होने पर तकार (चर्) प्राप्त होगा, किन्तु रि च (८।४।५५)' इस पूर्वशास्त्र भूत त्रिपादी की दृष्टि में 'उदःस्थास्तम्भोः स्य (८।४।६१ परशास्त्र त्रिपादी के असिद्ध होने पर 'चर्-तकार' नहीं होगा। प्रकार 'उत्थानम् और 'उत्थ्थानम् दो रूप व्युत्पन्न होगे। ठीक इसी ार—

(ii) 'उत्तम्भनम्—उत्थ्स्भनम्' की भी साधुत्व-प्रक्रिया समझनी चाहिए।

झयो होऽन्यतरस्याम ८।४।६२

झयः (पं० ए०) हः (ष० ए०) अन्यतरस्याम् (स० ए०)

[झय् से (परे) हकार को (के स्थान पर) विकल्प से (पूर्वसवर्ण होगा)।]

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः। नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य तादृशो वर्गचतुर्थः।

हिन्दी अनुवाद—'झय्' के बाद यदि 'ह' आवे, तो उसके स्थान पर विकल्प र्व सवर्ण होता है। इस प्रकार नाद घोष, संवार और महाप्राण हकार के पर वैसा ही नाद, घोष, संवार और महाप्राण वर्गों का चतुर्थ वर्ण होगा। —) वाग्घरि :, वाग्हरिः।

व्याख्या—झय् पर हकार के वैकल्पिक पूर्वसवर्णत्व का विधायक सूत्र है। अनुसार झय् के परवर्ती हकार के स्थान पर विकल्प से वर्गों का चतुर्थ रूप पूर्वसवर्ण होता है। अर्थात् यदि झय् 'कवर्ग' है तो 'घकार' 'चवर्ग'

है, तो 'झकार', टवर्ग है, तो 'ढकार' 'तवर्ग' है, तो 'धकार', 'पवर्ग' है,
'भकार' हो जायेगा। उदाहरणार्थ–

साधुत्व-प्रक्रिया—

वाग्घरिः-वाग्हरिः—'वाक्+हरिः'—इस स्थिति में 'झलां जशोऽन्ते'
से वाक् के 'ककार' के स्थान पर 'गकार-जश् करने पर 'वाग+हरिः'-
दशा में प्रकृतसूत्र 'झयो होऽन्यतरस्याम्'–से 'गकार-झय् से परवर्ती हं
'हकार' के स्थान पर विकल्प से पूर्वसवर्ण (गकार का सवर्ण) ,प्राप्त हो
अब 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से नाद, घोष संवार और महाप्राण
के स्थान पर गकार का सवर्ण सदृशतम आदेश नाद, घोष, संवार और मह
'घकार' करने पर 'वाग्+घरिः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्य
संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'वाग्घरिः' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

जहाँ विकल्प से हकार के स्थान पर पूर्वसवर्ण 'घकार' नहीं होगा,
"वाग्हरिः' प्रयोग बनेगा।

७६. शश्छोऽटि ८।४।६३

शः (ष० ए०) छः (प्र० ए०) अटि (स० ए०)

[अटि शः छः—अर्थात् 'अट्' बाद में आने पर शकार का वि
छकार (हो जाता है)।]

झयः परस्य शस्य छो वाऽटि। 'तद्+शिवः' इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन
कृते 'खरि च' इति जकारस्य चकारः—तच्छिवः' तच्शिवः।

हिन्दी-अनुवाद—यदि बाद में अट् (वर्ण) हो, तो झय् के परवर्ती
को विकल्प से छकार हो जाता है। इस प्रकार 'तद्+शिवः'—इस
में दकार का श्चुत्व करके जकार करने पर 'खरि च' सूत्र से जकार को
(हो जाता है)। (जैसे—) तच्छिवः, तच्शिवः।

व्याख्या—यह शकार के वैकल्पिक छत्व का विधायक सूत्र है
अनुसार बाद में अट् वर्ण आने पर झय् से परवर्ती शकार के स्थान पर
से छकार हो जाता है। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

तच्छिवः-तच्शिवः—'तत्+शिवः'–इस स्थिति में 'झलां जशोऽन्ते

के अकारोत्तरवर्ती पदान्त तकार को 'दकार' जश् करने पर 'तद्+शिवः' स्थिति में 'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र से 'दकार'-तवर्ग के स्थान पर जकार' करने पर—'तज्+शिवः' इस दशा में 'खरिच' से 'जकार' के स्थान पर र'—चर् करने पर 'तच्+शिवः'—इस स्थिति में यतः 'चकार'-झय् से र्ती शकार के पश्चात् शकारोत्तरवर्ती इकार रूप 'अट्' प्राप्त हो रहा है, प्रकृत सूत्र 'शश्छोऽटि' से शकार को विकल्प से 'छकार' करने पर—+छिवः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण करने पर 'तच्छिवः' रूप व्युत्पन्न होगा। इसके साथ ही वैकल्पिक भाव में 'तच्शिवः' रूप निष्पन्न हुआ।

(वा०) छत्वममीति वाच्यम्, तच्छ्लोकेन—तच्श्लोकेन।

छत्वम् (प्र० ए०) अमि (स० ए०) इति (अव्यय) वाच्यम् (प्र० ए०)

[अमि इति छत्वं वाच्यम्—छत्व को 'अम् आने पर' ऐसा कहना चाहिए र्थात् बाद में अम् आने पर भी छत्व कहें (समझें)।]

हिन्दी-अनुवादः—(पदान्त 'झय्' से परे 'शकार' को बाद में 'अम्' (वर्ण) र विकल्प से 'छकार' होता है। (जैसे-) तच्छ्लोकेन—तच्श्लोकेन।

याख्याः—महर्षि पाणिनि ने 'शश्छोऽटि' सूत्र में 'अटि' पढ़कर 'तच्छिवः' द्धि तो कर ली, किन्तु इस सूत्र में 'तच्छ्लोकेन' की व्युत्पत्ति की कोई ा नहीं थी, अतः 'तच्छ्लोकेन तथा तच्छ्मश्रुणा, आदि प्रयोगों की र्थं पृथग्व्यवस्था आवश्यक थी, अतः वार्तिककार महर्षि कात्यायन ने वार्तिक की रचना की, जिससे तच्छ्लोकेन आदि प्रयोग निर्वाधरूप से होने लगे, स्वयं महर्षि कात्यायन और तत्त्वबोधिनीकार आ० ज्ञानेन्द्र-ी तो उक्त सूत्र को 'शश्छोऽमि' रूप में पढ़ने के पक्षधर हैं।

-प्रक्रिया

च्छ्लोकेन-तच्श्लोकेनः—'तत्+श्लोकेन'—इस स्थिति में 'झलां जशोऽन्ते पदान्त तकार को 'दकारः'—जस् करने पर 'तद्+श्लोकेन'—इस में 'स्तोः श्चुना श्चु' से श्चुत्व—'तज्+श्लोकेन'—इस दशा में 'खरिच करने पर 'तच्+श्लोकेन—इस दशा में प्रकृत वार्तिक 'छत्वममीति से 'झय्'—चकार से परवती 'शकार' के बाद 'लकार'—अम् आने ल्पिक छत्व करने पर—'तच् छ् लोकेन'—इस दशा में 'अज्झीनं

(व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' में वर्णसयोग करने पर 'तच्छ्लोकेन' व्युत्पन्न हुआ और छत्वाभाव में 'तच्श्लोकेन रूप निष्पन्न होगा।

७७. मोऽनुस्वारः ८।३।२३

म: (ष० ए०) अनुस्वारः (प्र० ए०)

['म्' के स्थान पर अनुस्वार (ं) (होता है।)]

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि। हरिं वन्दे।

हिन्दी अनुवाद—मान्त पद को (के स्थान पर) बाद में हल् (व्यञ्जन) होने पर अनुस्वार (ं) हो जाता है। (जैसे—) हरिं वन्दे।

व्याख्या:-यह अनुस्वार-विधायक सूत्र है, इसमें 'पदस्य' सूत्र से 'पदस्य' और 'हलि सर्वेषाम्' से 'हलि' की अनुवृत्ति की जाती है। इसके अनुसार मान्त पद के स्थान पर बाद में व्यञ्जनं (हल्) आने पर अनुस्वार हो जाता है।

साधुत्व-प्रक्रिया

हरिं वन्दे:—'हरिम्+वन्दे'—इस स्थिति में 'हरिम्' की 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पदसंज्ञा और उसके अन्त में मकार होने से सम्प्रति प्रकृत सूत्र 'मोऽनुस्वारः' से सम्पूर्ण मान्त पद के स्थान में बाद में 'वकार'-हल् होने पर अनुस्वार आदेश; किन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' से केवल अन्त्यवर्ण 'मकार' के स्थान पर अनुस्वार करने पर 'हरिं वन्दे' प्रयोग व्युत्पन्न होता है।

७८. नश्चाऽपदान्तस्य झलि ८।३।२४

न: (ष० ए० (अव्यय) अपदान्तस्य (ष० ए०) झलि (स० ए०)

[झलि अपदान्तस्य न: च—बाद में झल् आने पर अपदान्त न् और म् भी (अनुस्वार हो जायगा)]

नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झल्यनुस्वारः। यशांसि, आक्रंस्यते।

हिन्दी अनुवाद—अपदान्त नकार और मकार को भी बाद में झल् होने पर अनुस्वार होता है। (जैसे-) यशांसि (तथा) आक्रंस्यते।

व्याख्या—यह अपदान्त नकार और मकार के अनुस्वारत्व का विधायक सूत्र है। इसके अनुसार यदि बाद में झल् हो, तो अपदान्त नकार और

भी अनुस्वार होगा। यह 'समोऽनुस्वारः' का पूरक सूत्र है, और इसमें उसी 'मः' की अनुवृत्ति की गयी है। उदाहरणार्थ—

ुत्व-प्रक्रिया

(१) यशांसि—'यशान्+शि'—इस स्थिति में 'यशान्' याः सुबन्त नहीं अतः यह अपद है और नकार अपदान्त है, अतः प्रकृत सूत्र 'नश्चाऽपदान्तस्य ल' से बाद में 'सकार'—झल् होने पर 'नकार' के स्थान पर 'अनुस्वार-देश करने पर 'यशांसि' रूप व्युत्पन्न होगा। इसी प्रकार—

(२) आक्रंस्यते—'आक्रम्+स्यते'—इस स्थिति में अतिङन्त 'आक्रम्' द के अन्त में स्थित 'मकार' के स्थान पर प्रकृत सूत्र 'नश्चाऽपदान्तस्य ल' से बाद में 'सकार'-झल् होने से 'अनुस्वार' करने पर 'आक्रंस्यते' पद पन्न होता है।

झलि किम्? मन्यते।

हिन्दी अनुवाद—(सूत्र में) 'झलि' (झल् होने पर) (अनुबन्ध) क्यों रखा? यंते' की सिद्धि के लिए)।

व्याख्या—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' सूत्र में 'झलि'- अनुबन्ध की क्या आवश्य-ा थी? इसके बिना भी तो यशांसि आदि प्रयोगों की सिद्धि सम्भव थी। अतः व्यर्थ है। —ऐसी आशङ्का होने पर उत्तर स्वरूप तर्क दिया जा सकता है, यदि सूत्र में 'झलि' अनुबन्ध न होता तो 'मोऽनुस्वारः' की भाँति यहाँ भी ल सर्वेषाम्' से 'हलि' की अनुवृत्ति हो जायगी, फलतः सभी हल् वर्णों के रहते अपदान्त नकार और मकार को अनुस्वार होने लगेगा। इस प्रकार ते प्रयोग भी नकार को यकार (हल्-अझल्) परे रहते अनभीष्ट अनुस्वार लगता और 'मंयते' रूप अशुद्ध प्रयोग निष्पन्न होने लगता। अतः 'मन्यते' दि प्रयोगों में अनभीष्ट अनुस्वारत्व के निषेधार्थ सूत्र में 'झलि'-अनुबन्ध श्यक था।

. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८

अनुस्वारस्य (ष० ए०) ययि (स० ए०) परसवर्णः (प्र० ए०)

[यय् होने पर अनुस्वार के (स्थान पर) परसवर्ण (यय् का सवर्ण) ा)।]

स्पष्टम् । शान्तः ।

हिन्दी अनुवाद—स्पष्ट है (इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है स्वयं में पूर्ण है, कहीं से कोई अनुवृत्ति नहीं की गयी है ।) (यथा-) शान्त

व्याख्या—यह परसवर्णविधि सूत्र है । इसके अनुसार यदि अनुस्वार पश्चात् 'यय्' (प्रत्याहार के वर्ण हों, तो अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण 'यय्-सवर्ण आदेश हो जायगा । अनुस्वार के स्थान पर 'नासिका' स्थान 'स्थानेऽन्तरतमः' से वर्गों के पञ्चम वर्ण क्रमशः कवर्ग के स्थान पर 'ङकार', के स्थान पर 'ञकार', टवर्ग के स्थान पर 'णकार' तवर्ग के स्थान पर पवर्ग के स्थान पर 'मकार' होगा । यकार वकार और लकार हों अनुनासिक यकार (यँ) नकार (वँ) और लकार (लँ) होंगे । यथा—

साधुत्व-प्रक्रिया

शान्तः—'शाम् + तः'—इस स्थिति में 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' अपदान्त 'मकार' के स्थान पर 'तकार'-झल् परे रहते अनुस्वार करके 'शां + तः'—इस स्थिति में प्रकृत सूत्र 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनु पश्चात् 'तकार'-यय् बाद में होने पर परसवर्ण अर्थात् यय्–सवर्ण 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'तकार' का सदृशतम आदेश 'नकार' 'शा न् + तः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' संयोग करने पर 'शान्तः' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ ।

इसी प्रकार अङ्कित, अञ्चितः, कुण्ठितः, और गुम्फितः' को भी चाहिए ।

८०. वा पदान्तस्य ८।४।५९

वा (अव्यय) पदान्तस्य (ष० ए०)

[पदान्तस्य वा—पदान्त के (स्थान पर) विकल्प से······ ।]

(पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात् ।)

त्वङ्करोषि—त्वं करोषि ।

हिन्दी अनुवाद—पदान्त अनुस्वार के स्थान पर यय् परे रहते विकल्प परसवर्ण आदेश होगा । (यथा-) त्वङ्करोषि—त्वं करोषि ।

व्याख्या—यह 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' सूत्र का पूरक परसवर्ण विधि सूत्र है। पूर्ववर्ती सूत्र अपदान्त में नित्य परसवर्णत्व करता है, जबकि प्रकृत सूत्र पदान्त में वैकल्पिक परसवर्णत्व।

इसमें पूर्ववर्ती सम्पूर्ण सूत्र 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' की अनुवृत्ति की जाती है। इस प्रकार अनुवृत्ति करने पर सूत्र इस रूप में प्रवृत्त होता है—पदान्तस्य अनुस्वारस्य परसवर्णः वा ययि' अर्थात् यदि पदान्त अनुस्वार के पश्चात् 'यय्' की प्राप्ति हो, तो अनुस्वार के स्थान पर विकल्प से परसवर्ण (यय्-सवर्ण) आदेश हो जायगा। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

त्वङ्करोषि-त्वं करोषि—'त्वम्+करोषि'—इस स्थिति में 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से पदान्त 'मकार' के पश्चात् 'ककार' हल् आने पर अनुस्वार करने पर 'त्वं+करोषि'—इस स्थिति में प्रकृत सूत्र 'वा पदान्तस्य' से 'ककार'—यय् परे रहते पदान्त अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण और 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र से सम्पूर्ण कवर्ग में से नासिकीय 'ङकार' रूप यय्-परसवर्ण करने पर—'त्वङ्+करोषि'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'त्वङ्करोषि' रूप व्युत्पन्न हुआ। परसवर्णाभावपक्ष में 'मोऽनुस्वारः' से प्राप्त अनुस्वार रूप 'त्वं करोषि' मात्र रह जायगा।

८१. मो राजि समः क्वौ ८।३।२५

मः (प्र० ए०) राजि (स० ए०) समः (ष० ए०) क्वौ (स० ए०)

[क्वौ राजि समः मः—क्विबन्त 'राज्'-धातु बाद में आने पर सम् के स्थान पर (मकार को) मकार ही रहता है)।]

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

हिन्दी अनुवाद—क्विप्-प्रत्ययान्त 'राज्'-धातु यदि बाद में हो, तो सम् के मकार' को 'मकार' ही होगा (अनुस्वार नहीं)। (यथा-) सम्राट्।

व्याख्या—यह अनुस्वार का अपवाद सूत्र है। इसके अनुसार क्विबन्त राज्'-धातु बाद में होने पर सम् के अवयवभूत 'मकार' के स्थान पर 'मकार' ही रहता है, अनुस्वार नहीं होता है। जैसे—सम्+√राज्+क्विप्=सम्राट्।

साधुत्व-प्रक्रिया

सम्राट्—'राजृदीप्तौ' धातु से 'क्विप्'—प्रत्यय करने पर 'राट्' पद व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार 'सम्+राट्' इस दशा में 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से

मकार के स्थान पर अनुस्वार प्राप्त होता है, किन्तु यतः सम् के पर
क्विबन्त 'राज्'-धातु का राट् रूप प्राप्त हो रहा है, अतः प्रकृत सूत्र 'मो र
समः क्वौ' से उसे वारित कर सम् के अवयव 'मकार' के स्थान पर 'म
करने पर 'सम्+राट्'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयो
से वर्णसंयोग करने पर 'सम्राट' रूप व्युत्पन्न हुआ।

८२. हे मपरे वा ८।३।२६

हे (स० ए०) मपरे (स० ए०) वा (अव्यय)

[मपरे हे वा—'मपर ह' होने पर विकल्प से (मकार होगा)।]

मपरे हकारे परे मस्य मो वा। किम् ह्मलयति—किं ह्मलयति।

हिन्दी-अनुवाद—मपर हकार परे रहने पर मकार के स्थान पर वि
से मकार ही रहता है (अनुस्वार नहीं होता)। (यथा—) किम् ह्मलयति
किं ह्मलयति।

व्याख्या—यह भी अनुस्वार का अपवाद सूत्र है। इसके अनुसार
मकार के पश्चात् ऐसा हकार प्राप्त हो, जिसके पश्चात् भी मकार हो
पूर्ववर्ती मकार के स्थान पर विकल्प से मकार ही रह जायगा, अनुस्वार
होगा। 'मपरे' शब्द की व्युत्पत्ति होगी— 'मः हरो यस्मात् सः म
तस्मिन् मपरे।' अर्थात् 'म हो बाद में जिसके वह 'मपर' कहा जाय
उदाहरणार्थः—

साधुत्व-प्रक्रिया

किम् ह्मलयति-किम ह्मलयतिः— 'किम्+ह्मलयति'—इस स्थिति
'मोऽनुस्वार' से 'मकार' को पश्चात् 'हकार'—हल् आने पर अनुस्वार
होता है, किन्तु यतः 'मकार' के पश्चात् मपर 'हकार' प्राप्त हो रहा है,
पूर्ववर्ती किम् के 'मकार' को विकल्प से 'मकार' ही होने पर किम्+ह्मल
—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' वर्ण-संयोग करने
'किम्ह्मलयति' रूप व्युत्पन्न होगा और विकल्प से मत्वाभावपक्ष में 'मोऽनु
से अनुस्वार होकर 'किं ह्मलयति' रूप बनेगा। (वा०) यवलपरे यवला
कियँ ह्यः—किं ह्यः, किवँ ह्वलयति—किं ह्वलयति। किलँ ह्लादयति
ह्लादयति।

यवलपरे (स० ए०) यवलाः (प्र० ब०) वा (अव्यय)

हिन्दी-अनुवाद—य् व् ल्-परक (हकार) बाद में होने पर (मकार के स्थान पर) विकल्प से य्, व्, ल् होते हैं। (जैसे—) कियँ ह्यः—किं ह्यः, किवँ ह्वलयति—किं ह्वलयति, किलँ ह्लादयति—किं ह्लादयति।

व्याख्या—महर्षि पाणिनि ने 'हे मपरे वा' तथा 'नपरे नः' द्वारा 'किम्ह्मलयति' तथा 'किन् ह्नुते' सिद्ध कर दिया, किन्तु यवलपरक हकार के आने पर क्रमशः य्, व्, ल् के विधान के प्रति वे मूक रहे। सम्भव है, उनके समय में 'कियँ ह्यः' आदि प्रयोग भाषा में व्यवहृत न होते रहे हों, अथवा इधर महर्षि का ध्यान ही न गया हो, किन्तु प्रथम सम्भावना ही अधिक बलवती है, पाणिनि की सूक्ष्म दृष्टि से कोई भी भाषा में व्यवहृत या प्रचलित पद कथमपि ओझल नहीं था। अतः उनके अनुगामी आचार्य कात्यायन ने प्रकृत वार्तिक की रचना करके पाणिनि की न्यूनता की पूर्ति की।

यह अनुस्वार के स्थान पर यवलविधायक वार्तिक है। इसके अनुसार यदि मकारोत्तरवर्ती हकार के पश्चात् 'य्' हो, तो 'मकार' को 'य्', वकार हो, तो 'व्' और लकार हो, तो 'ल्' हो जायगा। ये आदेश 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के अनुसार यथासङ्ख्यविधि से क्रमशः होगा। यतः 'मकार' अनुनासिक है, अतः 'स्थानेऽन्तरतमः' के अनुसार अनुनासिक यँकार, वँकार और लँकार होंगे, अननुनासिक नहीं। उदाहरणार्थ—

(१) कियं ह्यः—किं ह्यः—'किम्+ह्यः'—इस स्थिति में 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से 'हकार'—हल् बाद में होने पर किम् के 'मकार' को अनुस्वार प्राप्त होता है, किन्तु यतः हकार 'यपर' है, अतः प्रकृत वार्तिक से विकल्प से अनुस्वार का निषेध कर 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से 'यकार' आदेश करने पर यतः 'मकार' अनुनासिक है, अतः 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से अनुनासिक 'यँकार' करने पर 'कियँ ह्यः' रूप व्युत्पन्न होगा और यत्वाभाव पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होकर 'किं ह्यः' रूप निष्पन्न होगा।

(२) किवँ ह्वलयति—किं ह्वलयतिः—'किम्+ह्वलयति'—इस स्थिति में मकार को बाद में 'हकार'—हल् आने पर अनुस्वार प्राप्त था, किन्तु यतः मकारोत्तरवर्ती हकार 'वपर' है, अतः प्रकृतवार्तिक से उसका निषेध और 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार यथासङ्ख्यविधि से 'वकार' आदेश करने पर यतः 'मकार' अनुनासिक है, अतः 'स्थानेऽन्तरतमः' की सहायता से अनुनासिक 'वँकार' आदेश करने पर—'किवँ ह्वलयति' रूप बनेगा और

वत्वाभाव पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होकर 'किं ह्वलयति' रूप व्युत्पन्न होगा।

(३) किल्ँ ह्लादयति-किं ह्लादयति—'किम् + ह्लादयति'—इस स्थिति में 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से 'मकार' के बाद 'हकार'—हल् होने से अनुस्वार प्राप्त होता है, किन्तु यतः यह हकार 'लपर' है, अतः प्रकृत वार्तिक से उसका निषेध कर मकार के स्थान पर 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहाकर से 'ल्'-आदेश करने पर यतः 'मकार' अनुनासिक है, अतः उसके स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतम' के सहकार से अनुनासिक 'लँकार' करने पर 'किल्ँ ह्लादयति' रूप निष्पन्न होगा, और लत्वाभावपक्ष में 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होकर 'किं ह्लादयति' रूप व्युत्पन्न होगा।

८३. नपरे नः ८।३।२७

नपरे (स० ए०) नः (प्र० ए०)

[नपर होने पर नकार (होगा)।]

नपरे हकारे मस्य नो वा। किन् ह्नुते—किं ह्नुते।

हिन्दी-अनुवाद—नपरक हकार परे रहने पर मकार के स्थान पर विकल्प से नकार होता है। (जैसे—) किन् ह्नुते-किं ह्नुते।

व्याख्या—यह मकार के स्थान पर नकार-विधायक सूत्र है। इसमें 'यवलपरे यवला वा' से 'हे और वा' की और 'मोऽनुस्वार' से 'मः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ यदि मकार के पश्चात् ऐसा हकार आवे, जिसके पश्चात् नकार हो, तो पूर्ववर्ती 'मकार' के स्थान पर 'नकार' हो जायगा। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

किन् ह्नुते-किं ह्नुते—'किम् + ह्नुते'—इस स्थिति में 'मकार' के पश्चात् 'हकार'—हल् होने से 'मोऽनुस्वार' सूत्र से अनुस्वार प्राप्त है, किन्तु यतः यह 'हकार'—नपर (नः परः यस्मात्) है, अतः प्रकृत-सूत्र 'नपरे नः' से उसका निषेध और विकल्प से 'नकार' आदेश करने पर—'किन् ह्नुते' रूप व्युत्पन्न होता है और नत्वाभावपक्ष में 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार करने पर 'किं ह्नुते' रूप निष्पन्न होगा।

८४. आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६

आद्यन्तौ (प्र० द्वि०) टकितौ (प्र० द्वि०)

[टकितौ आद्यन्तौ—टकित (क्रमशः) आद्यन्त (होते हैं।)]

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः।

हिन्दी-अनुवाद—टित् और कित् (आगम) जिसके (स्थान पर) कहे गए , उसके क्रमशः आदि और अन्त अवयव होते हैं।

व्याख्या— यह आद्यन्तावयव भूत टित्कित् के विधान का नियामक परिभाषा त्र है। इसमें प्रयुक्त 'आद्यन्तौ' की व्युत्पत्ति है—'आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ आदि+अन्तौ)।' इसी प्रकार 'टकितौ की व्युत्पत्ति है—'टितश्च कितश्च टकितौ।'

'टित्' का अभिप्राय है—'टकार इत् यस्य (आगमस्य) सः टित्' और ऐसे 'कित्' का अर्थ है—'ककार इत्यस्य सः कित्। 'जैसे—यतः 'घुट्' में टकार त् है, अतः 'घुट्' टित् हुआ। इसी प्रकार यतः 'कुक्' और टुक्' में ककार त् है, अतः ये 'कित् हुए।

स्थानी के स्थान पर दो स्थितियाँ होती हैं, आदेश और आगम। 'आदेश' है, जो स्थानी का विकल्प होता है, उसे शत्रुवत् हटाकर उसके स्थान पर ता है और आगम वह है, जो मित्रवत् स्थानी के स्थान पर होता है, उसके थ रहता है। आदेश की स्थिति में केवल आदेश ही रहता है, स्थानी नहीं ता, जबकि आगम की स्थिति में स्थानी और आदेश दोनों एक साथ राजमान रहते हैं :—"शत्रुवदादेशः' मित्रवदागमः।" जैसे—'इको यणचि' 'इकः'—स्थानी के स्थान पर होने वाले 'यणादेश' स्थानी इक् को हटाकर त्रुवत् होंगे, जबकि 'ङः सि घुट्' के अनुसार 'षट्सन्तः' में 'घुट्' आगम 'सकार' स्थानी के साथ आद्यवयवस्वरूप होता है। दोनों मित्रवत् एक साथ विराज-न रहते हैं।

'आगम' स्थानी के आदि में हो या अन्त में इस द्विविधा के दूरी करणार्थ र्षि पाणिनि ने 'आद्यन्तौ टकितौ' की व्यवस्था की थी, जिसके अनुसार न्होंने समस्त आगमों को 'टित्' और 'कित्' दो भागों में विभक्त कर क्रमशः द्यवयव और अन्तावयव के रूप में व्यवस्थित किया। इस प्रकार प्रकृत नुसार 'घुट्' ' आगम रूप टित् 'षट्त्सन्तः' प्रयोग में 'सकार' स्थानी के

आद्यवयवस्वरूप होता है, और 'सञ्च्छम्भुः'—प्रयोग में 'नकार'—स्थानी के स्थान में होने वाला 'तुक्'—कित् अन्तावयवस्वरूप प्रवृत्त होता है।

८५. ङ्णोः कुक् टुक् शरि ८।३।२८

ङ्णोः (ष० ए०) कुक्टुक् (प्र० ए०) शरि (स० ए०)

[शरि ङ्णोः कुक्टुक्—बाद में शर् आने पर ङकार (और) णकार को (क्रमशः) कुक् (और) टुक् (आगम) होते हैं।

वा स्तः (ङकारणकारयोः कुक्टुकावागमौ स्तः वा शरि)

हिन्दी अनुवाद—विकल्प से होते हैं (अर्थात् बाद में शर् होने पर ङकार और णकार को क्रमशः कुक् और टुक् आगम विकल्प से होते हैं।)

व्याख्या—यह कुक्टुक्विधि सूत्र है। इसके 'कुक् और टुक्' में 'हलन्त्यम्' से 'ककार' इत्संज्ञा और उच्चारणार्थ विद्यमान उकार की 'उपदेशेऽजनुनासि इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप होता है, इस प्रकार 'क् और ट् ही अवशिष्ट रह जाते हैं। इन दोनों के साथ 'ककार' अन्तावयवत्व के लि और 'उ' उच्चारणार्थ पढ़ा गया है। उकार के अभाव में 'कुक् और टुक्' 'व्यञ्जनञ्चा धर्मात्रिकम् तथा स्वरैः व्यञ्यते उच्चार्यते इति व्यञ्जनम्' अनुसार उच्चारण कठिन (असम्भव) था, अतः महर्षि पाणिनि उकारात 'कुक्टुक्' रूप में पढ़ा।

प्रकृत सूत्रानुसार यदि ङकार के बाद 'शर्'—प्रत्याहार के वर्णों की प्राप्ति हो, तो 'ङ' को विकल्प से 'कुक्' आगम होता है। उदाहरणार्थ—'प्राङ् + षष्ठः' —प्रयोग में 'ङकार' के बाद 'षकार' रूप शर् प्राप्त है, अतः 'ङ' को 'कुक्' अर्थात् 'क्' आगम होगा। कित्त्वेन 'आद्यन्तौ टकितौ' के अनुसार 'ककार' आगम स्थानी 'ङकार' के अन्तावयवस्वरूप प्रवृत्त होगा। इस प्रकार रूप बनेगा—'प्राङ्क्+षष्ठः' और इस प्रकार 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने 'प्राङ्क्षष्ठः' प्रयोग बनेगा।

इसी प्रकार 'सुगण्+षष्ठः'—प्रयोग में 'णकार' के बाद 'षकार'—शर् होने से विकल्प से प्रकृत सूत्र से 'टुक्' का आगम, कित्त्वेन 'आद्यन्तौ टकितौ' के अनुसार 'टकार' कित् 'णकार'—स्थानी के अन्तावयवस्वरूप प्रवृत्त होगा और 'सुगण् ट् षष्ठः' रूप बनेगा। ध्यातव्य है, कि 'ङकार और णकार'

स्थान पर 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के अनुसार क्रमशः यथासङ्ख्यविधि से 'क् और ट्' आगम होंगे ।

(वा०) चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्, प्राङ् ख् षष्ठः, प्राङ् क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः । सुगण्ठ्षष्ठः, सुगण्ट्षष्ठः, सुगण् षष्ठः ।

हिन्दी अनुवाद—पौष्करसादि (आचार्यों) के (मतानुसार) चय् (प्रत्याहार) के (वर्णों के) स्थान में बाद में शर् होने पर विकल्प से (उन्हीं के वर्ग का) द्वितीय वर्ण (अक्षर) हो जाता है। (जैसे—) प्राङ् ख् षष्ठः, प्राङ् क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः । सुगण्ठ् षष्ठः, सुगणट् षष्ठः, सुगण् षष्ठः ।

व्याख्या—'सुगण् षष्ठः और प्राङ्क्षष्ठः'—आदि प्रयोग तो 'अष्टाध्यायी' के अनुसार सिद्ध थे, किन्तु पौष्करसादि आचार्यों की दृष्टि में एक अन्य रूप 'सुगण्ठ् षष्ठः और प्राङ्ख् षष्ठः' भी बनता था । यद्यपि यह रूप प्रायः अत्यन्त अप्रचलित था । पाणिनि द्वितीय वर्ण (ठकारादि) के पक्ष में नहीं हैं, साथ ही, महर्षि कात्यायन भी स्वयं पाणिनि के, पक्ष घर हैं, वे भी द्वितीय वर्णत्व के विरोधी हैं, अतः उन्होंने पाणिनि के प्रति सम्मान—प्रदर्शन तथा पौष्करसादि के इस मत के प्रति विरोधप्रकटीकरणार्थ इसके वैकल्पिक विधान की व्यवस्था हेतु ही पौष्करसादि आचार्यों का प्रकृत वार्तिक में नामोल्लेख किया । इसके अनुसार पौष्करसादि आचार्यों के मत में (पाणिनि—कात्यायन के मत में नहीं) यदि 'चय्' प्रत्याहार के वर्णों के पश्चात् शर् (वर्णों) की प्राप्ति हो, तो विकल्प से तत्तत्वर्गों के द्वितीय अक्षर का भी आगम होगा। यथा—

साधुत्व-प्रक्रिया

(१) प्राङ्ख् षष्ठः, प्राङ् क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः.—'प्राङ्+षष्ठः'—इस स्थिति में 'ङ्णोः कुक्टुक्शरि'—सूत्र से 'ङकार' के स्थान पर विकल्प से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से कुक् का आगम, 'आद्यन्तौ टकितौ' के अनुसार यह कुक् कित्वेन 'ङकार'—स्थानी के अन्तावयव के रूप में प्रवृत्त होगा, अतः 'प्राङ्+कुक्+षष्ठः'—इस स्थिति में कुक् के 'ककार' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप करने पर 'प्राङ्+क्+षष्ठः'—इस स्थिति में प्रकृत वार्तिक 'चयः' द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' से 'ककार', (चय्) के पश्चात् षष्ठः के 'षकार'—शर् के आने पर विकल्प से 'खकार' द्वितीय

वर्णागम करने पर 'प्राङ् ख् षष्ठः' रूप बनेगा, और द्वितीयवर्णागमाभाव में 'प्राङ् क् षष्ठः' इस दशा 'अज्झीनं (व्यंञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'प्राङ् क्षष्ठः' रूप बनेगा, क्योंकि 'क् और ष्' ध्वनियों को 'क्ष्' के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। 'प्राङ् क् षष्ठः'—इस स्थिति में 'झलां जशोऽन्ते (८।२।३९)' त्रिपादी की दृष्टि में 'ङ्णोः...(८।३।२८)' के पूर्वत्रासिद्धम्' से असिद्ध होने पर जश्त्व नहीं होगा। विकल्प से कुगागमाभाव में 'प्राङ् षष्ठः' रूप बनेगा।

(२) सुगण् ठ् षष्ठः, सुगण् ट् षष्ठः, सुगण् षष्ठः —'सुगण्+षष्ठः'—इस स्थिति में 'ङ्णोः कुक्टुक्शरि' सूत्र से विकल्प से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से क्रमशः टुक् आगम और 'आद्यन्तौ टकितौ' के विधानानुसार 'णकार' के अन्तावयवस्वरूप उसकी प्रवृत्ति—'सुगण् टुक् षष्ठः'—इस स्थिति में टुक् के 'ककार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप करने पर 'सुगण् ट् षष्ठः'— इस दशा में प्रकृति वार्तिक 'चयः द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' से विकल्प से 'टकार'—चय् को बाद में 'षकार'—शर् होने से 'ठकार'—रूप द्वितीय वर्णागम होने पर 'सुगण् ठ् षष्ठः' रूप व्युत्पन्न होगा, और द्वितीय वर्णागमाभावपक्ष में 'सुगण् ट् षष्ठः' रूप और टुगागमाभावपक्ष में 'सुगण् षष्ठः' रूप व्युत्पन्न होंगे।

८६. डः सि धुट् ८।३।२९

डः (पं० ए०) सि (स० ए०) धुट् (प्र० ए०)

[ड् के पश्चात् सकार आने पर (सकार के स्थान पर) धुट् (आगम होता है)।]

डात्परस्य सस्य धुड्वा स्यात्। षट्त्सन्तः—षट् सन्तः।

हिन्दी अनुवाद—'ड' से परवर्ती (के पश्चात् स्थित) सकार को विकल्प से 'धुट्' आगम होता है। (यथा—। षट्त्सन्त—षट्सन्तः।

व्याख्या—यह धुडागम—विधायक—सूत्र है। इसमें 'डः' पञ्चमी और 'सि' सप्तमी निर्देशपूर्वक धुडागम का विधान किया गया है। अब यहाँ समस्या यह है, कि यहाँ धुडागम तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६७) के अनुसार परवर्ती सकार के स्थान पर किया जाय या 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१।१।६६)

के अनुसार पूर्ववर्ती 'ड्' के स्थान पर हो ? तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार तो परत्वात् 'तस्मादित्युत्तरस्य' का विधान ही मान्य है—"उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् परत्वादित्यभिप्रेत्याह सस्येति । सीति सप्तमीनिर्देशस्तु लाघवार्थः ।" वस्तुतः ऐसी दशा में तुल्यबलविरोध की स्थिति में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' के अनुसार परवर्ती 'तस्मादिति..............' के विधान को ही मान्य मानना चाहिये । अब "ड्' से परे अव्यवहित सकार परे रहते'—वाक्यांश की निरर्थकता के कारण विवशतावश 'सि'–सप्तम्यन्त का 'सस्य' षष्ठ्यन्त में विपरिणाम करने पर सूत्र का स्पष्टोचित अर्थ हो जाता है—'डात्परस्य सस्य धुड्वागमः स्यात् ।" अर्थात् यदि 'डकार' के पश्चात् 'सकार' की प्राप्ति हो, तो 'सकार' के स्थान पर विकल्प से 'धुट्' का आगम होगा । यथा—

साधुत्व-प्रक्रिया

षट्त्सन्तः षट्सन्तः—'षड् + सन्तः'— इस स्थिति में ष्टुना ष्टुः' सूत्र से 'डकार'—टवर्ग के कारण सन्तः के 'सकार' को 'षकार' प्राप्त होता है, किन्तु न पदान्ताट्टोरनाम्' सूत्र से उसका निषेध होने पर प्रकृत 'डः सि धुट्' सूत्र से विकल्प से षड् के 'डकार' से परवर्ती सन्तः के 'सकार' को 'तस्मादित्युत्तरस्य' के सहकार से 'धुट्' का आगम, 'आद्यन्तौ टकितौ' के नियमानुसार टित् धुट् की सकार के आद्यवयवस्वरूप प्रवृत्ति–'षड् धुट् सन्तः'–इस स्थिति में धुट् के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप करने पर 'षड् ध् सन्तः'—इस स्थिति में 'खरि च' से 'धकार'—झल् को 'स्' खर् परे रहते 'तकार'—चर् करने पर 'षड् त् सन्तः' इस स्थिति में भी पुनः 'खरि च' से 'ड्'—झल् को 'तकार'—खर् परे रहते 'टकार'—चर् करने पर 'षट् त् सन्तः'—प्रयोग व्युत्पन्न होगा और धुडभाव में 'षट् सन्तः' प्रयोग बनेगा ।

८७. नश्च ८।३।३०

नः (पं० ए०) च (अव्यय)

[नकार (नान्त) के पश्चाद्वर्ती होने पर भी........]

नान्तात्परस्य सस्य धुड् वा स्यात् । सन्त्सः—सन्सः ।

हिन्दी अनुवाद—नान्त के पश्चाद्वर्ती सकार को (भी) विकल्प से 'धुड्' (आगम) होता है । (यथा—) सन्त्सः—सन्सः ।

व्याख्या—यह नान्त के पश्चाद्वर्ती सकार के स्थान पर धुड्विधायक सूत्र है। इसमें 'उः सि धुट्' सूत्र से 'सि' और धुट्' का तथा 'हे मपरे वा' से 'वा' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार नान्त के पश्चात् सकार आने पर सकार को विकल्प से धुट् आगम होता है। पूर्ववत् यहाँ भी 'तस्मादित्युत्तरस्य' और 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' के तुल्यबलविरोध की स्थिति में 'विप्रतिषेधे परंकार्यम्' से परवर्ती 'तस्मादि········' विधि मान्य होगी। यथा—

साधुत्व-प्रक्रिया

सन्त्सः सन्सः—'सन् + सः'—इस स्थिति में 'तस्मादित्युत्तरस्य' के सहकार से प्रकृत 'नश्च' सूत्र से नान्त 'सन्' के पश्चाद्वर्ती सः के 'सकार' को विकल्प से धुट् आगम, 'आद्यन्तौ टकितौ' के नियमानुसार टित् 'धुट्' की सकार स्थानी के आधवयवस्वरूप प्रवृति—'सन् धुट् सः'—इस दशा में अनुबन्ध लोप (धुट् के 'टकार' की 'हलन्त्यम' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से (लोप) करने पर 'सन् ध् सः'—इस स्थिति में 'खरि च' से 'धकार'-झल् के स्थान पर 'सकार'—खर् परे रहते 'तकार'-चर् करने पर 'सन् त् सः'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'सन्त्सः' प्रयोग निष्पन्न हुआ, और धुडाभावपक्ष में 'सन्सः' रूप बनेगा।

८८. शि तुक् ८।३।३१

शि० (स० ए०) तुक् (प्र० ए०)

[शकार आने पर तुक् (आगम होगा)।]

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा स्यात्। सञ्छम्भुः—सञ्च्छम्भुः, सञ्च्शम्भुः-सञ्शम्भुः।

हिन्दी अनुवाद—पदान्त नकार को बाद में शकार आने पर विकल्प से तुक् (आगम) होता है। (यथा—) सञ्छम्भुः, सञ्च्छम्भुः, सञ्च्शम्भुः, सञ्शम्भुः।

व्याख्या—यह तुगागम—विधायक सूत्र है। इसमें 'नश्च' से पञ्चम्यन्त पद 'नः' की अनुवृत्ति और 'पदस्य'—अधिकार सूत्र के बल पर उसका षष्ठी में विपरिणाम और 'हे मपरे वा' से 'वा' की अनुवृत्ति की जाती है, फलतः

दान्तस्य न श्च शे परे तुग्वा' अर्थ-प्राप्ति होती है। इसके अनुसार पदान्त कार के पश्चात् यदि शकार आवे, तो उसके (नकार के) स्थान पर विकल्प तुक् (आगम) होगा। 'तुक्' में तकार 'इत्' है और 'उकार' उच्चारणार्थ है, तः ककार की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से संज्ञा, 'तस्य लोपः' लोप करने पर केवल 'त्' आगम स्वरूप अविशिष्ट रहता। जैसे—

श्चुत्व–प्रक्रिया

सञ्छम्भुः—सञ्च्छम्भुः—सञ्चशम्भुः—सञ्शम्भुः—'सन् + शम्भुः'—इस स्थिति में 'शि तुक्' सूत्र से पदान्त सन् के 'नकार' के पश्चात् शम्भुः के 'शकार' परे रहते 'नकार' के पश्चात् शम्भुः के 'शकार' के परे नकार को विकल्प से तुक्' आगम, 'आद्यन्तौ टकितौ' की सहायता से 'तुक'—कित् की नकार के त्यावयव स्वरूप प्रवृत्ति—सन् तुक् शम्भुः'—इस स्थिति में तुक् के 'ककार' 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनु नासिक इत्' से इत्संज्ञा और स्यलोपः' से लोप करने पर—'सन त् शम्भुः'—इस स्थिति में 'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र से 'तकार' के स्थान पर 'चकार' श्चुत्व करने पर—'सन् च म्भुः'—इस दशा में पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' से 'नकार' के स्थान पर 'ञकार' त्व—'सञ् च् शम्भुः'—इस दशा में 'शश्छोऽटि' से 'चकार'—झय् के पश्चात् स्थित 'शकार' को 'अकार' अट् परे रहते विकल्प से 'छकार' करने —'सञ् च् छम्भुः' इस स्थिति में 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र से 'ञ्कार'—हल् परवर्ती 'चकार' झर् का 'छकार'—सवर्ण झर् परे रहते लोप करने पर सञ् म्भुः='सञ्छम्भुः' और चकार के वैकल्पिक लोपाभाव पक्ष में सञ्च्छम्भुः' लोपाभाव में 'सञ्चशम्भुः' और तुगाभाव पक्ष में स्तोः श्चुनाश्चुः' श्चुत्व होकर ञ्शम्भुः' रूप बनेगा।

उपर्युक्त प्रयोगों से सम्बन्ध निम्नाङ्कित कारिका वैयाकरणों में अत्यन्त सिद्ध है—

"अछौ अचछा अचशा ञशाविति चतुष्टयम्।
सूत्राणामिह तुक्-छत्वचलोपानां विकल्पनात् ॥"

अग्राङ्कित तालिका उपर्युक्त प्रयोग के चारों रूपों की साधुत्व-प्रक्रिया अवधारण में सहायक सिद्ध हो सकती है—

सन्+त्+शम्भुः—सन्+च्+शम्भुः—सञ्+च्+शम्भुः
(शि तुक्) (स्तोः....) (३) | स्तोः....(i)
सन्+शम्भुः (सञ्च्चशम्भुः)
| |
(स्तोः....) (शश्छोऽटि)
| सञ्च्छम्भु (ii)
सञ्शम्भुः (४) | (२)
|
(झरो झरि....)
|
सञ्छम्भुः (१)

८९. ङमोह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ८।३।३२

ङ मः (पं० ए०) ह्रस्वात् (पं० ए०) अचि (स० ए०) ङ मु ण् (प्र० ...) नित्यम् (प्र० ए०)।

[ह्रस्वात् ङमः अचि ङ मुट् नित्यम्—ह्रस्व से परवर्ती 'ङम्' के प... आने वाले अच् को नित्य ङमुट् (होता है)।]

ह्रस्वात्परो योङम्, तदन्तं पत्पदं, तस्मात् परस्याचो ङमुट्। प्रत्... त्मा, सुगण्णीशः, सन्नच्युतः।

हिन्दी अनुवाद—ह्रस्व से परवर्ती 'ङम्' पदान्त में हो, और उसके... अच् हो, तो अच् को नित्य 'ङमुट्' आगम होगा। (यथा—) प्रत्यङ्ङ... सुगण्णीशः, सन्नच्युतः।

व्याख्या—यह ङमुडागमविधि सूत्र है। 'ङम्' एक प्रत्याहार है, जि... 'ङ्, ण्, न्' तीन वर्णों का बोध होता है। 'ङमुट्' का अर्थ है, 'ङम्+... अर्थात् 'ङ्+उट्+ण्+उट्+न्+उट्' अर्थात् 'ङुट्+णुट्+नुट्'। (ङमु... ङुट्+णुट्+नुट्) इस प्रकार स्थानी (ङ्, ण्, न्) और आगम (ङुट्, णुट्,...) की संख्या बराबर होने से ये आगम 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के अ... क्रमशः होंगे, अर्थात् 'ङ्' से परवर्ती अच् को 'ङुट्', ण् से परवर्ती अ... णुट् और 'न्' से परवर्ती अच् को 'नुट्' होगा—'संज्ञायां च कृतं... सामर्थ्यात् संज्ञाभिः सम्बध्यते। तेन यथासङ्ख्य ङुट्-णुट्-नुटः प्रवर्त्तन्ते।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'नित्यम्' (तत्त्वबोधिनी) का अभिप्राय है, 'प्रायः'। अर्थात् जहाँ यह 'ङमुट्' होगा, वहाँ नित्य होगा। जैसे—प्रत्यङ् ङात्मा आदि, और जहाँ नहीं होगा, वहाँ कभी नहीं होगा, जैसे—तिङन्त।

इस सूत्र के अनुसार ह्रस्व से परवर्ती 'ङम्' पदान्त में हो, और उसके बाद कोई स्वर हो, तो उस स्वर के स्थान पर नित्य 'ङमुट्' होगा। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

(१) प्रत्यङ ङात्मा:—'प्रत्यङ् + आत्मा'—इस स्थिति में पदान्त में स्थित 'ङकार'-ङम् ह्रस्व 'अकार' का परवर्ती है और उसके बाद आत्मा का 'आकार'—अच् प्राप्त है, अतः प्रकृत सूत्र 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' से 'आकार' अच् को 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से 'ङुट्' आगम, यतः यह 'ङुट्' टित् है, अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार से इसकी स्थानी 'आ' के आद्यवयवस्वरूप प्रवृत्ति—'प्रत्यङ् ङुट् आत्मा'—इस स्थिति में ङुट् के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप करने पर—

'प्रत्यङ् ङ आत्मा' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'प्रत्यङङात्मा' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

(२) सुगण्णीश—'सुगण् + ईशः'—इस स्थिति में यतः 'णकार' ङम् पदान्त में स्थित है, और वह गकारोत्तरवर्ती ह्रस्व 'अकार' का परवर्ती है, और उसके बाद ईशः का 'ईकार' अच् प्राप्त है, अतः प्रकृत सूत्र 'ङमो ह्रस्वा दचि ङमुण् नित्यम्' से 'ईकार' के स्थान पर 'यथा-सङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के णुट् (ङमुट्) आगम टित्वेन 'आद्यन्तौ टकितौ' के विधानानुसार इसको ईकार के आद्यवयवस्व-रूप प्रवृत्ति 'सगुण् णुट् ईशः'-इस दशा में णुट् के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'सुगण् ण् ईशः'—इस स्थिति में 'अज्झीन (व्यंजनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'सुगण्णीशः' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

(३) सन्नच्युत—'सन् + अच्युतः'—इस दशा में यतः सन् पद के अन्त में 'नकार'—ङम् स्थित है, और वह सकारोत्तरवर्ती 'अकार' ह्रस्व का परवर्ती है, तथा उसके बाद अच्युतः का 'अकार' अच् प्राप्त है, अतः प्रकृत सूत्र ङमो 'ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से 'अकार' अच् के स्थान पर नुट् (ङमुट्) आगम, 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार

से टित्वेन 'नुट' की अकार स्थानी के आवयवस्वरूप प्रवृत्ति 'सन् नुट् अच्यु
इस दशा में नुट् के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की उपदेशेऽज
नासिक इत्' से इत्संज्ञा और ' तस्य लोपः' से लोप 'सन् न् अच्युतः' इस स्थि
में 'अज्ज्ञीनं (व्यंजनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'सन्नच्यु
प्रयोग निष्पन्न हुआ।

९०. समः सुटि ८।३।५

समः (ष० ए०) सुटि (स० ए०)

[सुटि समः—सुट् बाद में होने पर सम् के स्थान पर......(रु—आ
होगा)।]

समः रुः सुटि।

हिन्दी अनुवाद—सम् (मकार) के स्थान पर बाद में सुट् आने पर
आदेश होगा।

व्याख्या—यह रुत्व विधायक सूत्र है, इसमें मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्द
सूत्र से 'रुः' की अनुवृत्ति होती है, इसके अनुसार बाद में 'सुट्' होने पर 'स
के स्थान पर 'रु' आदेश होगा किन्तु 'आलोऽन्त्यस्य' की सहायता से अ
अल् 'मकार' के स्थान पर ही 'रु' होगा। यथा—'संस्कर्त्ता'—प्रयोग
'सम्+स्कर्त्ता'—इस स्थिति में स्कर्त्ता का 'स्' सुट् है, अतः सम् के बाद
सुट् होने पर 'आलोऽन्त्यस्य' की सहायता से सम के मकार के स्थान पर प्र
सूत्र 'समः सुटि' से 'रु' आदेश करने पर 'सरु स्कर्त्ता',—यह स्थिति प्रा
होने पर अग्रिम सूत्र 'अत्रानुनासिक......' की प्रवृत्ति होती है।

९१. अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८।३।२

अत्र (अव्यय) अनुनासिकः (प्र० ए०) पूर्वस्य (ष० ए०) तु (अव्यय)
(अव्यय)।

[अत्र पूर्वस्य तु अनुनासिकः वा—अर्थात् यहाँ (इस 'रु' के प्रकरण
(रु के) पूर्व (वर्ण) को विकल्प से अनुनासिक......(होगा)।]

अत्र रु प्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा।

हिन्दी अनुवाद—यहाँ [इस (अष्टाध्यायी के तृतीय पाद में) रु-प्रकरण
'रु'—के पूर्ववर्ती वर्ण के स्थान में विकल्प से अनुनासिक होता है।

व्याख्या—यह अनुनासिक विधि सूत्र है। रु के दो प्रकरण हैं—प्रथम ससजुषोरुः से सम्बद्ध रु-प्रकरण और द्वितीय अष्टम अध्याय के तृतीय पाद का रु-प्रकरण। इस प्रकार दोनों रु-प्रकरण अष्टाध्यायी के अष्टम अध्याय के द्वितीय और तृतीय पाद में है। इस प्रकार इस सूत्र के अनुसार रु के पूर्ववर्ती वर्ण को विकल्प से अनुनासिक होता है। जैसे—'सरुस्कर्त्ता'—इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से रु के पूर्ववर्ती वर्ण सकारोत्तरवर्ती अकार को विकल्प से अनुनासिक होकर निम्नांकित दो स्थितियाँ प्राप्त होती हैं :

(i) 'सँरुस्कर्त्ता' और (ii) 'स रुस्कर्त्ता'। ह्रस्व अग्रिम सूत्र 'अनुना··· नुस्वारः' की प्रवृत्ति होती है।

९२. अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८।३।४

अनुनासिकात् (पं० ए०) परः (प्र० ए०) अनुस्वारः (प्र० ए०)

[अनुनासिकात् अनुस्वारः परः—अनुनासिक की अपेक्षा अनुस्वार श्रेष्ठ (श्रेयस्कर तथा उचित) है।]

अनुनासिक विहाय रोः पूर्वस्मात् परोऽनुस्वारागमः।

हिन्दी अनुवाद—अनुनासिक को छोड़कर (अर्थात् अनुनासिक से भिन्न पक्ष में) रु के पूर्व (वर्ण) के बाद अनुस्वार का आगम होता है।

व्याख्या—यह अनुस्वार विधायक सूत्र है। इसके अनुसार पूर्ववर्ती सूत्र में जो दो स्थितियाँ थीं—अनुनासिक और अननुनासिक उनमें से अनुनासिक स्थिति में रु के पूर्ववर्ती वर्ण के बाद अनुस्वार का आगम हो जायेगा। जैसे—सँ रु स्कर्त्ता से भिन्न स्थिति 'स रु स्कर्त्ता' में प्रकृत सूत्र से 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण सकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् अनुस्वार हो जायेगा और अब निम्नांकित दो नूतन स्थितियाँ प्राप्त होंगी—

(i) अनुनासिक—सँ रु स्कर्त्ता और
(ii) अनुस्वार—सं रु स्कर्त्ता।

९३. खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५

खरवसानयोः (स० द्वि०) विसर्जनीयः (प्र० ए०)

[खर् और अवसान होने पर विसर्ग (होता है)।]

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः।

हिन्दी अनुवाद—खर् बाद में होने पर और अवसान में पदान्त रेफ (रकार) के स्थान पर विसर्ग (होता है)।

व्याख्या—यह विसर्ग विधि सूत्र है, इसमें 'रो रि' से 'र:' की (रेफस्य) तथा अधिकार सूत्र 'पदस्य' से 'पदस्य' की अनुवृत्ति करने पर तदन्तविधि से 'पदान्तस्य रेफस्य' अर्थ की प्राप्ति होती है। इसके अनुसार खर-प्रत्याहार के वर्णों के आने पर और अवसान ('विरामोऽवसानम्' में पदान्त रेफ (रफार) के स्थान पर विसर्ग होता है। जैसे—

'सँ रु स्कर्त्ता तथा सं रु स्कर्त्ता'—इस स्थिति में 'रु' के उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोप:' से लोप करने पर—'सँ र् स्कर्त्ता तथा सं र् स्कर्त्ता'—इस स्थिति में यत: 'र' (रेफ) के बाद 'स' खर् प्राप्त है. अत: प्रकृत सूत्र से विसर्ग करने पर निम्नाङ्कित दो स्थितियाँ प्राप्त होंगी— .

(i) सँः स्कर्त्ता, तथा (ii) संः स्कर्त्ता।

(वा०) संपुंकानां सो वक्तव्यः। सँस्स्कर्त्ता, संस्स्कर्त्ता।

संपुंकानां (प० ब०) स: (प्र० ए०) वक्तव्यः (प्र० ए०)

हिन्दी अनुवाद—सम्, पुम् और कान् के (विसर्ग को) सकार (ही) कहना चाहिए (होता है)। सँस्स्कर्त्ता, संस्स्कर्त्ता,

व्याख्या—यह सकार—विधायक वार्तिक है। जब 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग हुआ, तो 'सँः स्कर्त्ता तथा संः स्कर्त्ता'—इस स्थिति में 'विसर्जनीयस्य स:' विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश प्राप्त हुआ किन्तु 'वाशरि' से उसका निषेध होकर विकल्प से पुन: विसर्ग की ही प्राप्ति होने लगती है, तब प्रकृत वार्तिक 'वाशरि' के निषेध को वारित कर सकार का विधान करता है, अत: इसके अनुसार सम्, पुम् और कान् शब्दों के विसर्ग के स्थान सकार को ही विहितव्य कहना (मानना) चाहिए, इस प्रकार—

सँः स्कर्त्ता तथा संःस्कर्त्ता'—इन स्थितियों में प्रकृत वार्तिक के अनुसार विसर्ग के स्थान पर 'सकार विहितव्य होने पर 'संस्स्कर्त्ता तथा संस्स्कर्त्ता' रूप व्युत्पन्न होते हैं।

ाधुत्व-प्रक्रिया

सँस्स्कर्त्ता–संस्स्कर्त्ता—'सम्+कर्त्ता—इस स्थिति में 'सम्परिभ्यां करोती
ूपणे' सूत्र से भूषणार्थक सम्पूर्वक 'कृ'–धातु के ककार से पूर्व सुट् का 'आद्यन्तौ
कितौ' के सहकार से आगम 'सन् सुट् कर्त्ता'—इस स्थिति में सुट् के 'टकार'
ी 'हलन्त्यम्' और उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और
तस्य लोपः' से लोप करने पर 'सम् स् कर्त्ता' इस दशा में 'समः सुटि' सूत्र
ं सकार (सुट्) परे रहते सम्पूर्ण सम् को 'रु' आदेश की प्राप्ति, किन्तु
अलोऽन्त्यस्य' की सहायता में अन्त्य अल् 'मकार' के स्थान पर 'रु' करने
र—'स रु स्कर्त्ता' इस स्थिति में 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तुवा' सूत्र से 'रु' के
ूर्ववर्ती वर्ण सकारोत्तरवर्ती 'अकार' को विकल्प से अनुनासिकत्व करने पर
नुनासिक पक्ष में 'सँ रु स्कर्त्ता तथा अननुनासिक पक्ष में स रु स्कर्त्ता'—इस
स्थिति में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से 'रु' के पूर्ववर्ती वर्ण 'अकार' के बाद
नुस्वार का आगम, अब 'सँरु स्कर्त्ता तथा सं रु स्कर्त्ता' इन स्थितियों में
रु' के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से
ोप करने पर 'सँ र् स्कर्त्ता—संस्कर्त्ता'—इस स्थिति में 'खरवसानयोर्विसर्ज-
ीयः' से रेफ के स्थान में स्कर्त्ता के 'सकार'—खर् के परे रहते विसर्ग करने
र—सँःस्कर्त्ता—सं: स्कर्त्ता—इस दशा में 'विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग के
थान पर खर 'स्' परे रहते 'सकार' आदेश, किन्तु 'वा शरि' से उसका वैक
ल्पिक निषेध, किन्तु 'संपुंकानां सो वक्तव्यः'—वार्तिक से 'वाशरि' के निषेध
ौर सकार का विधान करने पर—'सँ स् स्कर्त्ता—सं स्स्कर्त्ता' इस स्थिति में
अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'सँस्स्कर्त्ता—
ंस्स्कर्त्ता' उभय रूप व्युत्पन्न हुए।

"समो वा लोपमेक इति भाष्यम्"—इस भाष्य वचनानुसार मकार
ा वैकल्पिक लोप करने पर एक सकार युक्त रूप भी बनता है।

यतः लोप भी रु—प्रकरण में है अतः अनुनासिक और अनुस्वार दोनों
क्षों में 'निम्नवत् एक सकार युक्त रूप बनते हैं, जो सम्प्रति अधिक लोकप्रिय

हैं—संस्कत्ता और संस्कर्त्ता।' वैसे भट्टोजिदीक्षित ने इसके १०८ विभि
रूपों की साधुत्व-प्रक्रिया बनायी है।

२४. पुमः खय्यम्परे ८।३।६

पुमः (ष० ए०) खयि (स० ए०) अम् (प्र० ए०) परे (स० ए०)

[अम्परे खयि पुमः—अम्परक खय् बाद में आने पर पुम् के (स्थान पर) (रु होता है)।]

अम्परे खयि पुमो रुः। पुँस्कोकिलः पुंस्कोकिलः

हिन्दी अनुवाद—अम्परक खय् के बाद में आने पर पुम् के स्थान पर (होता है)। (यथा—) पुँस्कोकिलः—पुंस्कोकिलः।

व्याख्या—यह पुम् के स्थान पर रुत्वविधि सूत्र है। इसके अनुसार अम्परक खय् (प्रत्याहार के वर्णों) के बाद में आने पर पुन् के स्थान पर 'रु' आदेश होता है। ध्यातव्य है, कि प्रकृतसूत्र सम्पूर्ण पुम् के स्थान पर 'रु' करता है, जो अभीष्ट है, अतः 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से अन्त्य अल् 'मकार' के स्थान पर ही 'रु' होता है। यथा—

साधुत्व-प्रक्रिया:

पुँस्कोकिलः—पुंस्कोकिलः—'पुमाँश्चासौ कोकिलश्च'—इस विग्रह में कर्मधारय समास तथा समासादि कार्यों की सम्पन्नता में 'पुम+कोकिलः' इस दशा में 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से प्रकृत सूत्र 'पुमः खय्यम्परे' से पुम् के अन्त्य अल् 'मकार' के स्थान पर 'रु' आदेश करने पर—'पुरु कोकिलः' इस दशा में —'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' सूत्र से 'रु' के पूर्ववर्ती वर्ण 'उकार' को विकल्प से अनुनासिकत्व करने पर अनुनासिक पक्ष में—पुँ रु कोकिलः' तथा अननुनासिक पक्ष में—'पु रु कोकिलः'—इन दोनों स्थितियों में 'अनुनासिका 'परोनुऽस्वारः' सूत्र से अनुनासिकाभाव पक्ष में 'रु' के पूर्ववर्ती वर्ण 'उकार' के बाद अनुस्वार करने पर—'पुँ रु कोकिलः तथा पुं रु कोकिलः'—इस दशा में 'रु' के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप करने पर 'पुँर्कोकिलः तथा पुंर् कोकिलः' इन स्थितियों में 'खरवसान यो विसर्जनीयः' से रेफ के स्थान पर विसर्ग करने पर—'पुँः कोकिलः तथा पुंः कोकिलः'—इन स्थितियों में 'विसर्जनीयस्य

विसर्ग के स्थान पर सकार प्राप्त होता है, किन्तु उसके अपवाद सूत्र 'कुप्वोः ≍क≍पौ च' से विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय प्राप्त होगा, किन्तु 'संपुंकानां सो वक्तव्यः' से जिह्वामुलीय का निषेध और सकार का विधान करने पर 'स्कोकिलः' उभयरूप व्युत्पन्न होंगे।

५. नश्छव्यप्रशान् ८।३।७

नः(ष०ए०) छवि (स० ए०) अप्रशान (प्र० ए०)

[अप्रशान् छवि नः—प्रशान् को छोड़कर छव् बाद में होने पर न को (के स्थान पर) ('रु' होगा)।]

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः न तु प्रशान् शब्दस्य।

हिन्दी अनुवादः—प्रशान शब्द को छोड़कर अम्परक छव् (प्रत्याहार के वर्णों) परे रहते नान्त पद को 'रू' (आदेश होता है)।

व्याख्याः—यह भी रुत्व विधायक सूत्र है। इसमें 'पुमः खय्यम्परे' से 'अम्परे' की, 'पदस्य'—अधिकार सूत्र 'पदस्य' की और 'मतुवसोरु....' से 'रु' की अनुवृत्ति करने पर सूत्रस्थ नकार के अनुवृत्त 'पदस्य' के विशेषणत्वेन तदन्तविधि ना 'नान्तस्य पदस्य'—अर्थ प्राप्त होता है, इस प्रकार सूत्रार्थ हुआ प्रशान् के अतिरिक्त अन्यत्र यदि अम्परक छव् बाद में आवे, तो नान्त पद के स्थान पर रुत्व होगा, यह रुत्व सम्पूर्ण नान्त पद के स्थान पर रुत्व होगा, यह रुप सम्पूर्ण नान्त के स्थान पर अभीष्ट ना होने से 'अलोन्त्यस्य' के अनुसार अन्तिम् अल् नकार के स्थान पर ही 'रु' आदेश होगा।

उदाहरणार्थ—'चक्रिन्+त्रायस्व'—इस स्थिति में चक्रिन् पद 'प्रशान्' से भिन्न (अप्रशान्) है, और नान्त भी है, तथा उसके बाद तकार (छव्) के बाद 'रकार'—अम् है अतः अम्परक छव् की प्राप्ति भी हो रही है, अतः प्रकृत सूत्र से अलोऽन्त्यस्य के सहकार से अन्त्याल् 'नकार' के स्थान पर 'रु' की प्राप्ति होकर निम्नांकित स्थिति प्राप्त होगी—

'चक्रिरूत्रायस्व'। तत्पश्चात् अन्यान्य सूत्रों के साथ अग्रिम सूत्र 'विसर्जनीयस्य सः' की प्रवृत्ति होती है।

९६. विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४

विसर्जनीयस्य (ष० ए०) सः (प्र० ए०)

[विसर्ग के स्थान पर सकार (आदेश) (होगा)।] खरि। चक्रिँस्त्रायस्व-चक्रिंस्त्रायस्व।

हिन्दी अनुवाद—खर् बाद में आने पर (विसर्ग के स्थान पर स[कार] होगा)। (जैसे—) चक्रिँस्त्रायस्व-चक्रिंस्त्रायस्व।

व्याख्या—यह विसर्ग के स्थान पर सकार विधायक सूत्र है। इ[स] 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खरि' पद में 'खर' की अनुवृत्ति की गयी है। इ[स] अनुसार यदि विसर्ग के पश्चात् 'खर्'-प्रत्याहार के वर्ण हों, तो विसर्ग के स्[थान] पर 'स'—आदेश होगा। जैसे:—

साधुत्व-प्रक्रिया

चक्रिँस्त्रायस्व—चक्रिंस्त्रायस्व.—'चक्रिन्+त्रायस्व'—इस स्थिति [में] 'नश्छव्यप्रशान्' सूत्र से 'रेफ' अम्परक 'तकार'—छव् बाद में होने [पर] 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार 'नकार' के स्थान पर रु आदेश-'चक्रिरुत्रायस्व' [इस] दशा में 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' से 'रु' के पूर्ववर्ती वर्ण रेफोत्तरवर्ती 'इका[र]' के स्थान पर विकल्प से अनुनासिकत्व करने पर 'चक्रिँरु त्रायस्व' और अनुनासि[क] भावपक्ष में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः से 'रु' के पूर्ववर्ती वर्ण 'इकार' के बा[द] अनुस्वार करने पर 'चक्रिंरु त्रायस्व'—इस स्थिति में अनुबन्ध लोप ('रु' [के] उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप) करने [पर] 'चक्रिँर् त्रायस्व—चक्रिंर् त्रायस्व'—इन स्थितियों में 'खरवसानयो विसर्जनी[यः]' से रकार (रेफ) के स्थान पर विसर्ग—'चक्रिँःत्रायस्व—चक्रिंः त्रायस्व'—इन स्थितियों में प्रकृत सूत्र 'विसर्जनीयस्व सः' से विसर्ग के स्थान पर सका[र] करने पर 'चक्रिँस्त्रायस्व—चक्रिंस्त्रायस्व' प्रयोग व्युत्पन्न होंगे।

अप्रशान् किम्? प्रशान्तनोति।

हिन्दी अनुवाद—(आशंका-) 'नश्छव्यप्रशान्' सूत्र में 'अप्रशान्' (प[द]) या अनुबन्ध) क्यों (है)? (उत्तर है–) 'प्रशान्तनोति' (प्रयोग की सिद्धि के लि[ए] अप्रशान् अनुबन्ध आवश्यक था)।

व्याख्या—वृत्तिकार नें आशंका की, कि यदि 'नश्छव्यप्रशान्' सूत्र [में] 'अप्रशान्-पद का पाठ न किया गया होता तो भी 'चक्रिँस्त्रायस्वादि' प्रयोगों [की]

ांध सिद्धि हो जाती। अत: 'अप्रशान्' जैसे विशाल शब्द का पाठ 'अर्ध-
ालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' की भावना के विपरीत तथा व्यर्थ
ात: इसका पाठ अनावश्यक है। इस आशंका का उत्तर इस प्रकार दिया
सकता है, कि महर्षि पाणिनि जैसे सु विज्ञ व्याकरण से ऐसा स्खलन कथमपि
व नहीं है, उनकी दृष्टि में 'प्रशान्तनोति' प्रयोग था, यदि उन्होंने सूत्र में
शान्' अनुबन्ध न लगाया होता, तो 'चक्रिंस्त्रायस्व' आदि की सिद्धि तो
बाद होती, किन्तु 'प्रशान्तनोति प्रयोग न बनता और वहाँ पर 'रुत्व'
र प्रशान्+तनोति—न्+त् (छव्)+अ (अय्)—रुत्व—अनुनासिक
—अनुस्वारत्व='प्रशाँस्तनोति—प्रशांस्तनोति' रूप अशुद्ध और अनभीष्ट
ग बनने लगते।

अत: 'अप्रशान्' कहने से इस अशुद्धि से जहाँ सुरक्षा हुई, वहीं 'प्रशान्तनोति'
रुत्व का बाध होकर निर्बाध रूप से 'प्रशान्तनोति' प्रयोग भी निष्पन्न हो
। अत: 'अप्रशान्' अनुबन्ध से 'चक्रिंस्त्रायस्व तथा प्रशान्तनोति' दोनों की
र्बाध सिद्धि हुई। अत: प्रशान्तनोति की सिद्धि के लिये 'अप्रशान्' अनुबन्ध
ान्त आवश्यक था।

पदान्तस्येति किम्? हन्ति।

हिन्दी अनुवाद—(पुन: आशंका की गयी, कि) (वृत्ति में) 'पदान्तस्य' पाठ
क्रिया गया? (उत्तर है—) 'हन्ति' (की सिद्धि के लिए 'पदान्तस्य'—
ठ आवश्यक था।)

व्याख्या—वृत्ति में 'पदान्त नकार (नान्तस्य पदस्य)' क्यों कहा? इसके
ात्र में भी तो 'चक्रिंस्त्रायस्व' की निर्बाध सिद्धि होती, अत: इसका पाठ भी
र्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' की भावना के प्रतिकूल है, इसके
तर में तर्क दिया जा सकता है, कि यदि 'पदान्त' अनुबन्ध न होता तो यद्यपि
क्रिंस्त्रायस्व' आदि प्रयोग निर्बाध सिद्ध हो जाते, तथापि अपदान्त 'हन्ति' की
यति में भी रुत्व होने लगता और 'हन्+ति —न्+त् (ह्रस्व)+इ (अम्)
त्व अनुनासिकत्व—अनुस्वारत्व'='हँस्ति—हंस्ति' रूप अशुद्ध प्रयोग बनने
गते अत: 'हन्ति' में रुत्व के निषेध पूर्वक 'हन्ति' की निर्बाध सिद्धि की दृष्टि
से 'पदान्त' अनुबन्ध परमावश्यक था।

२७. नॄन् पे ८।३।१०

नॄन् (ष० ए०) पे (स० ए०)

[नॄन् के स्थान पर पकार बाद में आने पर............(विकल्प से होगा)।]

नॄ नित्यस्य रुर्वा पे।

हिन्दी अनुवाद—यदि नॄन् के बाद 'प्' आवे, तो नॄन् के स्थान विकल्प से 'रु' (आदेश) हो जाता है।

व्याख्या—यह भी 'रु'—विधायक सूत्र है। सूत्र के 'नॄन्'—इस द्वितीय पद को शब्द स्वरूप परक (प्रातिपादिक) समझना चाहिये। वस्तुतः षष्ठ्यन्त पद है। इसमें से 'षष्ठ्याः सौत्रोलुक्' के अनुसार षष्ठी का लुक् गया है। प्रस्तुत सूत्र में 'मतुवसो रु ०००' से 'रुः' की और 'उभयथर्क्षु' उभयथा की 'वा' के रूप में अनुवृत्ति की गयी है। इसके अनुसार यदि नॄ के पश्चात् पकार की प्राप्ति हो, तो सम्पूर्ण नॄन् के स्थान पर विकल्प से हो जाता है, किन्तु सम्पूर्ण नॄन् के स्थान पर रुत्व अनभीष्ट है, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य अल् नकार के स्थान पर ही रुत्व होगा। यथा 'नॄन्+पाहि' इस स्थिति में यतः 'नॄन्' के पश्चात् पाहि का 'पकार' प्राप्त हो रहा है, अतः प्रकृतसूत्र से सम्पूर्ण नॄन् के स्थान के स्थान पर विकल्प 'रु' होगा, 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से केवल अन्त्य अल् नकार के स्थान वैकल्पिक रुत्व करने पर निम्नांकित दो स्थितियाँ प्राप्त होंगी—

(i) नॄरु पाहि—(ii) नॄरु पाहि अब 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु' से 'रु' से पूववर्ती का ॠ के स्थान पर अनुनासिकत्व और अनुनासिकाभाव 'अनुनाशिकात्परोऽनुस्वारः' से अनुस्वार करने पर—'(i) नॄँरु पाहि तथा—(ii) नॄंरुपाहि दो स्थितियाँ' प्राप्त हुईं। सम्प्रति 'रु' के उकार 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप करने पर (i) नॄँरपाहि तथा नॄंर्पाहि'—इन स्थितियों मे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रुत्व के 'र' को विसर्ग करने पर नॄँः पाहि तथा नॄंः पाहि इन स्थितियों में अग्रिम सूत्र प्रवृत्ति होता है—

९८. कुप्वोः ≍क ≍पौ च ८।३।३७

कुप्वोः (स० द्वि०) ≍क ≍पौ (प्र० द्वि०) च (अव्यय)

[कवर्ग और पवर्ग आने पर ≍क ≍प भी (होंगे)।]

कवर्गे पवर्गे च विसर्गस्य ≍क ≍पौ स्तः। चाद्विसर्गः।

हिन्दी अनुवाद—बाद में कवर्ग और पवर्ग आने पर विसर्ग को (क्रमशः)
क ≍ प (रूप जिह्वामूलीय और उपध्मानीय) (आदेश) होंगे। सूत्र में
(च) चकार के कारण (पक्ष में) विसर्ग भी होगा। (जैसे—) नॄँ ≍ पाहि
नॄं ≍ पाहि, नॄँः पाहि—नॄंः पाहि—नॄन्पाहि।

व्याख्या—यह जिह्वामूलीयो पध्मानीय—विधायक सूत्र है। इस सूत्र में
'रोर्विसर्जनीयः' से 'विसर्जनीयः' (विसर्ग) की और 'विसर्जनीयस्य सः' से
'विसर्जनीयस्य' की अनुवृत्ति होती है। इसके अनुसार बाद में कवर्ग और पवर्ग
आने पर विसर्ग के स्थान पर 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के अनुसार क्रमशः
≍ क (जिह्वामूलीय) तथा ≍ प (उपध्मानीय) रूप वैकल्पिक आदेश होंगे
। साथ ही, सूत्र में प्रयुक्त चकार के कारण पक्ष में विसर्ग भी होगा। यतः
यहाँ रुत्व भी वैकल्पिक है, अतः रुत्वाभाव में यथावत् स्थिति भी बनी रहेगी।

—

रुत्व-प्रक्रिया

नॄँ ≍ पाहि—नॄं ≍ पाहि, नॄँः पाहि—नॄंः पाहि, नॄन्पाहि—
'नॄन्+पाहि'—इस स्थिति में 'नॄन् पे' सूत्र से 'अलोऽन्त्यस्य' की सहायता
से नॄन् के नकार के स्थान पर विकल्प से 'रु' आदेश—'नॄ रु पाहि'—इस
स्थिति में 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' से 'रु' से पूर्ववर्ती ऋकार को
अनुनासिकत्व और अनुनासिकाभाव में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से रु के पूर्व
ऋकार के बाद अनुस्वार करने पर—'नॄँ रु पाहि' नॄं रुपाहि—इस स्थिति में
रु के उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से
लोप करने पर 'नॄँ र् पाहि—नॄं र् पाहि'—इन स्थितियों में रेफ के स्थान पर
'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'नॄँः पाहि—नॄंः पाहि'—इन
स्थितियों में सम्प्रति 'कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च' सूत्र से विसर्ग के बाद पाहि
के पकार आने के कारण 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से
विसर्ग के स्थान पर ≍ प उपध्मानीय आदेश करने पर 'नॄँ ≍ पाहि—
नॄं ≍ पाहि' रूप बनेंगे। 'चाद्विसर्गः' के अनुसार विसर्ग भी होकर 'नॄँः
पाहि—नॄंः पाहि' रूप बनेंगे, और रुत्वाभाव पक्ष में यथावत् स्थिति में
'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'नॄन्पाहि' रूप
निष्पन्न होगा।

९९. तस्य परमाम्रेडितम् ८।१।२

तस्य (ष० ए०) परम् (प्र० ए०) आम्रेडितम् (प्र० ए०)

[उसका (द्विरुक्त का) पर (भाग) (परवर्ती) 'आम्रेडित' (होता है)।]

द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितंस्यात् ।

हिन्दी अनुवाद—द्विरुक्त (द्विधा कथित) के परवर्ती भाग की 'आम्रे... संज्ञा होती है।

व्याख्या—यह आम्रेडित-संज्ञा-विधायक सूत्र है। इसके ठीक... 'सर्वस्य द्वे' (८।१।१) का पाठ किया गया है, और इसमें 'तस्य'—पद द्वि... का सर्वनाम है। अतः वृत्ति में 'तस्य' का अर्थ 'द्विरुक्तस्य' किया गया... इसके अनुसार द्विरुक्त के परवर्ती भाग की 'आम्रेडित' संज्ञा होती... उदाहरणार्थ—'कांस्कान्' प्रयोग में 'कान् + कान्'—इस स्थिति में 'कान्'... द्विरुक्त है, और प्रकृत सूत्र से परवर्ती (द्वितीय) 'कान्' भी 'आम्रेडित'—... होगी।

१००. कानाम्रेडिते ८।३।१२

कान् (ष० ए०) आम्रेडिते (स० ए०)

[कान् के स्थान पर बार में आम्रेडित आने पर ('रु' होगा)।]

कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते। काँस्कान—कांस्कान्।

हिन्दी अनुवाद—बाद में आम्रेडित आने पर कान् के नकार के स... पर 'रु'—(आदेश) होगा। (यथा—) काँस्कान्-कांस्कान्।

व्याख्या—यह आम्रेडित आने पर रुत्वविधायक सूत्र है। इसमें प्रयु... 'कान्' पदप्रातिपदिक या शब्दस्वरूप परक पद है, जिसकी षष्ठी विभक्ति... सौत्रत्वाल्लुक हो गया है। इसमें 'मतुवसो रु०....' सूत्र से 'रुः' की अनुवृ... की गयी है, जिसके फलस्वरूप सूत्रार्थ होता है—यदि बाद में आम्रेडित... तो कान् के नकार के स्थान पर 'रु' आदेश होगा। वस्तुतः 'रुत्व' सम्पूर्ण का... के स्थान पर होता है, किन्तु बाद में 'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार अन्त्य व... 'नकार' के स्थान पर ही 'रु' होता है। यथा—

'काँस्कान्-कांस्कान्—'कान्+कान्'—इस दशा में 'तस्य परमाम्रेडितम्' सू परवर्ती (द्वितीय) 'कान् की आम्रेडित संज्ञा तथा प्रकृत सूत्र 'कानाम्रेडिते' से बाद में आम्रेडितसंज्ञक 'कान्' के परे रहते सम्पूर्ण पूर्ववर्ती 'कान्' के स्थान 'रु' आदेश प्राप्त था किन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' के नियमानुसार अन्त्य अल् नकार के स्थान पर 'रु' करने पर—'का रु कान'—इस स्थिति में 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्यतु वा' से 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण ककारोत्तरवर्ती आकार का अनुनासिकत्व और अनुनासिक भाव में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से 'रु' के पूर्ववर्ती वर्ण आकार के बाद अनुस्वार करने पर 'काँरुकान्–कांरुकान्—इन स्थितियों में 'रु' के उष्कार' की 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप—'काँर्कान्-काँर्कान्—इन स्थितियों में रेफ के स्थान पर 'खरवसान-योर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'काँःकान—कांः कान्—इन दशाओं में 'विसर्जनीयस्यः सः से विसर्ग के स्थान पर सकार की प्राप्ति, किन्तु विसर्ग के बाद कवर्ग होने से 'कुप्वो ⌣ पों स्तः' से उसका बाध और ⌢ क जिह्वा-मूलीय की प्राप्ति, किन्तु 'संपुंकानां सो वक्तव्यः' वार्तिक के अनुसार विसर्ग के स्थान पर 'सकार' करने पर 'काँस्कान्—कांस्कान्'—प्रयोग व्युत्पन्न होता है।

१०१. छे च ६।१।७३

छे (स० ए०) च (अव्यय)

[छकार आने पर भी (तुक् का आगम होता है)।]

ह्रस्वरूप छे तुक् (आगमः स्यात् संहितायाम्) शिवच्छाया।

हिन्दी-अनुवाद—बाद में छकान आने पर ह्रस्व के स्थान पर तुक् (आगम होता है, यदि सन्धि अभीष्ट हो)। (यथा—) शिवच्छाया।

व्याख्या—यह तुकागमविधायक सूत्र है। इसमें 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' सूत्र से 'ह्रस्वस्य और तुक् तथा 'संहितायाम्' अधिकार सूत्र से 'संहितायाम्' की अनुवृत्ति की जाती है। फलतः इसका सूत्रार्थ हुआ—यदि ह्रस्व के पश्चात् छकार की प्राप्ति हो, तो ह्रस्व के स्थान पर संहिता में तुक् का आगम होगा। यथा—

साधुत्व-प्रक्रिया

शिवच्छाया:—'शिव+छाया'— इस अवस्था में 'छे च' सूत्र से वकारो त्तरवर्ती 'अकार' ह्रस्व के पश्चात्' छाया के 'छकार' के आने पर 'आद्यन्तौ 'टकितौ' के सहकार से कित्—'तुक्' आगम का स्थानी 'अ' के अन्तावयवत्व रूपमित्रवत्प्रवृत्ति—'शिव तुक् छाया'—इस दशा में 'तुक्' के 'ककार' 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' भी 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोप से लोप करने पर—'शिवत् छाया'—इस स्थिति में 'स्तोः श्चुना श्चुः' 'तकार' के स्थान पर 'चकार' तथा 'झलांजशोऽन्ते' से 'दकार' प्राप्त होगा समकालिक प्राप्ति में 'पूर्वत्रासिद्धम्' के अनुसार 'स्तोः श्चुना श्चुः'— त्रिपादी के असिद्ध होने पर दकार जश करने पर—'शिवद्छाया'–इस स्थिति पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' से जकार श्चुत्व और 'खरिच' से दकार को 'तकार चर्त्व की समकालिक प्राप्ति में पुनः 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'खरिच'---त्रिपादी असिद्ध में 'स्तोः श्चुना श्चुः' के अनुसार जकार करने पर—'शिव च् छाया'— इस दशा में पुन, 'खरिच' से 'चकार' करने पर 'शिवच् छाया'—इस द में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'शिवच्छाया प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

१०२. पदान्ताद्वा ६।१।७६

पदान्तात् (पं० ए०) वा (अव्यय)

[पदान्त (दीर्घ) होने पर भी विकल्प से (तुगागम होगा)।]

दीर्घात्पदान्ताच्छे परे तुग्वा। लक्ष्मीच्छाया लक्ष्मीछाया

—इति हल् सन्धिः—

हिन्दी-अनुवाद—दीर्घ पदान्त को बाद में छकार आने पर विकल्प से तुक् (आगम) होगा।

(यथा) लक्ष्मीच्छाया—लक्ष्मीछाया।

व्याख्या—यह वैकल्पिक तुगागमविधायक सूत्र है। इसमें 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक्' 'छे च' से 'छे' 'दीर्घात्' से 'दीर्घात्' की अनुवृत्ति होती है। प्रकृत सूत्र में 'पदान्तात्' में प्रयुक्त पञ्चमी के कारण 'तस्मादित्युत्तरस्य', के अनुसार तुगागम उत्तरवर्ती छकार के स्थान पर औ 'छे' में प्रयुक्त सप्तमी के कारण 'तस्मिनिति निर्दिष्टे पूर्वस्य' के अनुसार पदान्त दीर्घ के स्थान पर

प्राप्त होने के कारण तुल्यबलविरोध की स्थिति में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' तथा 'उभय-निर्देशे पञ्चमीनिर्देशोबलीय:' के अनुसार पञ्चमी का विधान बलीय होने से 'तस्मादित्युत्तरस्य' के अनुसार पञ्चम्यन्त दीर्घ के स्थान पर तुक् होगा। पञ्चम्यन्त का षष्ठी में विपरिणाम कर दिया जाता है—"दीर्घ-स्यायं तुक् न तु छस्य सेनासुराच्छायेति ज्ञापकात्।" (सिद्धान्तकौमुदी)

प्रकृत सूत्र के अनुसार दीर्घ पदान्त के स्थान पर बाद में छकार आने पर विकल्प से 'तुक्'—आगम होता है। जैसे—

साधुत्व प्रक्रिया

लक्ष्मीच्छाया-लक्ष्मीछाया—'लक्ष्मी + छाया'—इस स्थिति में 'पदान्ताद्वा' सूत्र से मकारोत्तरवर्ती दीर्घ 'ईकार' के स्थान पर पश्चात् छाया का 'छकार' आने पर विकल्प से 'तुक-कित्' आगम की 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार से कित्वेन अन्तवयव स्वरूप मित्रवत् प्रवृत्ति—'लक्ष्मी तुक् छाया— इस दशा में तुक् के 'ककार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोप:' से लोप करने पर 'लक्ष्मी त् छाया'— इस स्थिति में 'स्तो श्चुनाश्चु' से तुक् के तकार के स्थान पर छकार परे रहते चकार तथा 'झलांजशोऽन्ते' से दकार की एकत्र समकालिक प्राप्ति होने पर 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'स्तोश्चुनाश्चु:'—त्रिपादी की असिद्धि और दकार जशत्व आदेश होने पर 'लक्ष्मी द् छाया'—इस दशा में अब 'स्तो:श्चुनाश्चु' श्चुत्व—'लक्ष्मी ज् छाया—इस अवस्था में 'खरिच' से जकार के स्थान पर चकार करने पर 'लक्ष्मी च् छाया'—इस दशा में ''अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण सयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'लक्ष्मीच्छाया' रूप बनेगा और वैकल्पिक तुगाभाव में 'लक्ष्मीछाया' रूप व्युत्पन्न होगा।

हल्-सन्धि समाप्त

———

अथ विसर्ग सन्धि

(अब विसर्ग सन्धि का शुभारम्भ)

१०३. विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४

विसर्जनीयस्य (ष० ए०) सः (प्र० ए०)

[विसर्ग के स्थान पर सकार (होगा)।]

खरि (विसर्जनीयस्य सः स्यात्)। विष्णुस्त्राता।

हिन्दी अनुवाद–यदि खर् प्रत्याहार के वर्ण बाद में हो, (तो विसर्ग का 'स्' होता है।) (जैसे—) विष्णुस्त्राता।

व्याख्या—यह विसर्ग के स्थान पर सत्वविधायक सूत्र है। इसमें 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः से 'खर' की अनुवृत्ति होती है। इसके अनुसार बाद में खर् होने पर विसर्ग के स्थान पर 'सकार'—आदेश होता है। यथा—

साधुत्व प्रक्रिया

विष्णुस्त्राता—'विष्णुः+त्राता'—इस स्थिति में 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से विसर्ग के स्थान पर त्राता के तकार रूप खर् बाद में होने से सकार होने पर 'विष्णु स् त्राता'—इस दशा में 'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर 'रु' की की प्राप्ति किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' से पूर्व त्रिपादी 'ससजुषो रुः' की दृष्टि में 'विसर्जनीयस्य सः'—पर त्रिपादी की असिद्धि में 'रुत्व' नहीं हो सकता, अतः 'विसर्जनीयस्य सः' के अनुसार 'सकार' ही रहेगा, अब 'अज्झीनं (व्यञ्जनं)परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'विष्णुस्त्राता' पद व्युत्पन्न हुआ।

१०४. वा शरि ८।३।३६

वा (अव्यय) शरि (ष० ए०)

[शर् आने पर विकल्प से (विसर्ग ही रह जाएगा)।]

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा। हरिः शेते—हरिश्शेते।

हिन्दी अनुवाद—बाद में शर्-प्रत्याहार के वर्ण होने पर विकल्प से विसर्ग को विसर्ग ही रह जाता है। (जैसे—) हरिः शेते—हरिश्शेते।

व्याख्या—यह 'विसर्जनीयस्य सः' का अपवाद सूत्र है, इसमें उक्त सूत्र स विसर्जनीयस्य' की और 'शर्परे विसर्जनीयः' से विसर्जनीयः की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। तब इसका सूत्रार्थ होता है–यदि विसर्ग के बाद शर् आवे, तो विकल्प विसर्ग के स्थान पर विसर्ग ही रह जायगा। जैसे—

साधुत्व प्रक्रिया

हरिः शेते—हरिश्शेते—'हरिः+शेते'—इस स्थिति में 'विसर्जनीयस्य सः' के अनुसार बाद में शेते का शकार खर् होने पर विसर्ग के स्थान पर सकार प्राप्त होता है, किन्तु यतः शकार शर् भी है अतः 'वाशरि' से उसका निषेध होकर विकल्प से विसर्ग के स्थान पर विसर्ग ही रह जाता है, और 'हरिः शेते' प्रयोग बनता है, किन्तु विसर्गाभाव पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' से सकार करने पर 'हरि स् शेते'—इस दशा में 'स्तोः श्चुनाश्चुः से सकार के स्थान पर शकार आदेश करने पर 'हरि श् शेते'—इस दशा 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यं' से वर्ण संयोग करने पर 'हरिश्शेते' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

१०५. ससजुषो रुः ८।२।६६

ससजुषः (ष० ए०) रुः (प्र० ए०)

[सकार और सजुष् के स्थान पर 'रु' (आदेश होगा)]

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुः स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—पदान्त सकार और सजुष के स्थान पर 'रु' आदेश होता है।

व्याख्या—यह रुत्व विधायक सूत्र है इसमें 'पदस्य' सूत्र से 'पदस्य' की अनुवृत्ति होती है। वह पद सकार और सजुष् का विशेष्य है, अतः तदन्तविधि होकर सकारान्त और सजुषान्त पद को 'रुत्व' होता है। किन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य अल् को ही रुत्व होगा। इस प्रकार इसके अनुसार पदान्त सकार और सजुष् को रुत्व होगा। जैसे—

(i) शिवस्+अर्च्यः —इस स्थिति में शिवस् पद सकारान्त है, अतः प्रकृत सूत्र से 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से 'सकार' के स्थान पर 'रुः' आदेश होता है 'शिव+रु'+अर्च्यः'। इसी प्रकार—

(ii) 'सजूऋर्षिभिः तथा सजूर्देवेभिः' आदि प्रयोगों में 'सजुष्' के अन्त्य अल् 'षकार' के स्थान पर भी अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से प्रकृत 'ससजुषो रुः'

सूत्र से 'रु' की प्राप्ति होती है। 'रु' के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप करने पर 'अज्झीनं (व्यंजनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'सजूर्ऋषिभिः' तथा 'सजूर्देवेभिः' प्रयोग व्युत्पन्न होते हैं। ध्यातव्य है, कि 'सजुष' पद सपूर्वक 'जुष्' धातु 'क्विप्'—प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।

१०६. अतो रो प्लुतादप्लुते ६।१।११३

अतः (पं० ए०) रोः (ष० ए०) अप्लुतात् (पं० ए०) अप्लुते (स० ए०)

[अप्लुतात् अतः रोः·······, अप्लुते—अप्लुत् (अकार बाद में होने पर अप्लुत् अकार से (परवर्ती) 'रु' को ('उ' हो जाता है)]।

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति। शिवोऽर्च्यः।

हिन्दी अनुवाद—यदि अप्लुत अत् (ह्रस्व अकार बाद में हो, तो अप्लुत अत् (ह्रस्व अकार) से परवर्ती 'रु' को 'उ' हो जाता है। (जैसे—) शिवोऽर्च्यः।

व्याख्या—यह उत्व विधायक सूत्र है। इसमें 'ऋतु उत्' से 'उत्' (ह्रस्वत्व) की और 'एङः पदान्तादति' से 'अति' की अनवृत्ति करके सूत्रस्थ अप्लुते के साथ अन्वित करना पड़ता है। इसके अनुसार यदि अप्लुत (ह्रस्व) नकार के पश्चात् वर्ती 'रु' के पश्चात् अप्लुत (ह्रस्व) अकार की प्राप्ति हो, तो 'रु' के स्थान पर 'उ' आदेश हो जाएगा। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

शिवोऽर्च्यः—'शिवस् अर्च्यः'—इस स्थिति में 'ससजुषोः रुः' सूत्र से सकार के स्थान पर 'रु' करके पर 'शिव+रु+अर्च्यः'—इस स्थिति में 'रु' के उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप, 'शिव+र्+अर्च्यः'—इस दशा में 'भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि' से रेफ के स्थान में 'यकार' और 'अतोरोरप्लुतादप्लुते' से 'उकार' की समकालिक प्राप्ति में 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'अतोरोरप्लुतादप्लुते' रूप सपादसप्ताध्यायी की दृष्टि मे 'भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि' रूप त्रिपादी के असिद्ध हो जाने पर उत्व का विधान और यत्व का निषेध करने पर 'शिव उ अर्च्यः'—इस दशा में वकारो-त्तरवर्ती 'अकार और उकार' के मध्य 'आद्गुण' से गुण और उकार तथा अर्च्यः के अकार के मध्य 'इको यणचि' से यण् की समकालिक प्राप्ति हो रही है, अतः

इनमें प्रथमतः कौन सी सन्धि होगी ? इस आशंका का 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' से समाधान और परवर्ती विधि गुण का विधान, किन्तु 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सूत्र से अपवाद और परवर्ती होने से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश की प्राप्ति, किन्तु 'नादिचि' से उसका निषेध और अन्ततः 'आद्गुणः' 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'ओ' गुण एकादेश करने पर 'शिव्+ओ+अर्च्यः–इस स्थिति में वकारोत्तरवर्ती पदान्त 'ओ' के पश्चात् अर्च्यः के ह्रस्व अ आने पर 'एङः पदान्तादति' से पूर्व रूपैकादेश अर्थात् 'ओ' एकादेश करने पर 'शिव् ओ र्च्यः':–इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग और अकार के स्थान पर परम्परया अवग्रह का प्रयोग करने पर 'शिवोऽर्च्यः'—प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

१०७. हशि च ६।१।११४

हशि (स० ए०) च (अव्यय)

[हश् आने पर भी............(उत्व होगा)।]

तथा (अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्याद्धशि)। शिवोवन्द्यः

हिन्दी अनुवाद—वैसे ही (अप्लुत अकार से परवर्ती 'रु' को बाद में हश् आने पर भी 'उ' होगा)।

व्याख्या—यह उत्वविधायक सूत्र 'अतोरोरप्लुतादप्लुते' का पूरक है। इसमें 'अतो रो............' से 'अप्लुतात् अतः और रोः की तथा 'ऋत उत्' से 'उत्' की अनुवृत्ति होती है। इसके अनुसार यदि अप्लुत अकार से परवर्ती 'रु' के पश्चात् हश् प्रत्याहार के वर्ण आवें, तो भी 'रु' के स्थान पर 'उ' आदेश होगा। यथा—

साधुत्व प्रक्रिया

शिवोवन्द्यः —'शिवस्+वन्द्यः'–इस स्थिति में 'ससजुषोरुः' से 'स्' को 'रु' करने पर 'शिव+रु+वन्द्यः'–इस स्थिति में वकारोत्तरवर्ती अप्लुत (ह्रस्व) अकार से परवर्ती 'रु' के स्थान में बाद में वन्द्यः का 'वकार' हश् आने पर 'हशि च' सूत्र से उत्व 'शिव+उ+वन्द्यः' 'आद्गुण' से स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'ओ' गुणैकादेश करने पर—'शिव ओ वन्द्यः'—इस स्थिति में 'अज्झीनं व्यञ्जनं परेण् संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'शिवोवन्द्यः' रूप व्युत्पन्न हागा।

१०८. भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७

भो (अव्यय), भगो (अव्यय), अघो (अव्यय), अपूर्वस्य (ष० ए०) यः (प्र० ए०) अशि (स० ए०)

[बाद में अश् आने पर भोपूर्वक, भगोपूर्वक, अघोपूर्वक और अवर्णपूर्वक (रु को) 'य्' होगा)।]

एतत् पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि। देवाइह, देवायिह।

भोस्, भगोस्, अघोस् इति सान्ता निपाताः तेषां रोर्यत्वे कृते—

हिन्दी अनुवाद—एतत्पूर्वक (भो-भगो-अघो-अपूर्वक) 'रु' को बाद में अश् होने पर यकार (होगा)। (जैसे)—देवायिह—देवाइह, भोस्-भगोस् और अघोस् सान्त (सकारान्त) निपात है, उनके 'रु' को यत्व करने पर—(अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है)।

व्याख्या—यह यत्वविधायक सूत्र है। इस सूत्र से प्रयुक्त 'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य' पद द्वन्द्वान्त (द्वन्द्व समस्त पद) है, जिसका विग्रह होगा—भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्चेति भो भगो अघो आः, भो भगो अघोआः पूर्वे यस्मात् स भो भगो अघो अपूर्वः, तस्य। 'द्वन्द्वान्तेश्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'—इस नियम के अनुसार 'पूर्व'—पद प्रत्येक पद के साथ जुड़ जायेगा, फलतः भो पूर्वक आदि अर्थ प्राप्त होंगे इसमें 'रोः सुपि' से 'रोः' की अनुवृत्ति होती है। जो अपूर्वस्यादि का विशेष्य होता है। इसके अनुसार भोपूर्वक भगो पूर्वक अघो पूर्वक और अपूर्वक 'रु' के स्थान पर बाद में अश् आने पर 'य' हो जाता है। जैसे—

साधुत्व-प्रक्रिया

(१) देवायिह—देवाइह—'देवास् + इह'—इस दशा में 'ससजुषो रुः' से 'स' को रुत्व—'देवा रु इह'—इस स्थिति में प्रकृत सूत्र 'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि' से 'रु' को बाद में इह का 'इकार'—अश् होने से यत्वादेश 'देवाय इह'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'देवायिह' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

साथ ही 'देवा य् इह'—इस दशा में लोपः शाकल्यस्य' से विकल्प से 'य्' का लोप करने पर 'देवाइह' रूप बनेगा। 'देवाइह'—इस दशा में वकारोत्तरवर्ती आकार और इह के इकार के मध्य 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त होगा, किन्तु

पूर्वत्रा सिद्धम्' के अनुसार आद्गुण: सपादसप्ताध्यायी की दृष्टि में 'लोप: शाकल्यस्य' त्रिपादी सूत्र की असिद्धि में 'गुण' नहीं हो सकेगा, अतः 'देवाइह' रूप ही रहेगा।

(२) भोय् देवाः—'भोस् + देवा:'—इस स्थिति में 'ससजुषोरुः' से सकार के स्थान पर 'रु' आदेश 'भो रु देवा:'—इस स्थिति में प्रकृत सूत्र 'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि' से 'देवा:' के 'दकार'—अश् के परे रहते 'रु' के स्थान पर यत्व करने 'भोय् देवा:' रूप बनेगा। इसी प्रकार 'भगोय् नमस्ते' 'अघोय याहि' आदि बनेंगे। और अब अग्रिम सूत्र 'हलि सर्वेषाम्' की प्रवृत्ति होगी—

१०९. हलि सर्वेषाम् ८।३।२२

हलि (स० ए०) सर्वेषाम् (स० ब०)

[सबके (मत में) हल् (व्यञ्जन) होने पर (यत्व का लोप होगा)]

भो भगो अघो अपूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्हलि सर्वेषां (मतेन)। भो देवा:, भगो नमस्ते, अघो याहि।

हिन्दी अनुवाद—सभी (वैयाकरणों) के मत में भो, भगो, अघो और अपूर्व यकार का बाद में हल् आने पर लोप हो जायगा। (यथा–) भो देवाः, भगो नमस्ते (और) अघो याहि।

व्याख्या—यह यलोपविधायक सूत्र है। इसमें 'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्व योऽशि' से भो-भगो-अघो अपूर्वस्य की 'व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' से 'यस्य' की और 'लोपः शाकल्यस्य' से 'लोप' की अनुवृत्ति और 'पदस्य' अधिकार सूत्र में 'पदस्य' की अधिकारानुवृत्ति होती है, तथा तदन्तविधि होकर 'यान्त पदस्य' अर्थ प्राप्त होता है। इसके अनुसार भो-भगो-अघो-अपूर्वक सम्पूर्ण यान्त पद का बाद में हल् (व्यञ्जन) आने पर लोप होगा, किन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' की सहायता से अन्त्य अल् 'य' का ही लोप होगा। यथा—

साधुत्व-प्रक्रिया

(१) भो देवा:—'भोस् देवा:' इस स्थिति में 'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर 'रु' आदेश 'भो रु देवा:' इस दशा में 'रु' करने पर 'भो रु देवा:' इस अवस्था में 'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि' से 'रु' के स्थान पर 'दकार'—अश् परे रहते 'य' आदेश–'भो य् देवा:'—इस अवस्था में 'य' के बाद 'दकार'—

हल् आने के कारण 'हलि सर्वेषाम्' से 'य्' का लोप करने पर 'भो देवा:' रूप व्युत्पन्न हुआ।

(२) भगो नमस्ते—'भगोस्+नमस्ते' इस अवस्था में 'ससजुषोरु से 'स्' के स्थान पर 'रु' 'भगो रु नमस्ते'—इस दशा में 'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि' से बाद में 'नकार' अश् होने से 'रु' के स्थान पर 'य' करने पर 'भगो य् नमस्ते'—इस अवस्था में 'य्' के बाद 'नकार'—हल् होने से 'य' का लोप करने पर भगो नमस्ते रूप व्युत्पन्न होगा।

(३) अघो याहि—'अघोस्+याहि'—इस अवस्था में 'ससजुषोरुः' से सकार के स्थान पर 'रु'—'अघो रु याहि'—इस अवस्था में 'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि' से 'रु' के स्थान पर बाद में 'यकार'—अश् परे रहते 'यकार' आदेश—'अघोय् याहि' इस स्थिति में यकार के बाद 'यकार-हल्' आने पर पूर्व यकार का लोप करने पर 'अघो याहि' रूप व्युत्पन्न होगा।

ध्यातव्य है कि 'भोस्' का साधारण आह्वान, भगोस् का सम्मान पूर्ण आह्वान, तथा अघोस् का अनादरपूर्वक आह्वान में प्रयोग होता है। भोस् 'भवत्', भगोस् 'भगवत्', अघोस् 'अघवत्' से निष्पन्न और क्रमशः 'भवन्', भगवन्, 'अघवन्' सम्बोधन पदों के स्थानापन्न रूप हैं।

११०. रोऽसुपि ८।२।६९

रोः (ष० ए०) असुपि (स० ए०)

['सुप्' बाद में न हों, तो (अहन् के स्थान में) 'रेफ का आदेश (रेफ) (होता है)।]

अहनो रेफादेशो न तु सुपि। अहरहः, अहर्गणः।

हिन्दी अनुवाद—अहन् के पश्चात् यदि सुप् न हो, तो अहन् के स्थान पर रेफ आदेश (होगा) (यथा—) अहरहः, अहर्गणः।

व्याख्या—यह रत्वविधायक सूत्र है। इसमें अहन् सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ती है, यह 'अहन्'—पद लुप्तषष्ठीक है, अतः इसका अर्थ 'अहन' होगा। इसके अनुसार सम्पूर्ण 'अहन्' पद को बाद में सुप् न (असुप्) होने से रेफ आदेश होता है, किन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' के सहायता से अन्तिम अल् 'न' के स्थान पर रेफ होता है। यथा—

घुत्व प्रक्रिया

(१) अहरहः —'अहन्'—पद का नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व-अहन्,-'अहन्'–
स्थिति में 'रोऽसुपि' से :अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से नकार के स्थान पर
सुप् परे रहते रेफादेश 'अहर्, अहर्' इस दशा में द्वितीय 'अहर्' के 'र्' की
अभाव में 'विरामोऽवसानम्' से अवसान संज्ञा और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः'
विसर्ग करने पर 'अहर्अहः'—इस दशा में 'अज्झीनं (यञ्जनं) परेण
संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'अहरहः' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

(२) अहर्गणः —अह्नां गणः इति विग्रहे समास करते पर 'अहन् + गणः'–
दशा में 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से 'रोऽसुपि' सूत्र से अहन् के नकार को
में असुप् होने से रेफादेश–'अहर् गणः'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं)
ण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'अहर्गणः' रूप व्युत्पन्न होगा।

११. रोरि ८।३।१४

रः (ष० ए०) रि (स० ए०)

[रकार (रेफ) बाद में आने पर रेफ का (लोप होता है।)]

हिन्दी अनुवाद—रेफ का रेफ परे रहते लोप (हो जाता है)।

व्याख्या—यह रेफ लोप विधायक सूत्र है। इसमें 'ढो ढे लोपः' सूत्र से
नुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार यदि 'र' के पश्चात् 'र' की प्राप्ति
तो पूर्व 'र्' का लोप हो जायेगा। यथा–'पुनर् रमते'–इस स्थिति में
पूर्वोत्तरवर्ती 'र' के पश्चात् रमते का 'र्' आने पर प्रकृत सूत्र से पूर्व 'र्'
लोप करने पर 'पुन रमते'–रूप बनने पर अग्रिम सूत्र की प्रवृत्ति होगी।

१२. ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११

[ढकार और रेफनिमित्तक ढकार और रेफ परे रहते पूर्व अण् के स्थान
दीर्घ (आदेश हो जाता है।)]

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणः दीर्घः। पुना रमते, हरीरम्यः शम्भू
जते।

हिन्दी अनुवाद—ढ और रेफ—लोप के निमित्तभूत ढ और रेफ यदि बाद
हों, तो पूर्व अण् को दीर्घ हो जाता है। (यथा—) पुना रमते, हरी रम्यः
म्भू राजते।

व्याख्या—यह भी दीर्घ विधायक सूत्र है। इसके अनुसार 'ढ् और र्' के लोप हो जाने पर 'ढ् और र्' के पूर्व स्थित अण् को दीर्घादेश हो जाता है। ध्यातव्य है, कि 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' की वृत्ति में 'अत्रैवाण् परेण णकारेण' वाक्यांश से उक्त सूत्र की परिधि परवर्तीणकार तक निर्धारित की गयी थी और निम्नांकित कारिकानुसार यहाँ अण् पूर्ववर्ती णकार अर्थात् 'अ इ उ ण्' के णकार तक ही सीमित होगा—

"परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु॥"

इस प्रकार स्पष्ट है, कि 'ढ् और र्'—लोपनिमित्तक 'ढ् और र्' के परे रहते 'ढ् और र्' से पूर्ववर्ती 'अ, इ, उ, के स्थान पर दीर्घादेश अर्थात् क्रमशः 'आ, ई, ऊ' होगा। (यथा—)

साधुत्व प्रक्रिया

(१) पुना रमते—'पुनस्+रमते'—इस दशा में 'ससजुषो रुः' से स् के स्थान पर 'रु'—'पुनः रु रमते'—इस स्थिति में 'रु' के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप 'पुन र् रमते'—इस दशा में 'रो रि' सूत्र से रेफ परे रहते पूर्ववर्ती 'र्' का लोप 'पुन रमते'—इस स्थिति में रलोपनिमित्तक रमते के 'रेफ' के परे रहते प्रकृत 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्र से पूर्ववर्ती अण् नकारोत्तरवर्ती 'अकार' के स्थान पर 'आकार' दीर्घ करने पर 'पुन् आ रमते' इस स्थिति में "अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'पुना रमते' रूप सिद्ध हुआ।

(२) हरी रम्य—'हरिस्+रम्यः'—इस दशा में 'ससजुषोरुः' से 'स' को 'रु' करने पर 'हरि रु रम्यः'—इस स्थिति में 'रु' के 'उकार' की उपदेशऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'हरि र् रम्यः'— इस दशा में 'रो रि' से पूर्ववर्ती 'र्' का लोप 'हरि रम्यः'—इस दशा में प्रकृत 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्र से रेफलोहनिमित्तक रेफ से पूर्ववर्ती अण् रेफोत्तरवर्ती 'इकार' के स्थान पर 'ईकार' दीर्घादेश 'हर् ई रम्यः'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'हरी रम्यः' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

(३) शम्भू राजते—'शम्भुस् राजते'—इस स्थिति में 'ससजुषो रुः' से 'स्' के स्थान पर 'रु', 'शम्भु रु राजते' इस दशा में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'रु' के 'उकार' की उत्संज्ञा, तस्य लोपः से लोप 'शम्भु र् राजते'—इस दशा

में प्रकृत 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्र से 'र्' के पूर्ववर्ती मकारोत्तरवर्ती 'उकार'—अण् के स्थान पर 'ऊकार' दीर्घादेश 'शम्भू ऊराजते'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'शम्भू राजते' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

अणः किम् ? तृढः वृढः।

हिन्दी अनुवाद—(सूत्र में) अण् के स्थान पर (ही दीर्घत्व का प्राविधान) क्यों (किया गया) ? (उत्तरस्वरूप कहा जा सकता है, कि) 'तृढः (और) वृढः' (की सिद्धि के लिए ही अण् के दीर्घत्व की व्यवस्था है)।

व्याख्या—'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्र में 'अणः'—पद के प्रयोग पर आशङ्का की गयी, कि इसकी क्या आवश्यकता है ? यदि 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घः' मात्र सूत्र होता, तो क्या अनौचित्य या क्षति होती ? इत्यादि आशङ्काओं के उत्तर में तर्क दिया जा सकता है, कि उक्त सूत्र में 'अणः'—अनुबन्ध अण्-भिन्न स्थानों में दीर्घत्व के निषेधार्थ आवश्यक था। यदि 'अणः'—अनुबन्ध न होता, तो अण्भिन्न स्थानों में भी दीर्घत्व होने लगता, और 'तृढः तथा वृढः' रूप अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग बनने लगते। ध्यातव्य है, कि 'तृढः और वृढः' का पूर्व 'ऋकार' यतः पूर्ववर्ती अण् नहीं है, यद्यपि परवर्ती अण् है, तथापि यह प्रकृत सूत्र पूर्ववर्ती 'अण्' तक ही सीमित है, अतः 'ऋ' प्राकरणिक पूर्ववर्ती अण् नहीं है, अतः उसके स्थान पर दीर्घ आदेश नहीं हुआ।

यद्यपि 'पुना रमते'—आदि प्रयोग 'अणः'—अनुबन्ध बिना भी बन जाते, तथापि 'अणः' बिना 'तृढः और वृढः' में 'ऋकार' के दीर्घत्व का निषेध नहीं हो सकता था।

अतः 'तृढः और वृढः' में 'ऋकार' के दीर्घत्व के निषेधार्थ 'अणः'—अनुबन्ध आवश्यक था।

मनस् रथ इत्यत्र रुत्वे कृते 'हशि च' इत्युत्वे 'रो रि' इति लोपे च प्राप्ते—

हिन्दी अनुवाद—'मनस्+रथः'—इस स्थिति में 'रु' करने पर 'हशि च' से उत्व और 'रोरि' से लोप होने पर—(अग्रिम सूत्र की प्रवृत्ति होती है)।

व्याख्या—'मनस्+रथः'—इस स्थिति में 'ससजुषोरुः' से 'रु' आदेश 'मनरु रथः'—इस दशा में 'हशि च' 'रु' के स्थान पर 'उ' और 'रु' के 'उकार'

की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप करने पर 'मन र् रथः'—इस दशा में 'रो रि' से पूर्व 'र्' का लोप एक साथ प्राप्त हो रहा है। अतः इन दोनों में से कौन सा विधान स्वीकार किया जाय ? इसके निर्णयार्थ अग्रिम सूत्र का प्राविधान करना पड़ा—

११३. विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२

[विप्रतिषेध होने पर परकार्य (होगा)।]

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति 'रो रि' इत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः।

हिन्दी अनुवाद—तुल्यबलविरोध होने पर परकार्य होगा। इस प्रकार लोप-प्राप्ति में 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से 'रोरि' सूत्र के असिद्ध हो जाने पर 'उत्व' ही (होता है)। (यथा—) मनोरथः।

व्याख्या—यह विप्रतिषेध सूत्र है। 'वि और प्रति' उपसर्ग पूर्वक √सिध् से 'घञ्' प्रत्यय से व्युत्पन्न पद 'विप्रतिषेध' का अर्थ है—परस्पर विरोध या तुल्यबल विरोध। अन्यत्र लब्धावकाश दो शास्त्रों (विधानों) की एक लक्ष्य में (एकत्र) समकालिक प्राप्ति को व्याकरण की पारिभाषिक पदावली में 'तुल्य-बल विरोध' की संज्ञा से अभिहित करते हैं—"अन्यत्र लब्धावकाशयोः शास्त्र-योरेकस्मिन् लक्ष्ये समावेशः तुल्यबलविरोधः।" दूसरे शब्दों में दो शास्त्रों (सूत्रों) की एकत्र समकालिक प्राप्ति की स्थिति में तो उनमें से जिस सूत्र की अन्यत्र कहीं प्रवृत्ति नहीं हुई है, उसकी प्रवृत्ति होगी, जिससे वह व्यर्थ न हो सके। अतः व्यर्थता की दृष्टि से उसकी प्रवृत्ति आरक्षित होगी और उसी की प्रबलता मान्य होगी। इस प्रकार दोनों में तुल्यबल विरोध नहीं हुआ।

किन्तु यदि दोनों की प्रवृत्ति अन्यत्र हो चुकी है, और दोनों की व्यर्थता का प्रश्न नहीं है, तो दोनों में 'तुल्यबलविरोध' माना जायगा और उनके विनिगमनार्थ ही प्रस्तुत सूत्र का विधान किया गया है। उदाहरणार्थ—

'मनरुरथः'—इस स्थिति में 'हशि च' सूत्र से 'उत्व' और 'रोरि' से 'रु (र)' के लोप के एकत्र एक लक्ष्य में समकालिक प्राप्ति होने पर यतः 'शिवो वन्द्य' में 'हशि च' की और 'पुना रमते' आदि प्रयोगों में 'रो रि' की प्रवृत्ति हो चुकी है अतः इनमें 'तुल्य बल विरोध' हुआ।

अब इनके विनिगमनार्थ 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र की आवश्यकता पड़ी।

इस सूत्र में यह प्राविधान किया गया है, कि अन्यलब्धावकाश दो सूत्रों में 'तुल्यबल विरोध' की स्थिति में परवर्ती कार्य मान्य होगा। यथा—'मनोरथः' प्रयोग में 'हशिच' और 'रो रि' के तुल्यबल विरोध में परवर्ती सूत्र 'रोरि' का परकार्य ही स्वीकार्य है, 'हशिच' वारित हो जायगा। इस प्रकार प्रकृत सूत्र से लोप प्राप्त होगा, किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से 'रोरि' के असिद्ध हो जाने से 'उत्व' ही होगा।

कुछ वैयाकरण 'विप्रतिपेधे परं' को एक पद मान कर पदच्छेद करते हैं—'विप्रतिषेधे अपरम्।' और इस प्रकार 'अपरम्' का अर्थ इष्ट अर्थात् 'उत्व' करते हैं। इस प्रकार 'मनोरथः' में अभीष्ट 'उत्व' 'हशिच' से इस पदच्छेद से भी विहित होता है। उदाहरणार्थ—

साधुत्व-प्रक्रिया

मनोरथः —'मनस्+रथः'—इस स्थिति में 'ससजुषोरुः' सूत्र से 'स्' के स्थान पर 'रु'—'मनरुरथः' इस दशा में 'रु' के उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप—'मनर्रथः' इस दशा में 'शिवो वन्द्यः' प्रयोग में लब्धावकाश 'हशिच' से 'उत्व' और 'पुनारमते' आदि में लब्धावकाश 'रोरि' से पूर्व 'र' का लोप एक साथ प्राप्त है, अतः समकालिक 'उत्व और लोप'—इन दोनों में तुल्यबल विरोध की स्थिति में कौन सी विधि स्वीकार की जाय ?—इस आशङ्का का 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र से परकार्य 'रोरि' से प्राप्त लोप का विनिगमन करने पर पूर्व 'र' का लोप प्राप्त होता है, किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' से सपादसप्ताध्यायी 'हशिच' की दृष्टि में त्रिपादी 'रोरि' के असिद्ध होने पर उत्व विहित होने पर 'मन उरथः'—इस अवस्था 'आद्गुणः' से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'ओ' गुणादेश करने पर 'मन् ओ रथः' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से पर स्वर वर्ण संयोग करने पर 'मनोरथः' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

११४. एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ् समासेहलि ६।१।१३२

एतत्तदोः (ष० द्वि०) सुलोपः (प्र० ए०) अकोः (प्र० द्वि०) अनञ् समासे (स० ए०) हलि (स० ए०)

[नञ् (तत्पुरुष) समास का प्रकरण न हो और बाद हल् (व्यञ्जन) वर्ण हो, तो ककाररहित एतत् और तत् के 'सु' का लोप (हो जायगा)।]

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपः स्याद्धलि न तु नञ्समासे। एषविष्णुः, सशम्भुः।

हिन्दी अनुवाद—यदि नञ्समास का प्रकरण न हो और बाद में हल् (प्रत्याहार) के वर्ण आवें, तो ककाररहित 'एतत् और तत्' के 'सु' का लोप (होगा)। (यथा—) एष विष्णु, स शम्भु।

व्याख्या—यह सुलोपविधायक सूत्र है। इसमें तीन अनुबन्ध हैं—

(१) 'अकोः' (ककारराहित्य)।
(२) 'अनञ् समासे' (अनञ्त्व—नञ् प्रकरणाभाव)।
(३) 'हलि' (हल् व्यञ्जनवर्णत्व)।

इस प्रकार यदि नञ् का प्रकरण न हो और ककार रहित एतद् और तद् पदों के बाद हल् वर्णों की प्राप्ति हो, तो उनके 'सु' का लोप हो जायगा। यथा—

साधुत्व-प्रक्रिया

(१) एष विष्णु—'एषस् (सु)+विष्णुः'—इस स्थिति में यतः यहाँ नञ् का प्रकरण नहीं है, एषस (एषः) ककार रहित है और उसके बाद विष्णुः का 'वकार' हल् है, अतः प्रकृत सूत्र 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' से "स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्" सूत्र से प्राप्त 'सु'-विभक्ति प्रत्यय का लोप करने पर 'एष विष्णुः' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

(२) स शम्भुः—'सस् (सु)+शम्भुः'—इस दशा में यतः 'सः' तत् प्रातिपदिक का पुलिङ्ग प्रथमा एक वचन का रूप है, यहाँ नञ् का प्रकरण भी नहीं है, यह ककार रहित है और इसके बाद शम्भु का शकार रूप हल् है, अतः "स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्" से प्राप्त 'सु'—विभक्ति प्रत्यय का प्रकृत सूत्र 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोर नञ् समासे हलि' से लोप करने पर 'स शम्भुः' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

अकोः किम् ? एषको रुद्रः।

हिन्दी अनुवाद—सूत्र में अकोः अनुबन्ध क्यों रखा ? (उत्तर) 'एषकोविष्णु' (की सिद्धि के लिए)।

व्याख्या—आशङ्का की गयी, कि यदि सूत्र में 'अकोः' अनुबन्ध न रखते, भी 'एष विष्णु' आदि की सिद्धि सम्भव थी, अतः अनावश्यक रूप से इसकी ा आवश्यकता है ? इस आशङ्का के उत्तर में तर्क देते हैं, कि यद्यपि 'अकोः' ना भी 'एष विष्णुः' ? आदि की निर्बाध सिद्धि तो होती, किन्तु अनभीष्ट न से सुलोप का विस्तार 'एषको विष्णुः' आदि में भी होने लगता। वस्तुतः व्यय सर्वनाम्नामक च् प्राक्टेः' सूत्र से एतत् शब्द से अकच् प्रत्यय करने तकत्' प्रातिपदिक बनता है, और उससे विभक्ति कार्य करने पर 'स्वौजस्००' त्र से सु विभक्ति आती है। यदि 'अको' विशेषण न रखते, तो यहाँ भी का लोप होने लगता और अनभीष्ट 'एषक रुद्रः—रूप अशुद्ध प्रयोग व्युत्पन्न ने लगता। अतः 'एषकोरुद्रः' की सिद्धि के लिए सूत्र मे 'अकोः' अनुबन्ध रमावश्यक था। इस प्रकार 'एषकस्+रुद्रः' प्रयोग में सु का लोप न होने से सजुषोरुः' से 'रु' अनुबन्ध लोप और 'हशिच' से उत्व और 'आद्गुणः' से गुण कर 'एषकोरुद्रः' प्रयोग बनता है।

अनञ्समासे किम् ? असः शिवः

हिन्दी अनुवाद—'अनञ समासे' (अनुबन्ध) क्यों (रखा गया) ? उत्तर—) 'असः शिवः' (की सिद्धि हेतु)।

व्याख्या—पुनः द्वितीय आशंङ्का की गयी, कि 'अनञ्समासे' अनुबन्ध की क्या ावश्यकता है ? 'अनञ्' कथन बिना भी तो स शम्भुः आदि की सिद्धि सम्भव ी। इस आशङ्का के समाधानार्थ कहा जा सकता है, यद्यपि 'स शम्भुः' आदि योगों की सिद्धि अनञ् अनुबन्ध बिना सम्भव थी, किन्तु उसके पृथगुल्लेख ना 'असः शिवः' की सिद्धि नहीं हो सकती थी प्रत्युत यहाँ भी 'सु'-लोप ोकर अनभीष्ट और अशुद्ध प्रयोग 'अस शिवः' व्युत्पन्न होने लगता। फलतः सः शिवः' में 'सुलोप' के निषेधार्थ और अति व्याप्ति और अव्याप्ति दोषों परिहारार्थ पाठ आवश्यक था। इस प्रकार 'असस् शिवः' इस स्थिति में सः में नञ् तत्पुरुष होने से सुलोप न होकर 'ससजुषोरुः' से 'रुः' अनुबन्ध लोप रवसानयोर्विसर्जनीयः' विसर्ग, 'विसर्जनीयस्य सः' से पुनः सकार और ाशरि' से वैकल्पिक विसर्ग और विसर्गाभाव पक्ष में 'स्तोःश्चुना श्चुः' से चुत्व होने पर 'असः शिवः और असश्शिवः' प्रयोग बनते हैं।

हलि किम् ? एषोऽत्र।

हिन्दी अनुवाद—'हलि' (अनुबन्ध) क्यों (रखा) ? (उत्तर) 'एषोऽत्र' के सिद्ध्यर्थं)।

व्याख्या—पुनः तृतीय आशंङ्का हुई, कि यदि सूत्र में 'हलि' अनुबन्ध न होता, तो भी तो 'एष विष्णुः' आदि अभीष्ट प्रयोग निर्बाध रूप से व्युत्पन्न होते। अतः 'हलि' के उल्लेख की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में तर्क दिया जा सकता है, कि यद्यपि 'एष विष्णुः की सिद्धि 'हलि'- अनुबन्ध के उल्लेख विना भी सम्भव थी, तथापि विना इसके 'एषोऽत्र' प्रयोग न बनता प्रत्युत अशुद्ध और अनभीष्ट 'एष+अत्र=एषात्र' प्रयोग बनने लगता। अतः एषोऽत्र की सिद्धि हेतु यहाँ सुलोप के निषेधार्थ सूत्र को अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से बचाने के लिए 'हलि' अनुबन्ध पर आवश्यक था। इस प्रकार 'एषस्+अत्र' इस दशा में बाद में अकार स्वर होने पर प्रकृत सूत्र से जब सु का लोप नहीं होता, तो 'ससजुषोःरुः' से 'रु' और 'अतोरोरप्लुतादप्लुते' सूत्र से उत्व और 'आद्गुणः' से गुण और 'एङः पदान्तादति' से पूर्व रूप करने पर अभीष्ट 'एषोऽत्र' प्रयोग बनता है।

११५. सोऽचिलोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४

सः (प्र० ए०) अचि (स० ए०) लोपे (स० ए०) चेत् (अव्यय) पादपूरणम्
(प्र० ए०)

[चेत् लोपे पादपूरणं, (तर्हि) अचि सः (सस्य सोः लोपः)- अर्थात् यदि लोप होने पर ही पादपूरण (पाद पूर्ति) हो, (तो) बाद में अच् होने पर 'सः' के (सु का लोप हो जाता है)।]

स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। सोमामविड्ढि प्रभृतिम्, सैष दाशरथी रामः।

हिन्दी-अनुवाद—यदि 'सः' के पश्चात् अच् (स्वर) हो, और 'सः' के 'सु (विसर्ग) के लोप से ही पादपूर्ति हो रही हो, तो उसका लोप (सुलोप) कर दिया जाता है। (यथा-) सेमामविड्ढि प्रभृतिम् (तथा) सैष दाशरथी रामः।

व्याख्या—यह भी सुलोप विधि सूत्र है। इसमें 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासेहलि' से 'सुलोपः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। यह 'सः' एकवचनान्तरूप प्रदिपदिक स्वरूप है, अतः सौत्रत्वेन षष्ठी का लुक् होकर 'सइत्यस्य' अर्थ प्राप्त होता है। इसके अनुसार 'सः' के सु (विसर्ग) के पश्चात् अच् आने पर सु का काव्य में पादपूर्ति के लिए आवश्यक लोप हो जाता है। जैसे—

साधुत्व–प्रक्रिया

(१) **सेमामविड्ढिप्रभृतिम्**:—'सेमामविड्ढि प्रभृति य ईशिषे'—इत्यादि वैदिक छन्द 'जगती' का एक पाद है, इसके प्रत्येक पाद में १२ अक्षर (वर्ण) होते हैं। 'सः इमाम् आविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे' इत्यादि पाठ करने पर इस पाद में १३ वर्ण हो जा रहे हैं, अतः छन्दोभङ्ग से बचने और पाद पूरण के लिए विसर्ग (सु) का लोप आवश्यक है, और विसर्ग (सु) के बाद इमाम् का 'इकार' अच् भी प्राप्त है, अतः 'सस्+इमाम् अविड्ढि प्रभृतिम्'—इस स्थिति में प्रकृत सूत्र 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' से 'सः' के सु (स्) का लोप- 'स इमाम् अविड्ढि प्रभृतिम्' इस दशा में सकारोत्तरवर्ती 'अकार' और इमाम् के इकार के मध्य 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'आद्गुणः' से 'ए' गुणैकादेश—'स एमाम् अविड्ढ प्रभृतिम्' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'सेमामविड्ढि प्रभृतिय इशिषे' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ।

(२) **सैष दाशरथी रामः**—'सस्+एष दाशरथी रामः' इस स्थिति में वर्ण परिगणना करने पर ९ वर्ण आते हैं, यतः यह अनुष्टुप छन्द का पाद है, जिसमें ८ वर्ण होने चाहिए, अतः छन्दोभङ्ग से बचने और पादपूरण के लिए 'सु' का लोप आवश्यक है, जिससे ८ अक्षर बचेंगे, 'सु' के बाद एषः का 'एकार' अच् भी प्राप्त है, अतः प्रकृत सूत्र 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' से अकारोत्तरवर्ती सु (स्) का लोप करने पर 'स् एष दाशरथी रामः'- इस स्थिति में सकारोत्तरवर्ती 'अकार' और एष के 'एकार' के मध्य 'स्थानेऽन्तरतम्' के सहकार से 'वृद्धिरेचि' से 'ऐ' वृद्धिरेकादेश—'स् ऐष दाशरथी रामः'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'सैष दाशरथी रामः' प्रयोग व्युत्पन्न हुआ। सम्पूर्ण छन्द इस प्रकार है—

"सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महादानी, सैष भीमो महाबलः॥"

ध्यातव्य है, कि पादपूरण हेतु ही लोप होता है, यदि बिना लोप पादपूरण हो जायगा, तो लोप नहीं होगा जैसे—'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्' में पादपूरण सुलोप बिना हो गया है, अतः यहाँ सुलोप नहीं हुआ।

॥ इति विसर्ग सन्धिः॥
(इस प्रकार विसर्ग सन्धि का समापन)

———

अथ सुबन्ताः

(अब सुबन्त)

अथ अजन्त पुंल्लिग प्रकरणम्

(अब अजन्त पुंल्लिग प्रकरण प्रारम्भ)

११६. अर्थवदधातुर प्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५

अर्थवद (प्र० ए०) अधातु (प्र० ए०) अप्रत्ययः (प्र० ए०) प्रातिपदिकम् (प्र० ए०)

[अधातु अप्रत्यय और सार्थक (शब्द स्वरूप) 'प्रातिपदिक' है (की संज्ञा से अभिहित होता है)।]

धातुं प्रत्ययं प्रत्यतान्तं च वर्जयित्वार्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिक संज्ञं स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त से भिन्न सार्थक शब्दस्वरूप 'प्रातिपदिक' सज्ञक होना चाहिए (होगा)।

व्याख्या—यह प्रातिपदिक संज्ञा-विधायक सूत्र है। इसके अनुसार धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़कर अर्थवान् शब्दस्वरूप की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है। इसी प्रातिपदिक को 'नाम और लिंग' भी कहा जाता है। शब्दों के सम्बन्ध में वैयाकरणों में दो वर्ग हैं—(१) व्युत्पत्तिवादी और (२) अव्युत्पत्ति-वादी।

व्युत्पत्तिवादी पक्षानुसार प्रत्येक शब्द अपने मूलशब्दों से प्रत्ययों के योग से व्युत्पन्न है, किन्तु अव्युत्पत्तिवादी वैयाकरण के मत में प्रत्येक शब्द रूढ़ है, वह किसी अन्य मूल शब्द से प्रत्यय के संयोग से व्युत्पन्न नहीं है। इनके अनुसार प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की परिकल्पना अनावश्यक और कल्पित है। ये 'राम' को भी रूढ़ मानते हैं, √रमु क्रीडायाम् धातु से 'करणधिकरणयोश्च' सूत्र से 'घम्' प्रत्यय के संयोग से व्युत्पन्न नहीं मानते हैं। वस्तुतः दो प्रकार के शब्द (प्रातिपदिक) हैं—प्रथम यौगिक (प्रकृति-प्रत्यय-विभाग युक्त)—यथा—

(म, वैनतेय आदि और द्वितीय रूढ़ (प्रकृति प्रत्यय विभाग से परे) यथा—
(क्ष, धनुष आदि।

प्रातिपदिक संज्ञा का फल है—'सु' आदि विभक्तियों की उत्पत्ति। सूत्र (में) प्रयुक्त 'अर्थवत्' विशेषण से केवल सार्थक पदों के ही प्रातिपदिकत्व का (वि)धान है, निरर्थकों का नहीं, अन्यथा उनकी भी प्रातिपदिक संज्ञा होने (ल)गती।

'अधातुः' पाठ से 'अह्न्' के प्रातिपदिकत्व का निषेध किया गया, अन्यथा (प्रा)तिपदिक संज्ञा होकर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से 'न्' का लोप होने (ल)गता। 'अहन्'—√हन् धातु के लङ् लकार का रूप होने से धातु है, अतः (इ)सकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हुई, सूत्र में 'अधातु'—पद से धातुओं के प्राति(प)दिकत्व का निषेध कर दिया गया है।

'अप्रत्ययः' का अभिप्राय है, प्रत्ययों के प्रातिपदिकत्व का निषेध। अर्थात् (ण्व)ल्, तृच्, तृन्, सुप्, तिप् आदि प्रत्ययों की प्रातिपदिक नहीं होगी, अन्यथा (प्रा)तिपदिक संज्ञा होकर औत्सर्गिक एकवचन आने पर संज्ञा होने से 'मातृपदाद्योः' (सू)त्र से षत्व का निषेध होने लगता, फलतः 'रामेसु', 'करोसि' आदि अशुद्ध (रू)प बनते 'रामेषु और करोषि' न बन पाते।

'प्रत्यय ग्रहणे तदन्तग्रहणम्'—के अनुसार प्रत्यय से प्रत्ययान्त का भी (ग्र)हण हो जाता है, अतः वृत्ति में 'प्रत्ययं प्रत्ययान्तं चवर्जयित्वा' कहा गया है। (प्र)त्ययान्त के प्रातिपदिकत्व के निषेध का अभिप्राय यह है, कि 'रामेषु' आदि की (प्रा)तिपदिक संज्ञा न होने पाये, अन्यथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से 'सु' का (लो)प होने लगता, फलतः अनभीष्ट और अशुद्ध रूप 'रामे' व्युत्पन्न होता। (अ)तः प्रत्ययान्त के प्रातिपदिकत्व का निषेध आवश्यक था। यतः 'वृक्ष, धनुष (औ)र राम'—आदि सार्थक (अर्थवान्) है, और ये धातु, प्रत्यय तथा अव्युत्पत्ति(व)ादियों की दृष्टि में प्रत्ययान्त नहीं हैं, अतः इनकी प्रातिपदिक संज्ञा होगी।

यह सूत्र वैयाकरणों में अत्यन्त लोकप्रिय है। प्रायः गोष्ठियों में इससे (स)म्बन्धित निम्नांकित प्रश्नात्मक श्लोक प्रत्येक व्यक्ति के मुख से सुनने को (मि)लता है, जो इसकी लोकप्रियता का उत्कृष्ट प्रमाण है—

"विद्वान् की दृग्वचो ब्रूते ? को रोगी ? कश्च नास्तिकः ? कीदृक् चन्द्रं (न) पश्यन्ति ? सूत्रं तत्पाणिनेर्वद।"

इन प्रश्नों के उत्तर 'अर्थवद धातुरप्रत्यया प्रातिपदिकम्' में क्रमशः निहित हैं, जिन्हें निम्नवत् समाविष्ट किया जा सकता है—

प्रश्न	उत्तर
(१) विद्वान् की दृग्वचो ब्रूतो ?	अर्थवत् (सार्थक)
(२) को रोगी ?	अधातुः (धातु–बलहीन)
(३) कश्च नास्तिक ?	अप्रत्ययः (ईश्वर में विश्वास न रखने वाला)
(४) कृदृक् चन्द्रं न पश्यन्ति ?	प्रातिपदिकम् (प्रतिपदाके)

रूढ पदों की प्रातिपदिक संज्ञा का प्राविधान 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' से करने के पश्चात् महर्षि पाणिनि ने यौगिक पदों के प्रातिपदिकत्वार्थ अग्रिम सूत्र 'कृत्तद्धितसमासाश्च' की रचना की।

११७. कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६

कृत्तद्धितसमासाः (प्र० ब०) च अव्यय

[कृदन्त तद्धितान्त और समास भी (प्रातिपदिक संज्ञक होगा)।]

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा स्युः।

हिन्दी अनुवाद—कृत्तद्धितान्त और समास (समस्त पद) भी वैसे ही (प्रातिपदिक) हों (गे)।

व्याख्या—यह प्रातिपदिक संज्ञा विधायक पूरक सूत्र है। इसमें पूर्ववर्ती सूत्र 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिक' से अर्थवत् और प्रातिपदिक पदों की अनुवृत्ति पूर्वक 'प्रातिपदिक' पद का बहुवचन में विपरिणाम कर दिया जाता है।

वस्तुतः पूर्ववर्ती सूत्र में अधातु, अप्रत्यय और अप्रत्ययान्त से भिन्न मूल शब्दस्वरूप अर्थात् रूढ़ पदों के ही प्रातिपदिकत्व का विधान है अर्थात् वह प्रत्ययान्त होने के कारण कृदन्त और तद्धितान्त के प्रातिपदिकत्व का निषेध है अतः प्रकृत सूत्र 'कृत्तद्धितसमासाश्च' की आवश्यकता पड़ी।

यहाँ यह ध्यातव्य है, कि प्रकृत सूत्र में प्रत्ययान्त क्यों नहीं कहा ? इस आशङ्का के उत्तर में कहा जा सकता है, कि यदि प्रत्ययान्त' पाठ रखा जाता तो कृत् तो अन्त में होने से ग्राह्य होते, किन्तु तद्धितों में 'अकच् तथा बहुच्

दि क्रमशः अन्त में न होकर क्रमशः टि और पूर्व के स्थान में होने वाले
ययों का ग्रहण न हो पाता, फलतः 'सर्वक और बहुपटु'—आदि की प्राति-
दिक संज्ञा न हो पाती, अतः 'कृत्तद्धित' पाठ अधिक समीचीन है।

इसी प्रकार सूत्र में समास का ग्रहण नियमार्थ है—"अर्थवत्समुदायानां
ासग्रहणं नियमार्थम्।"—(काशिका), क्योंकि अर्थवत्ता के कारण तो पूर्वसूत्र
र्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' से ही समास (समस्त पदों) की प्रातिपदिक
ा प्राप्त थी, अतः यहाँ पुनः 'समास'—पाठ की क्या आवश्यकता थी?
आशङ्का के निर्मूलनार्थ वैयाकरण यह तर्क देते हैं, कि समास ग्रहण
यमनार्थ है, जिससे अनेक सार्थक-पद समूहों में केवल समास का ही प्राति-
दिक संज्ञा हो वाक्यों की नहीं—

'यत्रार्थवति सङ्घातेपूर्वो भागस्तथात्तरः।
स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हः समासस्यैव तस्य चेत्॥'

[अर्थात् जिस अर्थवान् (सार्थक) समुदाय का पूर्व तथा उत्तर दोनों भाग
तन्त्र रूप से प्रयोग—योग्य हों, उसकी यदि प्रातिपदिक संज्ञा हों, तो समास
ही हो, अन्य की नहीं।]

अतः 'राज पुरुष'—आदि समस्त पदों की प्रातिपदिक संज्ञा होगी,
ज्ञः पुरुषः'—आदि वाक्यों की नहीं।

इस प्रकार 'तत्सामर्थ्यान्तिदन्तविधिः' के अनुसार √कृ+तृच् (तृ)=
र्ता आदि, तद्धितान्तभूत+ठक्=भौतिक इत्यादि तथा समास–राजपुरुष
ति पदों की प्रातिपदिक संज्ञा होगी।

८. स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्
४।१।२

स्वौ……सुप् (प्र० ए०)

सु औ जस् इति प्रथमा। अम् औट् शस् इति द्वितीया। टाभ्याम् भिस्
ति तृतीया। ङे भ्याम भ्यस् इति चतुर्थी। ङसि भ्याम् भ्यस् इति पञ्चमी।
ओस् आम् इति षष्ठी। ङि ओस् सुप् इति सप्तमी।

हिन्दी अनुवाद—'सु—औ—जस्' ये प्रथमा, 'अम्—औट्—शस्' ये
ीया, 'टा—भ्याम्—भिस्'—ये तृतीया, 'ङे—भ्याम्—भ्यस्'—ये चतुर्थी,

'ङसि—भ्याम्—भ्यस्'—ये पञ्चमी, 'ङस्—ओस्—आम्'—ये षष्ठी, ङि—ओस्—सुप्'—ये सप्तमी (विभक्ति) के प्रत्यय हैं।

व्याख्या—यह सुप्—प्रत्यय सूचक सूत्र है। इसमें परिगणित प्रत्ययों को निम्नांकित तालिका में अत्यन्त सरलतया समझा जा सकता है—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा/सम्बोधन	सु (स्)	औ	जस् (अस्)
द्वितीया	अम्	औट् (औ)	शस् (अस्)
तृतीया	टा (आ)	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङे (ए)	भ्याम्	भ्यस्
पञ्चमी	ङसि (अस्)	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी	ङस् (अस्)	ओस्	आम्
सप्तमी	ङि (इ)	ओस्	सुप् (सु)

इन प्रत्ययों में 'सु' का उकार, जस् का जकार, औट् का ट्कार, शस् का शकार, टा का टकार, ङे ङसि ङस् का ङकार तथा सुप् का 'पकार' इत्संज्ञक है अतः इनका लोप हो जाता है, और इत्संज्ञक अनुबन्धरहित प्रत्ययों का शब्दों के साथ योग होता है।

११९. ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४।१।१

ङ्या.........त् (पं० ए०)

[ङ्यन्तात्—आवन्तात् और प्रातिपदिकात् (का पञ्चम अध्याय तक अधिकार है।)]

(ङ्यन्तादावन्तात्प्रातिपदिकाच्चेत्यापञ्चमरिसमाप्तेरधिकारः)

(अर्थात् 'ङ्यन्तात्—आवन्तात्—प्रातिपदिकात्' से पञ्चम अध्याय की परिसमाप्ति तक अधिकार समझना चाहिए।)

व्याख्या—यह स्वादिप्रत्ययाधिकार सूत्र है।

'स्वदेशे वाक्यार्थ वोधशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थ वोधत्वमाधिकारत्वम्'—इस परिभाषानुसार यह सूत्र 'स्वौजस्....' के साथ प्राप्त एक वाक्यता में

सार्थक होता है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा—चौथे और पाँचवें अध्याय में जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, वे ङी प्रत्ययान्त (ङीप्, ङीष्, ङीन् जिनके अन्त में हों), आप्—प्रत्ययान्त (जिनके अन्त में टाप्, चाप्, डाप् प्रत्यय हों) और प्रातिपदिक (सार्थक शब्द कृदन्त, तद्धितान्त और समास) से पर होते हैं।

१२०. प्रत्ययः ३।१।१

[(सु–आदि) प्रत्यय हैं।]

(आपञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्)

('प्रत्ययः—सूत्र का पञ्चम अध्याय की परिसमाप्ति पर्यन्त अधिकार है।)

व्याख्या—यह स्वादि की प्रत्यय संज्ञा विधायक सूत्र है। तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम अध्याय में पठित सूत्रों से विहित सु आदि की प्रत्यय संज्ञा होगी। और वे प्रकृति (प्रातिपदिक आदि) से बाद में होंगे।

१२१. परश्च ३।१।२

[प्रत्यय प्रकृति से परे अर्थात् आगे) आते हैं।]

(अयमपि तथा) (यह भी वैसे ही होगा अर्थात् इसका भी पञ्चम अध्याय पर्यन्त अधिकार होगा।)

व्याख्या—यह स्वादि के परत्व का विधायक सूत्र है। इसमें 'प्रत्ययः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है—प्रत्ययः परः च—अर्थात् प्रत्यय (प्रकृति–प्रातिपदिक आदि) से पर (बाद में) होता है, पूर्व नहीं।

इत्यधिकृत्य। ङ्यन्तात् आबन्तात् प्रातिपदिकात् च परे स्वादयः प्रत्ययः स्युः।

(इन अधिकार सूत्रों के अनुसार सु–आदि प्रत्यय ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक के पश्चात् ही आते हैं, पूर्व नहीं।)

१२२. सुपः १।४।१०३

[सुप्—प्रत्याहार में परिगणित प्रत्ययों (की क्रमशः एकवचन—द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा होती है।)]

सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन—द्विवचन—बहुवचन—संज्ञानि स्युः।

हिन्दी अनुवाद—सुप् (सु से सुप् तक) के तीन-तीन वचनों की क्रमशः एक-वचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती हैं।

व्याख्या—यह एकवचनादि संज्ञा विधायक सूत्र है। इसमें 'तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमा' से 'त्रीणि-त्रीणि' की और 'तान्येकवचन-द्विवचन—बहुवचनान्येकशः' से 'एकवचन द्विवचन बहुवचनान्येकशः' की अनुवृत्ति की जाती है। इसके अनुसार सुप् (सु—सुप्) के तीन-तीन वचनों के त्रिकों के एक-एक की क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है। प्राचीन वैयाकरणों ने इन्हें भी प्रथमा से सप्तमी आदि संज्ञायें दी थीं—

"तत्र सु औ जस् इत्यादीनां सप्तानां त्रिकाणां प्रथमादयः सप्तम्यन्ताः प्राचां संज्ञा स्ताभिरिहापि व्यवहारः।" (सि० कौ० २६९)

१२३. द्व्येकोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२

द्व्येकयोः (स० द्वि० द्विवचनैकवचने (प्र० द्वि०)

[द्वि (त्व) और (त्व) की विपक्षा में द्विवचन और एकवचन (होते हैं)।]

हिन्दी अनुवाद—द्वित्व और एकत्व की विवक्षा में (क्रमशः) ये (द्विवचन) और एकवचन) होते हैं।

व्याख्या—यह द्विवचन और एकवचन विधायक सूत्र है, इसके अनुसार द्वित्व और एकत्व की विवक्षा में क्रमशः यथासङ्ख्यविधि से द्विवचन और एकवचन होते हैं। यथा-एकराम की विवक्षा में 'सु' और दो राम की विवक्षा में 'औ' प्रत्यय होंगे।

१२४. विरामोऽवसानम् १।४।११०

विरामः (प्र० ए०) अवसानम् (प्र० ए०)

[विराम (ही) अवसान है।)

वर्णानामभावोऽवसान संज्ञः स्यात्। रुत्वविसर्गौ-रामः।

हिन्दी अनुवाद—वर्णों के अभाव की अवसान-संज्ञा होती है। रुत्वविसर्ग होने पर 'रामः' (पद व्युत्पन्न होता है।)

–व्याख्या—यह अवसान संज्ञाविधायक सूत्र है। इसके अनुसार विराम (वर्णाभाव) की अवसान संज्ञा होती है।

तत्त्वबोधिनीकार ने विराम का दो भिन्न व्युत्पत्तियों—के आधार दो अर्थ किया है:—(i) 'विरमणं विरामः भावे घञ्'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा होती है, तथा (ii) 'विरम्यतेऽनेनेति विरामः बाहुलकात्करणे घञ्' के अनुसार अन्त्य की अवसान संज्ञा होती है। इस प्रकार 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' सूत्र में भी 'अवसान' के दो अर्थ होंगे –(i) अवसान परे होने पर और (ii) अवसान में (वर्तमान वर्ण होने पर)। जैसे—

'रामर्'—इस स्थिति में प्रथम अर्थ में रेफ के बाद अन्य वर्णों का अभाव होने पर उच्चारणभाव (वर्णाभाव) की अवसान संज्ञा होती है, और द्वितीय अर्थ में अन्त्यवर्ण 'र्' की अवसान होती है, और उसके स्थान पर विसर्गादेश होता है।

लघुत्व प्रक्रिया

रामः—'राम' शब्द की व्युत्पत्तिपक्ष में। √रमु (म्)+घञ् से व्युत्पत्ति मानने पर कृदन्तत्वेन 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से और दाशरथित्वेनादि रूपों में अव्युत्पत्ति पक्ष में 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपादितकम्' से प्रातिपदिक संज्ञा, ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र से 'खले कपोतन्यायेन' एक साथ सभी विभक्तियों की प्राप्ति, 'प्रत्ययः और परश्च' सूत्रों के अधिकार क्षेत्र में 'स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्' सूत्र से 'सुप्' से एकवचन द्विवचन बहुवचन संज्ञा प्राप्त त्रिकों में से एकवचन की विवक्षा में 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' सूत्र से राम से पर 'सु' विभक्ति प्रत्यय की प्राप्ति 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से सु के 'उकार' की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप, 'राम+स्' इस अवस्था में 'ससजुषोरुः' से 'स्' के स्थान पर 'रु' 'राम+रु'—इस दशा में पुनः 'उपदेशेजनुनासिक इत्' सूत्र से रू के 'उकार' की इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' लोप 'राम र्'—इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' अवसान संज्ञा और रेफ के स्थान पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' विसर्ग करने पर 'रामः' रूप व्युत्पन्न होगा।

१२५. सरूपाणामेकशेष. एक विभक्तौ १।२।६४

सरूपाणां (ष० ब०) एकशेष (प्र० ए०) एकविभक्तौ (स० ए०) (समान विभक्ति पर रहते समान रूप वाले शब्दों का एक रूप ही शे रहता है।)

एक विभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एवं शिष्यते ।

हिन्दी अनुवाद—एक विभक्ति परे रहने पर जो सरूप (समान रूप दिखाई पड़े, उनमें से केवल एक ही शेष रह जाता है।

व्याख्या—यह एक शेषनियम सूत्र है। वस्तुत: 'प्रत्यर्थंशब्दनिवेश:'- इस नियम के अनुसार एक शब्द से अनेक का अभिधान असम्भव होने कारण द्विवचन एवं बहुवचन में जितने अर्थों की विवक्षा होगी, उतनी बा प्रातिपदिकों की आवृत्ति करनी पड़ेगी। जैसे—द्विवचन में 'राम-राम' बार और बहुवचन में 'राम-राम, राम' आदि सख्यानुसार कहना पड़ेगा। य स्वयं में एक अव्यवस्थाकल्प है। अत: इसके निवारणार्थ एक शेष नियम अङ्ग कार किया गया, जिसके अनुसार एक विभक्ति परे रहने पर समा रूपों में केवल एक ही अवशिष्ट रहता है। अब प्रश्न यह है; कि क वह निराकृत अन्य रूपों का भी अवबोधक होगा? इसके उत्तर में य व्यवस्था दी गयी, कि जो अवशिष्ट रहता है, वह सबका बोध होता है:- 'य: शिष्यते स: लुप्यमानार्थाभिधायी।'' 'एक विभक्तौ' से प्रतीत होता है, विभक्ति सारूप्य में उपलक्षण है, एकशेष में निमित्त नहीं, यत: अनैमित्तिक एव शेष अन्तरंग है, अत: 'सुप्' की उत्पत्ति से पूर्व इसकी प्रवृत्ति हो जाती है, अत प्रातिपदिक के सुबन्तत्त्व से पूर्व एकशेष होने से द्वन्द समास नहीं होता, क्यों द्वन्द्व तो सुबन्तो में ही होता है।

इस प्रकार द्विवचन और बहुवचन की विवक्षा में 'राम-राम' तथा 'रा राम-राम'—स्थितियों में 'औ' और 'जस्' विभक्ति प्रत्ययों के परे रहते एक शे हो जायेगा, अत: 'राम+औ' और 'राम+जस्' स्थितियां प्राप्त होंगी।

१२६. प्रथमयोः पूर्वसवर्ण: ६।१।१०२

प्रथमयो: (ष० द्वि०) पूर्वसवर्ण: (प्र० ए०)

[प्रथम दो विभक्तियों (प्रथमा और द्वितीया)के (अच् परे रहते) पूर्व सव (आदेश) होगा।)

अक: प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश: स्यात्। इति प्राप्ते—

हिन्दी अनुवाद—अक् से परे प्रथमा द्वितीया सम्बन्धी अच् बाद में रहने पर (पूर्व पर के स्थान पर) पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश होगा। इस (स्थिति) के प्राप्त होने पर—

व्याख्या—यह पूर्वसवर्णदीर्घविधायक सूत्र है। इसमें 'अकः सवर्णदीर्घः' से 'अकः और दीर्घः' की, 'इकोयणचि' से 'अचि' की और 'एकः पूर्वपरयोः' से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। 'अचि' का अन्वय 'प्रथमयोः' के साथ होता है। इसके अनुसार अक् (अ, इ, उ, ऋ, लृ) से परे प्रथमा और द्वितीया सम्बन्धी अच् बाद में रहने पर पूर्वपर के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ (आ, ई, ऊ, ॠ, लॄ) एकादेश होता है। यह 'वृद्धिरेचि' का अपवाद है।

उदाहरणार्थ - 'राम + औ (ट्)'—इस स्थिति में अन्त्य अक्-'अकार' से परे प्रथमा-द्वितीया का अच्—'औ' बाद में होने पर पूर्वपर (अ और औ) के स्थान पर प्रकृत सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ अर्थात् अ का सवर्ण दीर्घ अर्थात् 'आ' एकादेश होगा, ध्यातव्य है, कि यहाँ 'अ' के बाद 'औ' आने पर 'वृद्धिरेचि' से 'औ'—वृद्धि प्राप्त थी, किन्तु उसे वारित कर दीर्घ एकादेश हुआ।

१२७. नादिचि ६।१।१०४

न (अव्यय) आत् (पं० ए०) इचि (स० ए०)

[आत् इचि न-अ के पश्चात् इच् आने पर (पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश) नहीं होगा।]

अदिचि न पूर्वसवर्ण दीर्घः। वृद्धिरेचि। रामौ

हिन्दी-अनुवाद—अवर्ण से परे इच् रहने पर पूर्वसवर्ण-दीर्घ (एकादेश) नहीं होगा (प्रत्युत) वृद्धि होकर 'रामौ' (निष्पन्न होगा)।

व्याख्या—यह प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' का अपवाद पूर्व-सवर्णदीर्घ निषेध सूत्र है। इसमें भी 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ', 'एकः पूर्वपरयोः' से सम्पूर्ण सूत्र और 'प्रथमयोः' पूर्वसवर्णः' से पूर्णसवर्णः' की अनवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार अ से परे इच् आने पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होगा प्रत्युत 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होगी।

उदाहरणार्थ—'राम + औ'—इस स्थिति में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से प्राप्त पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश (आ) को मकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् इच् परे

रहते प्रकृतसूत्र 'नादिचि' से बाधकर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होगी और 'रामौ' रूप निष्पन्न होगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

विशेष—सभी रूपों की साधुत्व-प्रक्रिया में 'रामः' से 'राम शब्द की···· विवक्षा में" अंश को उद्धृत करें, तत्पश्चात् एकवचन और द्विवचन के प्रकरण में 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से 'सु अथवा औ' तथा बहुवचन के प्रसङ्ग में 'बहुषु बहुवचनम्' से बहुवचन 'जस्' की प्राप्ति"—अवश्य लिखना चाहिये। हम पुनरावृत्ति जन्य अनावश्यक विस्तार के भय से संक्षिप्त रूप मात्र लिख रहे हैं।)

रामौ—'राम'-शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा, द्वितीया एवं सम्बोधनेच' से सम्बोधन द्विवचन की विवक्षा में औ (ट्) आने से पूर्व 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से एकशेषत्व और औ (ट्) प्रत्यय की प्राप्ति 'राम+औ (ट्)' इस स्थिति में 'औट्' के टकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'राम+औ'—इस स्थिति में 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि की प्राप्ति' किन्तु 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से उसका निषेध और पूर्वसवर्ण दीर्घैकादेश, किन्तु 'नादिचि' से उसका बाध और पुनः 'वृद्धिरेचि' के अनुसार वृद्धि का विधान करने पर 'रामौ' रूप निष्पन्न होगा। 'हे' सम्बोधन चिह्न जोड़ देने से 'हे रामौ' प्रयोग सिद्ध हो जायगा।

१२८. बहुषु बहुवचनम् १।४।२१

बहुषु (स० व०) बहुवचनम् (ए० व०)

[बहुत्व में बहुवचन (होगा)।]

बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होगा।

व्याख्या—यह बहुवचन विधि सूत्र है। 'बहु' का अर्थ है, दो से अधिक अर्थात् तीन या अनन्त पदार्थ। बहुत्व का अर्थ तीन या अधिक संख्या। इस सूत्र के अनुसार बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ—बहुत 'राम' व्यक्तियों की विवक्षा में एकशेषत्व के पश्चात् प्रकृत सूत्र से जस् आदि बहुवचनात्मक विभक्ति प्रत्यय आयेंगे।

२९. चु टू १।३।४

[चवर्ण और टवर्ग (इत्संज्ञक होंगे) ।]

प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौस्तः ।

हिन्दी-अनुवाद—प्रत्यय के आद्य (आदिम) चवर्ण और टवर्ग इत्संज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—यह चवर्ग और टवर्ग की इत्संज्ञा का विधायक सूत्र है। इस सूत्र में 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से 'इत्', 'आदिर्ञिटुडवः' से 'आदिः' और 'प्रत्ययस्य' से 'प्रत्ययस्य' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार प्रत्यय के आदि वर्ण चवर्ग और टवर्ग इत्संज्ञक होंगे, और 'तस्यलोपः' से उनका लोप होगा। उदाहरणार्थ—'राम+जस्'—इस दशा में 'जस्' प्रत्यय का आदिम 'ज़कार' रूप चवर्ग की इसी सूत्र से इत्संज्ञा होगी, और 'तस्यलोपः' से लोप होने पर 'राम+अस्' स्थिति प्राप्त होगी।

३०. विभक्तिश्च १।४।१०४

विभक्तिः (प्र० ए०) च (अव्यय)

[(सुप और तिङ् की) विभक्तिसंज्ञा भी (होती है) ।]

सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः ।

हिन्दी-अनुवाद—सुप् और तिङ् विभक्तिसंज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—यह विभक्तिसंज्ञा सूत्र है। इसमें 'तिङस्त्रीणित्रीणिप्रथममध्यमोत्तमाः' से 'ङित्' और 'सुपः' से 'सुप' की अनुवृत्ति की गयी है। इसके अनुसार सुप् और तिङ् की विभक्ति-संज्ञा भी होती है। विभक्तिसंज्ञक होने से 'न-विभक्तौ तुस्माः' से तवर्ग, सकार और मकार की इत्संज्ञा नहीं होती, फलतः 'राम+अस्'—इस स्थिति में 'स्' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और तस्यलोपः से लोप नहीं होगा, और 'रामाः' रूप सिद्ध हो सकेगा।

३१. न विभक्तौ तुस्माः १।३।४

न (अव्यय) विभक्तौ (स० ए०) तुस्माः (प्र० ब०)

[विभक्तौ तुस्माः न—विभक्तिस्थ (विभक्ति में) तवर्ग, सकार और मकार (इत्) नहीं (होंगे) ।]

विभक्तिस्थास्तवर्गसमा नेतः। इति सस्य नेत्त्वम्। रामाः।

हिन्दी-अनुवाद—विभक्तिस्थ तवर्ग, और मकार इत् (संज्ञक) नहीं (होंगे)। इस प्रकार सकार की इत्संज्ञा नहीं होगी (का इत्व नहीं होगा)। यथा—रामाः।

व्याख्या—यह इत्संज्ञा—निषेध सूत्र है। इसमें 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से इत् की आवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार विभक्ति में (स्थित) तवर्ग सकार और मकार इत्सज्ञक नहीं होते। उदाहरणार्थ—'राम + अस्'—इस दशा में 'हलन्त्यम्' से अस् के 'सकार' की इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप प्राप्त होगा और इस प्रकार रामाः रूप निष्पन्न नहीं हो पायेगा, अतः प्रकृत सूत्र से प्राप्त स के इत्व का निषेध करके 'प्रथमयोः पूर्व सवर्ण' से पूर्वसवर्ण-दीर्घैकादेश और रुत्व विसर्ग पूर्वक 'रामाः' रूप की सिद्धि की जाती है।

साधुत्व-प्रक्रिया

रामा—'राम' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा तथा 'सम्बोधने च' से सम्बोधन बहुवचन की विवक्षा में 'जस्' विभक्ति प्रत्यय की प्राप्ति, 'बहुषु बहुवचनम्' और 'सरुपाणामेकशेष एक विभक्तौ' के नियमानुसार 'राम-राम राम + जस्' इस स्थिति में एक शेप करने पर 'राम + जस्'—इस दशा में 'चुटू' से प्रत्यय के आदि 'जकार' की इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'राम + अस्' इस स्थिति में 'हलन्त्यम्' से अस् के सकार की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' लोप प्राप्त होने पर 'विभक्तिश्च' सूत्र 'जस्' की विभहि संज्ञा और 'न विभक्तौतुस्माः' से सकार के इत्व और लोप का निषेध, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश 'राम + आस् = रामास्' इस दशा में 'ससजुषोरुः' से सकार के स्थान पर रुत्व 'रामारुः' इस दशा में रु के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'र्' की 'विरामोऽवसानम्' के अवसान संज्ञा और खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'रामाः' रूप व्युत्पन्न होगा। 'हे'—सम्बोधन चिह्न के संयोग से 'हे रामाः' रूप सिद्ध होगा।

१३२. एकवचनं सम्बुद्धिः २।३।४९

एकवचनम् (प्र० ए०) सम्बुद्धि (प्र० ए०)

(एकवचन सम्बुद्धि है।)

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—सम्बोधन में प्रथमा एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा होती

व्याख्या—यह सम्बुद्धि संज्ञा विधायक सूत्र है। इसमें 'सम्बोधने च' से
म्बोधने' और 'प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' से 'प्रथमा की
नुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार सम्बोधन में प्रथमा एकवचन की
बुद्धि संज्ञा होती है। उदाहरणार्थ—हे राम—शब्द की व्युत्पत्ति में 'राम+
—इस दशा में सम्बोधनगत 'सु' की सम्बुद्धि संज्ञा होगी।

१३. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३

यस्मात् (पं० ए०) प्रत्ययविधिः (प्र० ए०) तदादि (प्र० ए०) प्रत्यये
० ए) अंगम् (प्र० ए०)

[जिससे प्रत्यय का विधान हो उसका आदिप्रत्यय परे होने पर अंग
ज्ञक) (होगा)।]

यः प्रत्ययो यस्मात्क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात्।

हिन्दी-अनुवाद—जो प्रत्यय जिस (प्रकृति) से (विहित) किया जाता है,
(प्रकृति) हैं, आदि में जिस समुदाय के, उस शब्द स्वरूप की उस (प्रत्यय)
परे रहते अंग संज्ञा होगी।

व्याख्या—यह अंग संज्ञाविधायक सूत्र है। इसके अनुसार—जिस प्रकृति
कोई प्रत्यय विहित होगा, वह प्रकृति जिस शब्द स्वरूप के आदि में होगी,
ह प्रकृति सहित शब्द स्वरूप प्रत्यय के परे रहते अंग (संज्ञक) होगा। यह सूत्र
र्थं में परिपूर्ण है, इसका 'तदादि'—पद चिन्त्य है, इसमें तद्गुण संविज्ञान
हुव्रीहि समास है, जिसका विग्रह तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार निम्नवत्
—

तस्यप्रकृतिरूपमादिर्यस्य शब्दस्वरूपस्य इति बहुव्रीहिः' अर्थात् वह प्रकृति
रूप जिस शब्द स्वरूप के आदि में हो, उसको तदादि कहेंगे।

ध्यातव्य है, कि कर्त्रादि प्रयोगों की सिद्धि में जहाँ विहितव्य प्रत्यय के परे
रहते केवल प्रकृतिमात्र होगी, वहाँ व्यपदेशिवद्भावेन उसी (प्रकृति) की तदादि-
त्वेन अंग संज्ञा होगी।

उदाहरणार्थ—(१) भू से लट् से लकार उत्तमपुरुष एकवचन की विवक्षा
में मिप् प्रत्यय करने पर शप् प्रत्यय आता है, 'भू+शप्+मिप्'—अनुबन्ध

लोप 'भू अ् मिप्' इस दशा में यतः भू प्रकृति 'भूअ' शब्द स्वरूप के आदि में है, और इससे परे मिप्-प्रत्यय है अतः प्रकृति सहित 'भूअ' शब्द स्वरुप की अंग संज्ञा होगी। इसी प्रकार (२) 'राम+सु'—इस स्थिति प्रकृति 'राम' अपने ही आदि में है, अतः 'सु' परे रहते इसकी भी 'व्यपदेशिवद्भावेन तदादित्वेन अंग संज्ञा होगी।

१३४. एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ६।१।६९

एङ् (प्र० ए०) ह्रस्वात् (पं० ए०) सम्बुद्धेः (ष० ए०)

[एङ् ह्रस्व से परवर्ती सम्बुद्धि का (हल् लुप्त हो जाता है)।]

एङन्तादह्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत्। हे राम, हे रामौ, हे रामाः।

हिन्दी अनुवाद—एङन्त और ह्रस्वान्त अंग से परे सम्बुद्धि का हल् लुप्त हो जाता है। (यथा—) हे राम, हे रामौ, हे रामाः।

व्याख्या—यह सबुद्धि हल्लोप विधायक सूत्र है, इसमें 'लोपोव्योर्वलि' से 'लोपः' हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यस्य प्रक्तंहल् से 'हल् और 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से 'अंगम्' की अनुवृत्ति और एङ् तथा ह्रस्व की तदन्तविधि करनी पड़ती है। इसके अनुसार एङन्त और ह्रस्वान्त अंग से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप हो जाता है।

उदाहरणार्थ—(१) ह्रस्वान्तांग—'हे राम' प्रयोग में 'राम+सु=राम+स्'—इस स्थिति में अंग संज्ञक ह्रस्वान्त राम से परे सम्बुद्धि के 'सकार' हल् का लोप हो जायगा, और 'हे राम' प्रयोग निष्पन्न होगा इसी प्रकार—

२) एङन्तांग—'हरे+स्' तथा 'विष्णो+स्' एङन्त अंग के उदाहरण हैं, जिनके सम्बुद्धि सकार का लोप होने से 'हे हरे, हे बिष्णो' रूप निष्पन्न होते हैं।

साधुत्व-प्रक्रिया

हे राम—'राम' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, सम्बोधन अर्थ में 'सम्बोधने च' से प्रथमा विभक्ति, एक वचन की विवक्षा में 'स्वौजस् ०००' से 'सु' विभक्ति 'राम+सु' इस दशा में 'एकवचनं सम्बुद्धिः' से 'सु' की सम्बुद्धि

संज्ञा, 'सु' के उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'रामस्' इस स्थिति में यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' से राम शब्द की अंग संज्ञा, सम्प्रति ह्रस्वान्तांग राम से परे सम्बुद्धि सकार का 'एङ्-ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से लोप और 'हे' सम्बोधन चिह्न संयोग करने पर 'हे राम' प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

(रामौ, और रामाः की साधुत्व-प्रक्रिया में हे रामौ, हे रामाः की सिद्धि की जा चुकी है।)

१३५. अमिपूर्वः ६।१।१०७

अमि (स० ए०) पूर्व (प्र० ए०)

[अम् आने पर पूर्व (रूप) (होगा)।]

अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः। रामम्। रामौ।

हिन्दी अनुवाद—अक् (अ, इ, उ, ऋ, लृ) से परे अम् के अच् (कोई स्वर) के आने पर पूर्व पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश (होगा) (यथा—) रामम्। रामौ।

व्याख्या—यह अम् के प्रसंग में पूर्वरूप विधायक सूत्र है। इसमें 'इकोयणचि' से 'अचि' 'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'अकः' और 'एकः पूर्वपरयोः' से से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार यदि अक् के पश्चात् अम् का स्वर आवे, तो पूर्वापर के स्थान पर पूर्वरूप हो जायगा। यथा—

साधुत्व प्रक्रिया

रामम्—'राम'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, द्वितीया एकवचन की विवक्षा में 'अम्' विभक्ति, 'राम + अम्' 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ से मकारोत्तरवर्ती 'अकार' और अम् के 'अकार' के मध्य एकादेश की प्राप्ति, किन्तु अक् 'अकार' के मध्य दीर्घ एकादेश की प्राप्ति, किन्तु अक् 'अकार' के पश्चात् अम् के अकार अच् के आने पर प्रकृत 'अमि पूर्वः' सूत्र से पूर्वापर के स्थान पर पूर्वरूप 'अ' रूप एकादेश करने पर 'राम् अ म्' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रामम्' रूप निष्पन्न हुआ।

१३६. लशक्वतद्धिते १।३।८

लशकु (प्र० ए०) अतद्धिते (स० ए०)

[अतद्धित ल, श, और कवर्ग (की इत्संज्ञा होती है।)]

तद्धिवर्जं प्रत्ययाद्यालशकवर्गाइतः स्युः।

हिन्दी अनुवाद—तद्धितभिन्न प्रत्ययों के आदिम लकार, शकार और कवर्ग इत् होंगे।

व्याख्या—यह अतद्धित लकार, शकार और कवर्ग की इत्संज्ञा का विधायक सूत्र है। इसमें 'उपदेशऽजनुनासिक इत्' से 'इत्', 'आदिर्ञिटुडवः' से 'आदिः', और 'षः प्रत्ययस्य' से 'प्रत्ययस्य' पद की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार तद्धितभिन्न प्रत्यय के आदि लकार, शकार और कवर्ग की इत्संज्ञा होगी। तद्धित प्रत्यय के निषेध के फलस्वरूप 'कप्‌लच्' आदि में इत्संज्ञा नहीं होगी।

उदाहरणार्थ—'राम+शस्'—इस स्थिति में यतः 'शस्' सुप अतएव अतद्धित प्रत्यय है, अतः इसके शकार की प्रकृत सूत्र 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होगी। अब 'तस्य लोपः' से उसका लोप 'राम+अस्' 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश 'राम् आ स्' 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' वर्ण-संयोग 'रामास्' इस दशा में अग्रिम सूत्र 'तस्माच्छसोनः पुंसि' की प्रवृत्ति होती है।

१३७—तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३

तस्मात् (पं० ए०) शसः (ष० ए०) नः (प्र० ए०) पुंसि (स० ए०)

[पुल्लिङ्ग के प्रकरण में उससे (पूर्वसवर्णदीर्घ से पर) शस् के स्थान पर नकार (होगा)।]

पूर्वसवर्ण दीर्घात् परो यः शसः सः तस्य नः स्यात् पुंसि।

हिन्दी अनुवाद—पूर्वसवर्णदीर्घ से परवर्ती शस् के सकार के स्थान पर पुल्लिङ्ग के प्रकरण में नकार हो जायगा।

व्याख्या—यह नकार विधायक सूत्र है। इसमें 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से 'पूर्वसवर्णः'—पद की अनुवृत्ति करनी पड़ती है, जिसका सङ्केत 'तस्मात्' सर्वनाम से किया गया है। इसके अनुसार—पूर्वसवर्णदीर्घ से परवर्ती शस् के

अन्त्य अल् 'स' के स्थान पर 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से नकार हो जायगा। उदाहरणार्थ—'रामास्'—इस स्थिति पूर्वसवर्णदीर्घ 'आ' से परवर्ती शस् (अस्) के सकार के स्थान पर प्रकृत सूत्र से 'नकार' करने पर 'रामान्' रूप बनेगा।

१३८. अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२

अटकुप्वाङ्नुम्व्यवाये (स० ए०) अपि (अव्यय)

[अट्कवर्ग, पवर्ग, आङ्नुम् का व्यवधान होने पर भी (न् को णत्व होगा)]

अट्—कवर्ग—पवर्ग—आङ्—नुम्—एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्यणः समानपद। इति प्राप्ते—

हिन्दी अनुवाद—अट्—कवर्ग—पवर्ग—आङ्—नुम्—इनमें से एक-एक के पृथक् और यथासम्भव सम्मिलित व्यवधान के होने पर भी एक ही पद में रेफ और षकार से परे नकार के स्थान पर णकार हो जायगा इस प्राप्ति में—

व्याख्या—यह णत्वविधायक पूरक सूत्र है। इसमें सम्पूर्ण मूलसूत्र 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार अट्, कवर्ग पवर्ग आङ् और नुम (नुम् स्थानीय अनुस्वार)—इनके एक ही पद में पृथक् अथवा संयुक्त व्यवधान होने पर भी रेफ और षकार से पर नकार को णकार हो जायगा।

वस्तुतः मूलसूत्र 'रषाभ्यामित्यादि' में, र—ष और न की अव्यवहित स्थिति में ही णत्व की व्यवस्था थी, 'यथा—'चतुर्नाम्' में र् और न् अव्यवहित है, किन्तु प्रकृत सूत्र में कतिपय निश्चित व्यवधानों की स्थिति में भी णत्व की व्यवस्था की गई, जो निम्नवत् हैं—

१. अट्=अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओं, ऐ, औ, ह्, य, व्, र्

२. कु—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्

३. पु—प्, फ्, ब्, भ्, म्

४. आङ्—आ

५. नुम्—अनुस्वार (ं)

ध्यातव्य है, कि समानपदता णत्व का अनिवार्य अनुबन्ध है, समानपदता का अभिप्राय मूलशब्दस्वरूप है, समस्त पदता नहीं। यथा—'रामनाथ, रघुनाथ:' आदि प्रयोग अखण्ड पद या समानपद नहीं है, अतएव यहाँ णत्व नहीं हुआ।

प्रकृत प्रयोग 'रामान्' में 'र्' से परे 'न' की प्राप्ति हो रही है, और यह समानपद भी है, इन दोनों वर्णों के मध्य 'आ (अट्) म् (पु) और आ (अट्) का संयुक्त व्यवधान है, अतः प्रकृत सूत्र 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से णत्व प्राप्त है, किन्तु नकार के पदान्त में स्थित होने से अग्रिम सूत्र 'पदान्तस्य' के अनुसार णत्व वारित हो जायेगा।

१३९. पदान्तस्य ८।४।३७

पदान्तस्य (प्र० ए०)

[पदान्त का (णत्व नहीं होगा)।]

नस्य णो न। रामान्

हिन्दी अनुवाद—(पदान्त) नकार के स्थान पर णकार नहीं होगा। (यथा-) रामान्।

व्याख्या—यह णत्वनिषेध विधायक सूत्र है। इसमें 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' सम्पूर्ण सूत्र तथा 'नभाभूपकमिगमिप्यायीवेपाम्' 'न' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार—समान पद में र-ष से पश्चाद्वर्ती नकार यदि पदान्त में स्थित हो, तो उसे णत्व नहीं होगा। यथा—'रामान्' में यतः नकार पदान्त में है, अतः 'अट्कुप्वाङ् ०००' प्राप्त णत्व प्रकृत सूत्र से वारित हो जायगा। इस प्रकार 'रामान्' रूप ही बनेगा 'रामाण्' नहीं।

साधुत्व-प्रक्रिया

रामान्—'राम'–शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, द्वितीया बहुवचन की विवक्षा में शस् विभक्ति, 'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा 'तस्यलोपः' से लोप 'राम + अस्'—इस अवस्था में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से प्राप्त दीर्घ का निषेध और 'प्रथमयोः पूर्व सवर्णः' से पूर्व सवर्ण दीर्घैकादेश 'राम आ स्' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रामास्' इस स्थिति में 'तस्माच्छ सो नः पुंसि' से 'सकार' के स्थान पर नकार आदेश —'रामान्' इस दशा में 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से 'न्' को णत्व प्राप्त होता

है, किन्तु यतः नकार पदान्त में स्थित है, अतः 'पदान्तस्य' सूत्र से उसका निषेध करने पर 'रामान्' रूप व्युत्पन्न होता है।

१४०. टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२

टाङसिङसाम् (ष० ब०) इनात्स्याः (प्र० ब०)

[टा, ङसि और ङस् को (क्रमशः) इन, आत् और स्य (होंगे)।]

अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः। णत्वम्—रामेण

हिन्दी-अनुवाद—अदन्त (अङ्ग) से परे टा-आदि (टा, ङसि, ङस्) के स्थान पर क्रमशः इन-आदि (इन, आत्, स्य) हों (गे)। ('न' के स्थान पर) णत्व होने पर रामेण।

व्याख्या—यह इनाद्यादेशविधायक सूत्र है। इसमें 'अतोभिस ऐस्' से 'अत्', अधिकारत्वेन सम्पूर्ण 'अङ्गस्य' सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ती है, 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार और तदन्त विधि से सूत्र का मन्तव्य स्पष्ट हो पाता है। इसके अनुसार अदन्त-अङ्ग से परे टा, ङसि और ङस् के स्थान पर यथासङ्ख्यविधि से क्रमशः इन, आत् और स्य आदेश होंगे। उदाहरणार्थ—१—'राम+टा' इस दशा में अदन्त अङ्ग राम से परे 'टा' के स्थान पर प्रकृत सूत्र 'टाङसिङसामिनात्स्याः' से यथासङ्ख्यविधिना 'इन' आदेश, और णत्व करने पर 'आद्गुणः' से गुण करने पर 'रामेण' रूप बनेगा। इसी प्रकार—

२—'राम+ङसि'—इस दशा में 'ङसि' के स्थान पर 'आत्' होने से 'रामात्' और

३—'राम+ङस्' इस अवस्था में 'ङस्' के स्थान पर 'स्य' होकर 'रामस्य' रूप व्युत्पन्न होंगे।

साधुत्व-प्रक्रिया

रामेण—'राम'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, तृतीया एक वचन की विवक्षा में 'टा' विभक्ति प्रत्यय, 'राम+टा' इस अवस्था में 'टाङसिङसामिनात्स्याः' सूत्र से 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से 'टा' के स्थान पर 'इन' आदेश 'राम+इन' इस अवस्था में मकारोत्तरवर्ती 'अकार' और इनके 'इकार' के स्थान पर 'आद्गुणः' सूत्र से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'ए' गुण

एकादेश 'राम् ए न' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्मम्' से वर्ण संयोग 'रामेन'—इस दशा में 'र और न' के मध्य आ (अट्) म् (पु०) ए (अट्) का व्यवधान होने पर भी 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से 'न' को णत्व करने पर 'रामेण' रूप व्युत्पन्न हुआ।

१४१. सुपि च ७।३।१०२

सुपि (स० ए०) च (अव्यय)

[सुप् होने पर भी (दीर्घ आदेश होगा)।]

यञादौसुप्यतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात्। रामाभ्याम्

हिन्दी अनुवाद—यञादि सुप् बाद में रहने पर भी अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। यथा—रामाभ्याम्

व्याख्या—यह दीर्घविधि सूत्र है। इसमें 'अतो दीर्घोयञि' सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणें'—परिभाषानुसार विशेषणत्वेन 'यञादौ सुपि' अर्थ प्राप्त होता है। इसके अनुसार यञादि सुप् बाद में आने पर अदन्त अंग को दीर्घत्व होता है। यञादि सुप् का अर्थ है, जिस सुप् का आदि वर्ण यञ (य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्) हो। उदाहरणार्थ—रामाभ्याम्, प्रयोग में अदन्त अंग राम के पश्चात् 'भ्याम्' रूप यञादि 'सुप्' आने पर प्रकृत सूत्र 'सुपि च' से 'अलोऽन्त्यस्य' से सहकार से अन्त्य अल् मकारोत्तरवर्ती 'अकार' के स्थान पर दीर्घ आदेश होकर 'रामाभ्याम्' रूप व्युत्पन्न होता है।

ध्यातव्य है कि यञादि सुप् प्रत्यय है—भ्याम्, भ्यस्, और भिस् और ङे का स्थानापन्न 'य'। इनमें से 'अतोभिस् ऐस्' सूत्र से 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' और 'बहुवचने झल्येत्' से 'भ्यस्' के स्थान पर 'एकार' आदेश हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि केवल भ्याम् ङे के स्थानापन्न 'य' के परे रहते ही दीर्घत्व होता है।

साधुत्व-प्रक्रिया

रामाभ्याम्—'राम'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी द्विवचन की विवक्षा में 'भ्याम्' 'सुप्' प्रत्यय, 'राम + भ्याम्—इस दशा में 'यस्मात् प्रत्यय विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' सूत्र से राम शब्द की अंग संज्ञा सम्प्रति अदन्त अंग राम के पश्चात् यञादिसुप् 'भ्याम्' के परे रहते

'सुपि च' से 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से अन्त्य अल् मकारोत्तरवर्ती 'अकार' के स्थान दीर्घ 'आकार' आदेश 'राम आ भ्याम्' इस अवस्था में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रामाभ्याम्' रूप व्युत्पन्न हुआ।

१४२. अतोभिसऐस् ७।१।९

अतः (पं० ए०) भिसः (ष० ए०) ऐस्

[अकार से परे भिस् के स्थान पर 'ऐस' (होगा)]

(अकारान्तादङ्गाद्भिस ऐस् स्यात्) अनेकाल्-शित् सर्वस्य। रामैः।

हिन्दी अनुवाद—(अकारान्त अङ्ग से परे भिस् के स्थान पर ऐस् होगा) यतः यह ऐस् (ऐ-स) अनेकाल् है अतः सम्पूर्ण (भिस्) के स्थान पर होगा। (यथा–) रामैः।

व्याख्या—यह ऐसा देश विधायक सूत्र है। 'अङ्गस्य' का अधिकार होने यहाँ अङ्गात् में अङ्ग की अनुवृत्ति समझनी चाहिये और तदन्त विधि होने से 'अकारान्तात्' (अदन्तात्) अङ्ग+त् अर्थ प्राप्त होगा। इसके अनुसार अकारान्त अङ्ग से परवर्ती सम्पूर्ण भिस् के स्थान पर ऐस् होगा। यतः यहाँ आदेशभूत 'ऐस्' अनेकाल् है, अतः यहाँ 'अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति नहीं होगी 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' के अनुसार सम्पूर्ण 'भिस्'—स्थानी के स्थान पर 'ऐस' आदेश होगा। उदाहरणार्थ—

'राम+भिस्'—इस दशा में राम अकारान्त और 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से अङ्ग संज्ञक है, अतः उससे परे सम्पूर्ण 'भिस्' के स्थान पर ऐस् आदेश होगा—'राम+ऐस्'—इस स्थिति में वृद्धि और रुत्व विसर्ग होकर 'रामैः' रूप सिद्ध होगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

रामैः—'राम'-शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, तृतीया बहुवचन की विवक्षा में भिस् 'विभक्ति-प्रत्यय' 'राम+भिस्'—इस दशा में यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से राम की अङ्ग संज्ञा, इस प्रकार अदन्त अङ्ग राम से परे भिस् के स्थान पर 'अतो भिस्ऐस्' सूत्र से 'ऐस' की प्राप्ति, अलोऽन्त्यस्य के अनुसार अन्त्य अल् सकार के स्थान पर 'ऐस' आदेश विहित था, किन्तु यतः ऐस्

(ऐ-स्) अनेकाल है, अतः सम्पूर्ण 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस' आदेश विहित होगा। इस प्रकार—'राम+ऐस' इस दशा में 'वृद्धिरेचि' से 'स्थानेन्तरतमः' के सहकार से 'ऐ' वृद्धि एकादेश राम+ऐस् 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग 'रामैस्'—इस स्थिति में 'ससजुषोरुः' से सकार के स्थान पर 'रु' 'रामैरु' इस अवस्था में रु' के उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप 'रामै र्' इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से 'र' की अवसान संज्ञा और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से उसके स्थान पर विसर्ग करने पर 'रामैः' रूप व्युत्पन्न हुआ।

१४३. ङेर्यः ७।१।१३

ङेः (ष० ए०) यः (प्र० ए०)

(ङे के स्थान पर 'य' होता है।)

अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—अकारान्त अङ्ग से 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश होगा।

व्याख्या—यह य-आदेश-विधायक सूत्र है। इसमें 'अतोभिसऐस्' से 'अतः', 'अङ्गस्य' अधिकार सूत्र से विभक्ति विपरिणामपूर्वक 'अङ्गात' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है और तदन्त विधि से 'अदन्तात्' (अतः) 'अङ्गात्'—अर्थ करना पड़ता है। इस प्रकार इसके अनुसार अदन्त अङ्ग से परे 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश होता है। यथा—''राम+ङे'—इस दशा में अदन्त अङ्ग राम से परे ङे के स्थान पर प्रकृत सूत्र से 'य' आदेश होकर 'राम+य' रूप बनता है।

१४४. स्थानिवद्यादेशोऽनल्विधौ १।१।५६

स्थानिवदादेशः (प्र० ए०) अनल्विधौ (स० ए०)

[(अनल्विधि की स्थिति में आदेश स्थानिवत् (स्थानी के समान) होता है)।]

आदेशः स्थानिवत्स्यात्: नतु स्थान्यलाश्रयविधौ। इति स्थानिवत्त्वात् सुपि चेति दीर्घः। रामाय। रामाभ्याम्।

हिन्दी अनुवाद---अल्विधि के अतिरिक्त अन्यत्र आदेश स्थानिवत् (स्थानि-
र्मक या स्थानितुल्य) होगा। इस प्रकार स्थानिवत्त्व के कारण 'सुपि च' सूत्र
दीर्घ होगा और 'रामाय' (प्रयोग व्युत्पन्न होगा)। रामाभ्याम्

व्याख्या---यह स्थानिवद्भावातिदेश सूत्र है। इसके अनुसार यदि अल्विधि
प्रसंग न हो, तो अन्यत्र आदेश स्थानिवत् होंगे अर्थात् स्थानी-प्रयुक्त समस्त
र्य आदेश द्वारा भी होंगे। इस सूत्र में आदेश में स्थानी का अतिदेश या
धान कर दिया जाता है, और स्थानी तथा आदेश में स्वरूप भेद होते हुए
अभेद मान लिया जाता है, और स्थानी से विहितव्य समस्त कार्य आदेश से
हित होने लगते हैं। उदाहरणार्थ 'ङे' स्थानी के स्थान पर विधीयमान 'य'
देश में स्वरूपगत भेद है, अतः 'ङे' द्वारा विहित कार्य 'य' से सम्भव नहीं
अतः स्थानी 'ङे' स्वरूपगत भेदों के गुणधर्म 'सुप्त्व' के अतिदेशपूर्वक स्वरूप
द को भुलाकर अभेद मानकर 'ङे' द्वारा विहितव्य समस्त कार्य 'य' द्वारा
म्पन्न कराए जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र के स्पष्ट अवबोध के लिए 'स्थानी, आदेश; स्थानिवत् और
नल्विधि पदों का अर्थ-ज्ञान आवश्यक है।

स्थानी---स्थानमस्यास्ति इति स्थानी---जिसका स्थान हो, और जिसके
ान पर कोई आदेश या आगम होता है, उसे 'स्थानी' कहते हैं। उदा-
रणार्थ 'ङेर्यः' सूत्रानुसार 'ङे०' के स्थान पर 'य' आदेश होता है, अतः 'ङे०'
थानी' की संज्ञा से अभिहित होगा।

आदेश---स्थानिनः स्थाने शत्रुवद्भवति स आदेश---

स्थानी के स्थान पर शत्रुवत् उसे हटाकर जो होता है, अथवा जिसके
धान से किसी की निवृत्ति होती है उसे 'आदेश' कहते है। यथा 'ङे०' के
ान पर उसे हटाकर होने वाला विकल्प 'य' आदेश है।

स्थानिवत्---स्थानिवत् का अर्थ है---स्थानितुल्य या स्थानिधर्मक। स्था-
यो के गुणधर्म के आदेश में अतिदेश को 'स्थानिवत्त्व' कहेंगे। यथा---'ङे०'
विद्यमान 'सुप्त्व धर्म' का 'य' में अतिदेश स्थानिवत्त्व है। इस प्रकार सुप्त्व
न 'ङे०' से विहित समस्त कार्य अतिदेशित सुप्त्व युक्त 'य' से भी सम्भव
ो, फलतः 'सुपि च' से दीर्घ हो सकेगा।

अनल्विधि---न अल्विधिः अनल्विधिः---अर्थात् जो विधि अल्विधि नहीं
गी, उसे अनल्विधि कहेंगे। "अल् विधि का अर्थ है, एक वर्ण विधि अर्थात्

जिस विधि या नियम में स्थानी और आदेश में केवल एक अल् वर्ण होगा
तत्त्वोधिनीकार ने अल्विधि की निम्नाङ्कित चार व्युत्पत्तियाँ दी हैं।

(१) अला (तृतीया) विधि: इति अल्विधि:, तृतीया तत्पुरुष। यदि स्थान
अल् द्वारा कोई विधि करनी हो, तो आदेश स्थानिवत् नहीं होगा, उदाहरणार्थ
'व्यूढोरस्केन प्रयोग में विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हुआ है, विसर्ग अ
माना गया है, अतः यदि सकार आदेश को स्थानिवत् मान लिया जाय, त
विसर्ग के अटत्व का अतिदेश होने पर 'अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से अन्त्य नका
को णत्व होकर अशुद्ध और अनभीष्ट प्रयोग 'व्यूढोस्केण' बनने लगेगा
ध्यातव्य है, कि विसर्ग और सकार अल्विधि हैं, एक वर्ण विधि है, अतः यह
स्थानिवत्व सम्भव नहीं है।

(२) अल (पञ्चमी, विधि:, इति अल्विधि: (पंचमी)—इस विग्रह में भ
स्थानी अल् से परे कोई विधि होने पर भी आदेश स्थानिवत् नहीं होगा
उदाहरणार्थ—'दिव'-शब्द से 'सु' विभक्ति परे रहने पर 'दिव औत्' से वका
के स्थान पर 'औ' आदेश होकर 'दि और स्' रूप बनेगा, 'इको यणचि'
यणादेश होने पर 'द्यौस्'—इस स्थिति में यदि स्थानिवद्भाव से औकार में स्थान
वकार का धर्म हल्त्व का अतिदेश कर लिया जाय, तो 'हल्ङ्याब्भ्योदीर्घात्सु
तिस्यपृक्तं हल्' से सकार का लोप हो जायेगा, जो अभीष्ट नहीं है क्योंकि य
अलाश्रयविधि है।

(३) अलः (षष्ठी) विधि:, अल्विधि:, षष्ठी तत्पुरुष। अर्थात् स्थानी अ
के स्थान पर यदि कोई विधि करती हो, तो आदेश स्थानिवत् नहीं होगा
उदाहरणार्थ—'द्युकाम:' में 'दिव उत्' सूत्र से वकार स्थानी के स्थान पर 'उका
आदेश होता है। अतः यदि उकार में 'वल्त्व' का अतिदेश माना जाय, त
'लोपोव्योर्वलि' से उकार का लोप हो जायेगा, जो अल्विधि होने
अनभीष्ट है।

(४) अलि (सप्तमी) विधि: अल्विधि, सप्तमी तत्पुरुष,—अर्थात् स्थान
अल् के परे रहते यदि उससे पूर्व कोई विधि करनी हो, तो आदेश अल्वि
होने से स्थानिवत् नहीं होगा। यथा—'क इष्ट:'—प्रयोग में 'कर्+इष्ट:' इ
दशा में यदि इष्ट:' के इकार आदेश को स्थानिवत् अर्थात् यकार व
इश् मानें, तो 'हशि च' से उत्व हो जायगा, जो अनिष्ट है, क्योंकि य
अल्विधि है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है, कि अल्विधीतर अनल्विधि स्थानों पर ही आदेश स्थानिवत् होंगे। अर्थात् स्थानी से जो कार्य विहित हैं, वे आदेश से भी विहित होंगे। यथा—'राम+य'—इस स्थिति में यतः आदेश य—अनल्विधि है, इसमें 'य् और अ' दो वर्ण हैं और 'ङे०' द्वारा विहितव्य दीर्घत्व कार्य आदेश 'य' से भी विहित होगा, और 'रामाय' प्रयोग निष्पन्न होगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

रामाय—'राम'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, चतुर्थी एक वचन की विवक्षा में 'ङे०' विभक्ति, 'राम+ङे०'—इस दशा में 'ङेर्यः' सूत्र से 'अलोऽन्त्यस्य' के निषेधपूर्वक 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' के सहकार से 'यः' आदेश 'राम+य' 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' सूत्र से अनल्विधि दो वर्ण विधि होने से आदेश यकार में स्थानी 'ङे०' के सुप्त्व का अतिदेश, 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से अङ्ग संज्ञक राम से परे 'य' यञादि प्रत्यय होने से 'सुपि च' 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से मकारोत्तरवर्ती अकार का दीर्घत्व 'राम् आ य' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रामाय' रूप व्युत्पन्न हुआ।

४५. बहुवचने झल्येत् ७।१।१०३

बहुवचने (स० ए०) झलि (स० ए०) एत् (प्र० ए०)

[झलादि बहुवचन सुप् परे रहते एकार आदेश होगा।]

झलादौ बहुवचने सुप्यतोऽङ्गस्यैकारः स्यात्। रामेभ्यः

हिन्दी-अनुवाद—झलादि बहुवचन सुप् बाद में होने पर अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार होगा। यथा—रामेभ्यः।

व्याख्या—यह एत्वविधायक सूत्र है। इसमें 'अतो दीर्घो यञि' से 'अतः', 'सुपि च' से 'सुपि' और अधिकार सूत्र 'अङ्गस्य' से 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति की गयी है। 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषानुसार तदादिविधि का ग्रहण करके 'झलादौ सुपि' अर्थ किया जाता है। इसके अनुसार झलादि बहुवचन सुप् यदि बाद में हो तो, अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो जायगा। उदाहरणार्थ—'राम + भ्यस्' इस दशा में 'भ्यस्' रूप झलादि बहुवचन सुप् बाद होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग राम के अन्त्य अल् मकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर एकार आदेश होगा, और रामेभ्यः' रूप निष्पन्न होगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

रामेभ्य—'राम'-शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, चतुर्थी तथा पञ्चमी, बहुवचन की विवक्षा में 'भ्यस्' विभक्ति प्रत्यय, 'राम+भ्यस्'—इस दशा में अदन्त अङ्ग राम के बाद यञादि सुप् होने पर 'सुपि च' सूत्र दीर्घत्व की प्राप्ति, किन्तु यतः 'भ्यस्'—झलादि है अतः 'बहुवचने झल्येत्' से उसका निषेध और 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से मकारोत्तरवर्ती 'अकार' के स्थान पर 'एकार' आदेश 'राम एभ्यस्' इस 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेणसंयोज्यम' से वर्ण संयोग, 'रामेभ्यस्'—इस अवस्था में रुत्व विसर्ग ('ससजुषो रुः') से 'रु' 'रामेभ्यस्' इस दशा में 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से 'रु' के 'उकार' की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप 'रामेभ्य र्' इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से 'र्' की अवसान संज्ञा और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से उसके स्थान पर विसर्ग करने पर 'रामेभ्यः' रूप निष्पन्न हुआ। सुपि किम् ? पचध्वम्।

हिन्दी-अनुवाद—(वृत्ति में) 'सुपि' पाठ की क्या (आवश्यकता है)? पचध्वम् (में एकार के निषेधार्थ)।

व्याख्या—वृत्तिकार ने यह आशंका की कि यदि झलादि बहुवचन के साथ 'सुप्' अनुबन्ध न रखते, तो भी 'रामेभ्यः' आदि प्रयोग निष्पन्न हो ही जाते अतः 'सुप्' की क्या आवश्यकता है ? इसके समाधानार्थ यह तर्क देय है, कि 'पचध्वम्' प्रयोग में 'पच' अदन्त अङ्ग के पश्चात् 'ध्वम्' बहुवचन झलादि है किन्तु सुप् नहीं है, प्रत्युत तिङ है, अतः 'सुप्' न होने से यहाँ 'एकार' प्रकृत सूत्र से नहीं हुआ, अन्यथा 'पचेध्वम्' रूप अनिष्ट प्रयोग निष्पन्न होने लगता। अतः 'पचध्वम्' की सिद्धि में एकारत्व के निषेधार्थ 'सुपि' पाठ परमावश्यक था।

१४६. वावसाने ८।४।५६

वा (अव्यय) अवसाने (स० ए०)

[विकल्पतः अवसान में (झल् को चर् होता है।)]

अवसाने झलां चरो वा स्युः। रामात्, रामाद्, रामाभ्याम्, रामेभ्यः, रामस्य।

हिन्दी अनुवाद—अवसान में झल् को चर् विकल्प से होता है। (यथा—) रामात्-रामाद्, रामाभ्याम्, रामेभ्यः, रामस्य।

व्याख्या—यह अवसान में वैकल्पिक चर्त्व विधायक सूत्र है। इसमें 'झलां जश् झशि' से झलां और 'अभ्यासे चर्च' से चर् की अनुवृत्ति होती है। इसके अनुसार अवसान में झल् को वैकल्पिक चर् होता है। उदाहरणार्थ—'रामाद' में 'दकार'—झल् को प्रकृत सूत्र से विकल्प से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से—चर् होगा, जहाँ वैकल्पिक चर् नहीं होगा, वहाँ 'द्' ही रहेगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

रामात्—रामाद्—'राम–शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, पञ्चमी एक वचन की विवक्षा में 'ङसि' विभक्ति–प्रत्यय, 'राम + ङसि' इस दशा में 'टाङसिङसामिनात्स्याः' से 'ङसि' के स्थान 'आत्' आदेश. 'राम + आत्'—इस अवस्था में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घैकादेश 'राम् आ.त्' इस दशा में अज्झीनं व्यञ्जनं-परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग 'रामात्' इस दशा में 'झलां जशोऽन्ते' से 'तकार'—झल् के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार के 'दकार'—जश् करने पर 'रामाद्'—इस अवस्था में 'वावसाने' सूत्र से 'दकार'–झल् के स्थान 'तकार'–चर् का वैकल्पिक विधान नहीं होगा, वहाँ 'रामाद्' रूप बनेगा।

रामस्य—'राम' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, षष्ठी एक वचन की विवक्षा में 'ङस्' सुप् का आगमन, 'राम + ङस्' इस दशा में 'टाङसिङसामिनात्स्याः' सूत्र से 'ङस्' के स्थान पर स्य आदेश, 'राम + स्य'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यंजनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रामस्य रूप सिद्ध होगा।

१४७. ओसि च ७।३।१०४

ओसि (स० ए०) च (अव्यय)

[ओस् बाद में होने पर भी (एकार होगा)।]

हिन्दी अनुवाद—अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार (होगा)। (यथा—) रामयोः।

व्याख्या—यह भी एत्वविधायक सूत्र है। इसमें 'अतो दीर्घोयञि' से 'अतः', बहुवचने झल्येत्'' से 'एत्' और सम्पूर्ण अधिकार सूत्र 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति की गयी है। 'अत् अङ्गस्य का विशेषण है, अतः तदन्तविधि होगी। इसके अनुसार यदि अदन्त अङ्ग के पश्चात् 'ओस्' सुप् हो, तो उसके स्थान पर यहाँ भी एकार होगा। यथा—'राम + ओस'—इस दशा में अदन्त

'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से अङ्ग संज्ञक राम के पश्चात् 'ओस्' होने पर प्रकृत सूत्र यहाँ भी एकार 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से मकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर एकार आदेश होगा और 'राम+ओस्'—इस अवस्था में आदेश होने पर 'रामयोः' रूप व्युत्पन्न हो सकेगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

रामयोः 'राम'-शब्द की प्रतिपादिक संज्ञा, षष्ठी, सप्तमी द्विवचन की विवक्षा में ओस् सुप्, 'राम+ओस्'—इस दशा में 'ओसि च' सूत्र से 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से अदन्त और 'यस्मात्प्रत्यविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से अङ्ग संज्ञक राम के मकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर एकार आदेश, 'राम ए ओस' इस दशा में 'रामे ओस्' इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' से मकारोत्तर वर्ती एकार के स्थान पर अय् आदेश 'राम अय् ओस्' इस स्थिति में 'अज्झीन (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रामयोस्'—इस दशा में 'ससजुषोरुः' से एकार के स्थान पर 'रु' आदेश 'रामयो' 'रु' इस दशा में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से रु के उकार की इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'रामयो र्' इस अवस्था में रेफ की 'विरामोऽवसानम्' से अवसानसंज्ञा और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से उसके स्थान पर विसर्ग करने पर 'रामयोः' रूप व्युत्पन्न होगा।

२४८. ह्रस्वनद्यापोनुट् ७।१।५४

ह्रस्वनद्यापः (पं० ए०) नुट (प्र० ए०)

[ह्रस्व, नदी और आप् के पश्चात् नुट् (होगा)।]

ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादावन्ताच्चाङ्गात्परस्यामो नुडागमः।

हिन्दी अनुवाद—ह्रस्वान्त, नद्यन्त और आबन्त अङ्ग से परे आम् को नुट् आगम (होता है)।

व्याख्या—यह नुडागम विधायक सूत्र है। इसमें अधिकार सूत्र 'अङ्गस्य' से 'अङ्ग' 'आमि' सर्वनाम्नः सुट्' से 'आमि' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। 'उभयनिर्देशे पञ्चमी निर्देशो बली यात्'—इस न्याय से 'तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र से 'आमि' का षष्ठयन्त व्यवहार होगा।

प्रस्तुत सूत्र के 'ह्रस्वनद्यापो' पद में समाहार द्वन्द्व है, जिसका विग्रह है—"ह्रस्वश्च नदी च आप् च, तस्मात्।" यहाँ पञ्चमी दिग्योग में है। यहाँ पर

अध्याहार किया जाता है। इसके अनुसार ह्रस्वान्त, नद्यन्त 'यू स्त्र्याख्यौ नदी'—सूत्रानुसार ईकारान्त और ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द—(नदी, वधू आदि) तथा आन्त (टाप्, चाप् और डाप् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द—अजा, कौशल्या और सीमा आदि)। अङ्ग से परे 'आद्यन्तौ टकितौ' के नियमानुसार आम के आद्यवयवस्वरूप नुट् का आगम होगा। यथा—'राम+आम्'—इस दशा में ह्रस्वान्त अङ्ग राम के पश्चात्वर्ती 'आम्' के स्थान में आद्यवयस्वरूप नुट् का आगम होता है और 'रामाणाम्' प्रयोग बनता है। इसी प्रकार नद्यन्त अङ्ग बहुश्रेयसी के पश्चात् 'आम्' को नुट् होकर 'बहुश्रेयसीनाम्' और आबन्त 'रमा' के पश्चात् आम् को नुट् 'रमाणाम्' प्रयोग निष्पन्न होते हैं।

१९. नामि ६।४।३

नामि (स० ए०)

[नाम् परे होने पर (दीर्घादेश होगा)।]

(नामि परे) अजन्ताङ्गस्य दीर्घः। रामाणाम्। रामे। रामयोः एत्वे कृते।

हिन्दी अनुवाद—नाम परे रहते अजन्त अङ्ग के स्थान पर दीर्घ होता है। (यथा-) रामाणाम्, रामे, रामयोः। एत्व करने पर—

व्याख्या—यह दीर्घत्व विधायक सूत्र है। इसमें 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से 'दीर्घः' सम्पूर्ण अधिकार सूत्र 'अङ्गस्य' और 'अचश्च' से 'अचः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। 'अचः' के 'अङ्गस्य' के विशेषण होने से तदन्त विधि होगा। इसके अनुसार 'आम्' बाद मे होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से अजङ्ग के के अन्त्य अल् के स्थान पर दीर्घ आदेश होगा।

उदाहरणार्थ—'राम+नाम्'—इस दशा में यतः राम अजन्त है, और जिसकी 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' से अङ्ग संज्ञा हुई है, अतः प्रकृत सूत्र से अन्त्य अल् मकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर दीर्घत्व और 'अट्कुप्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि' से णत्व करने पर 'रामाणाम्' रूप बनेगा।

रूपसिद्धि-प्रक्रिया

रामाणाम्—'राम'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, षष्ठी बहुवचन की विवक्षा में 'आम्' सुप्, 'राम+आम्' इस स्थिति में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' सूत्र 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार से आम् के आद्यवयव स्वरूप नुट् का आगम, 'राम नुट् आम्'—इस दशा में नुट् के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार'

की 'उपदेशोऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप कर नेप
'राम न् आम्' इस स्थिति में 'अज्झीनं व्यञ्जनं परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयो
'राम+नाम्' इस अवस्था में 'नामि' सूत्र से 'अलोन्त्यस्य' के सहकार
मकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर दीर्घ 'अकार'—आदेश करने पर 'राम् अ
नाम्' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम् से वर्णसंयोग औ
'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से 'न्' को णत्व करने पर 'रामाणाम्' रूप निष्पन्न
होगा।

रामे—राम-शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, सप्तमी एकवचन की विवक्षा
'ङि' सुप्, 'राम+ङि'—इस दशा में 'लशक्वतद्धिते' से ङकार की इत्संज्ञा औ
'तस्यलोपः' से लोप करने पर 'राम+इ'—इस दशा में 'आद्गुणः' से गुणैक
देश करने पर 'रामे' रूप बनेगा।

१५०. आदेश प्रत्यययोः ८।३।५९

आदेशः (प्र० ए०) प्रत्यययोः (ष० द्वि०)

(आदेश और प्रत्यय के (अवयव भूत 'सकार' के स्थान पर 'षका
होगा।)]

इण्कुभ्यां परस्या पदान्तस्यादेशः प्रत्ययावयवश्च यः सः, तस्य मूर्धन्या-देशः
ईषद्विवृतस्य सस्य तदश एव षः। रामेषु। एवं कृष्णादयोप्यदन्ताः।

हिन्दी अनुवाद—इण् और कवर्ग से परे आदेशभूत और प्रत्यय के अवय
अपदान्त सकार के स्थान पर मूर्धन्य आदेश होगा। ईषद्विवृत्त सकार के स्थ
पर वैसा ही (ईषद्विवृत) षकार (होगा।) (यथा) रामेषु। इसी प्रका
कृष्णादि अदन्त भी (व्युत्पन्न होंगे)।

व्याख्या—यह षत्वविधायक सूत्र है। इसमें सम्पूर्ण 'अपदान्तस्यमूर्धन्य
सूत्र, 'सहेः साडः सः' से 'स' और सम्पूर्ण 'इण्कोः' सूत्र की अनुवृत्ति कर
पड़ती है। इसके अनुसार इण् और कवर्ग परवर्ती आदेशभूत और प्रत्ययाव
वरूप अपदान्त सकार को मूर्धन्यादेश होगा। अर्थात् (क) यदि सकार (
इण् और कवर्ग के बाद स्थित हो, (ii) अपदान्त हो, और (iii) आदेश हो,
तो इन तीनों अनुबन्धों की एक साथ पूर्ति होने पर उक्त 'सकार' के स्थान प
'षकार' आदेश हो जाएगा। इसी प्रकार (ख) यदि 'सकार' (i) इण् औ
कवर्ग से परे हो, (ii) अपदान्त हो और (iii) प्रत्यय का अवयव हो
तो भी उक्त तीनों अनुबन्धों की समकालिक पूर्ति होने पर उक्त सकार

'स्थानेऽन्तरतमः' षकार आदेश हो जायेगा। यथा-रामे + सु'-इस दशा में एकार इण् से परे अपदान्त सुप् प्रत्ययावयव 'सकार' के स्थान पर 'षकार' होकर रामेषु' रूप व्युत्पन्न होगा।

इसी प्रकार आदेशभूत 'सकार' के स्थान पर षत्व के उदाहरण स्वरूप 'सुष्वाप' और 'सिषेवे' ग्राह्य हैं।

ये धातु 'ष्वप्' और 'षेव'—इस मूलरूप में षोपदेश हैं। 'धात्वादेषः सः' —सूत्र से आदि 'षकार' को सकार आदेश होता है। अतः यहाँ सकार आदेशभूत है, अपदान्त और 'उकार' तथा 'इकार'—इण् से परवर्ती होने के कारण उसके स्थान पर षकारत्व होता है।

साधुत्व-प्रक्रिया

रामेषुः—'राम'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, सप्तमी बहुवचन की विवक्षा में सुप्—प्रत्यय, 'राम + सुप्'—इस अवस्था में पकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप 'राम + सु —इस दशा में 'बहुवचने झल्येत्' सूत्र से 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से अन्त्य अल् मकारोत्तरवर्ती 'अकार' के स्थान पर 'एकार' आदेश 'राम् ए सु'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रामेसु'—इस स्थिति में 'आदेश-प्रत्ययोः' से 'सु' के 'सकार' के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'षकार' करने पर 'रामेषु' रूप व्युत्पन्न होगा।

१५१. सर्वादीनिसर्वनामानि १।१।२७

सर्वादीनि (प्र० ब०) सर्वनामानि (प्र० ब०)

[सर्व आदि सर्वनाम (हैं)।]

सर्वादीनि शब्द स्वरूपाणि सर्वनाम संज्ञानि स्युः।

सर्व आदि शब्द रूप की 'सर्वनाम-संज्ञा' होती है। सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम,।

(ग० सू०) पूर्वपराऽवर दक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि
व्यवस्थायाम संज्ञायाम्।

(ग० सू०) स्वमज्ञाति धनाख्या याम्।

(ग० सू०) अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः।

त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम् ।

हिन्दी अनुवाद—सर्व (सब), विश्व (सम्पूर्ण, सब), उभ (दो), उभय (दोनों), अन्य (दूसरा)' अन्यतर [दो में से कोई (एक)], इतर (अन्य, भिन्न), त्वत् (एक या अनेक), त्व (एक अनेक या अन्य), नेम (आधा), सम (कोई, प्रत्येक या सब), सिम (सब), पूर्व (पूर्वदिशा, स्थान या काल की दृष्टि से प्रथम), पर (दूसरा), अवर (निम्न), दक्षिण (दक्षिण दिशा)' उत्तर (उत्तर दिशा), अपर (पश्चिम, अन्य), अधर (नीचा) ये सात शब्द यदि अपने अभिधेय की अवधि के नियमन में हों, अथवा असंज्ञा हों, तो सर्वनाम संज्ञक होंगे। ज्ञाति (बान्धव) तथा धन अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों में 'स्व' की सर्वनाम संज्ञा होती है। 'अन्तर' शब्द की बाह्य (बहिर्योग) और अधोपस्त्र (परिधान उप संव्यान) अर्थ में सर्वनाम संज्ञा होगी। (अन्य सर्वनाम पद हैं—) त्वद् (वह), तद् (वह), यद् (जो), एतद् (यह), इदम् (यह), अदस (वह) एक, द्वि, युष्मद् (तुम), अस्मद (मैं), भवत् (आप), किम् (कौन)।

व्याख्या—(उपर्युक्त अनुवादांश उद्धरणीय) सर्वादिगण में कुल ३५ शब्द परिगणित हैं जिन्हें निम्नाङ्कित कारिकाओं में संग्रहीत किया जा सकता है—

सर्वान्यविश्वोभयनेमयत्तदः किंयुष्मदस्मद्द्विभवच्च्यदेतदः।
उभत्वतोविज्ञजनैरुदीरितौ, समः सिमत्वान्यतरेतरा अपि॥

एकेदमदसो ज्ञेया डतमो डतमस्तथा।
स्वभज्ञातिधनेऽनाम्नि, व.लिदिग्देशवृत्तयः॥
पूर्वापरावरपरा उत्तरो दक्षिणाधरौ।
अन्तरं चोपसंव्याने बहिर्योगे तथाऽपुरी॥

१५२. जसः शी ७।१।१७

जसः (ष० ए०) शी (प्र० ए०)

[जस् के स्थान पर 'शी' (आदेश होगा)।]

अदन्तात्सर्वनाम्नो जसः शी स्यात्। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। सर्वे।

हिन्दी अनुवाद—अदन्त सर्वनाम से परे जस् के स्थान पर शी (आदेश) होगा। अनेकाल्त्व के कारण (यह शी) सर्वादेश (सम्पूर्ण के स्थान आदेश) होगा। (यथा—) सर्वे।

व्याख्या—यह शी विधायक सूत्र है। इसमें 'अतो भिस्ऐस्' से 'अतः' और 'सर्वनाम्नः स्मै' से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति होती है। यतः अतः 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि से 'अदन्त सर्वनाम'—अर्थ प्राप्त होता है। इसके अनुसार अदन्त सर्वनाम से परवर्ती जस् के स्थान पर शी आदेश होता है।

अब प्रश्न है, यह है, कि 'शी' सम्पूर्ण जस् के स्थान पर होगा ? अथवा किसी अंशमात्र के स्थान पर 'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार तो अन्त्य अल् 'स्' के स्थान पर 'शी' होना चाहिए, किन्तु यतः 'शी' (श + ई) अनेकाल् है, अतः 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' के अनुसार सम्पूर्ण 'जस्' के स्थान पर यह आदेश होगा।

अब पुनः यह विचारणीय, है, कि यतः यह आदेश 'शी (श्+ई)' 'अनेकाल्' और 'शित्' दोनों है, अतः सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर इसका विधान अनेकाल् मानकर होगा अथवा शित् मानकर ? इसका उत्तर है, कि अनेकाल् मानकर ही सर्वादेश होगा, शित् मानकर नहीं, क्योंकि 'शी' में 'श्' की इत्संज्ञा 'लशक्वतद्धिते' सूत्र से होती है और यह सूत्र तो केवल प्रत्यय के शकार, की इत्संज्ञा करता है। 'शी' प्रत्यय तो है नहीं, अतः उसके शकार की इत्संज्ञा सम्भव नहीं है, हाँ जब यह 'जस्' का स्थानापन्न हो जायेगा, तब "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" सूत्र से सुप्त्व का अतिदेश करने पर प्रत्यय मान लिया जायेगा, और तभी शित् हो सकेगा। अतः 'अनेकाल्' मानकर ही 'शी' सम्पूर्ण 'जस्' के स्थान पर विहित होगा। यथा– 'सर्वे' प्रयोग में 'सर्व + जस्' इस दशा में अदन्त सर्वनाम 'सर्व' से परे सम्पूर्ण 'जस्' के स्थान पर 'शी' आदेश 'सर्व+शी'—इस अवस्था में 'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप करने पर गुणैकादेशोपर्यन्त 'सर्वे' रूप सिद्ध होता है।

साधुत्व-प्रक्रिया

सर्वे—'सर्व'-शब्द की प्रथमा विभक्ति के एकवचन और द्विवचन में रामवत् 'सर्वः और सर्वौ' रूप बनेंगे, किन्तु बहुवचन में 'सर्वे' बनता है। 'सर्व' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा बहुवचन की विवक्षा में 'जस्' सुप्, 'सर्व+जस्' इस दशा में, 'सर्वादीनि सर्वनामानि' सूत्र 'सर्व' की 'सर्वनाम' संज्ञा और 'जसः शी' सूत्र से 'अलोऽन्त्यस्य' के वाधपूर्वक 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' के सहकार सम्पूर्ण जस् के स्थान पर 'शी' आदेश, 'सर्व+शी'—इस दशा में 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' से 'शी' में सुप्त्व के अतिदेश पूर्वकर प्रत्ययत्व का

आधान और 'लशक्वतद्धिते' से 'शकार' की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप 'सर्व + ई' – इस दशा में 'आद्गुणः' सूत्र से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से रेफोत्तरवर्ती 'अकार' और 'ईकार' के स्थान पर 'ए'—गुणादेश—'सर्व् ए' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'सर्वे' रूप सिद्ध होगा।

१५३. सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४

सर्वनाम्नः (ष० ए०) स्मै (प्र० ए०)

[सर्वनाम से परे 'स्मै' (होगा)।]

अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै। सर्वस्मै।

हिन्दी-अनुवाद—अदन्त सर्वनाम से परवर्ती ङे के स्थान पर 'स्मै' होगा। (यथा—) सर्वस्मै।

व्याख्या—यह स्मै विधायक सूत्र है। इसमें 'अतोभिसऐस्' से 'अतः' और 'ङेर्यः' से 'ङे' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है 'अतः' के 'सर्वनाम्नः' के विशेषण होने से तदन्तविधि से 'अदन्त' अर्थ किया जायगा। इसके अनुसार अदन्त सर्वनाम से परे 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' आदेश होगा। यह 'ङेर्यः' का अपवाद है। इसे अनेकाल् होने से 'अनेकाल शित् सर्वस्य' के अनुसार सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर विहित समझें। यथा—'सर्व+ङे'—इस अवस्था में अदन्त सर्वनाम से परे सम्पूर्ण 'ङे' के स्थान पर प्रकृत सूत्र से 'स्मै' होगा और 'सर्वस्मै' प्रयोग बनेगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

सर्वस्मै—'सर्व'-शब्द की प्रातिपदक संज्ञा और 'सर्वादीनि सर्वनामानि' से सर्वनाम संज्ञा, चतुर्थी एकवचन की विवक्षा में 'ङे' सुप् 'सर्व+ङे'—इस दशा में 'ङेर्यः' से 'य' आदेश की प्राप्ति, किन्तु प्रकृत सूत्र 'सर्वनाम्नः स्मै' से उसको निषेधपूर्वक 'स्मै' का अनेकाल्त्व के कारण 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' के अनुसार सम्पूर्ण ङे के स्थान पर विधान करने पर 'सर्वस्मै' रूप व्युत्पन्न होगा।

१५४.ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७।१।१५

ङसिङ्योः (ष० द्वि०) स्मात्स्मिनौ (प्र० द्वि०)

['ङसि और ङि' के स्थान पर (क्रमशः) 'स्मात् और स्मिन् होंगे।]

अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः। सर्वस्मात्।

हिन्दी अनुवाद—अदन्त सर्वनाम से परे इन दोनों (ङसि और ङि) के स्थान पर (क्रमशः) ये दोनों (स्यात् और स्मिन्) होंगे। यथा – सर्वस्मात्

व्याख्या—यह स्मात्स्मिन्विधायक सूत्र है। इसमें 'अतोभिस् ऐस्' से 'अतः' और सर्वनाम्नः 'स्मै' से सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। 'अतः' पद 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि से 'अदन्त' अर्थ प्राप्ति होगी। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के अनुसार स्थानी और आदेश के समसङ्ख्यक होने से आदेशभूत यथासङ्ख्य विधि से ङसि के स्थान पर 'स्मात' और ङि के स्थान पर 'स्मिन् होगा। 'ङसिङ्योः' में द्वन्द्व समास है, जिसका विग्रह होगा—'ङसिश्च ङिश्च'। इसके अनुसार अदन्त सर्वनाम से परे 'ङसि और ङि' के स्थान पर क्रमशः 'स्यात् और स्मिन्' होंगे।

ध्यातव्य है कि ये आदेश अनेकाल् हैं, अतः 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' के अनुसार सम्पूर्ण 'ङसि और ङि' के स्थान पर होंगे।

'स्मात्-स्मिन्'-रूप इन आदेशों के 'तकार' और 'नकार' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप होगा। किन्तु 'न विभक्तौ तुस्माः' से उसका निषेध हो जायेगा। यथा 'सर्व+ङसि'—इस अवस्था में अदन्त सर्वनाम सर्व से परे सम्पूर्ण 'ङसि' के स्थान पर 'स्मात्' करने पर 'सर्वस्यात्' और 'सर्व+ङि' ->सर्व+स्मिन्='सर्वस्मिन्' रूप व्युत्पन्न होंगे,।

ध्यातव्य है, कि 'सर्व+ङि'—इस दशा में 'ङकार' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप प्राप्त था, किन्तु प्रकृत सूत्र उसे वारित कर देता है, और ङि के स्थान पर 'स्मिन्' आदेश करता है।

साधुत्व-प्रक्रिया

सर्वस्मात्—'सर्व' शब्द की प्रातिपदिक और 'सर्वादीनि–सर्वनामानि' से सर्वनाम संज्ञा, पञ्चमी एक वचन की विवक्षा में ङसि–सुप्, 'सर्व+ङसि' इस दशा में 'टाङसिङसामिनात्स्याः' से आत् की प्राप्ति, किन्तु ङसिङ्योः–'स्मात्स्मिनौ' से उसका निषेध और 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' और 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' के सहकार से सम्पूर्ण 'ङसि' के स्थान पर 'स्मात्' आदेश का विधान करने पर 'सर्व+स्मात्'–इस अवस्था में 'हलन्त्यम्' से प्राप्त 'तकार' की इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से प्राप्त लोप के 'न विभक्तौ तुस्माः' से निषेध पूर्वक वर्ण संयोग करने पर 'सर्वस्यात्' रूप व्युपन्न होगा।

१५५ आमिसर्वनाम्नः सुट् ७।१।५२

आमि (स० ए०) सर्वनाम्नः (ष० ए०) सुट् (प्र० ए०)

[सर्वनाम से परे (विहित) आम् आने पर सुट् (आगम) (होता है)।]

अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः। एत्वषत्वे। सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्।

हिन्दी अनुवाद—अवर्णान्त से परे और सर्वनाम से विहित 'आम' आने पर उसके स्थान पर सुट् का आगम होता है। एत्व और षत्व होने पर। यथा—सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्।

व्याख्या—यह सुडागम विधायक सूत्र है। इसमें 'आज्जसेर सुक्' सूत्र से आत् की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। यतः 'आत्' 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है; अतः तदन्तविधि से 'अवर्णान्त'—अर्थ प्राप्ति होती है। इसके अनुसार अवर्णान्त सर्वनाम के पश्चात् 'आम्' को 'सुट्'—आगम होगा। टित्त्व के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' से सुट् स्थानी 'आम' के आद्यवयवस्वरूप प्रवृत्त होगा।

सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार 'सर्वनाम्नो विहितस्य' विशेषण आवश्यक है। स्वयं भट्टोजि दीक्षित ने 'द्वन्द्वे च' सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया है, कि यदि 'सर्वनाम्नः' आम् को सुट् मानें, तो 'वर्णश्रमेत्तर+आम'—इस दशा में 'इतर'—सर्वनाम् से परे 'आम्' को सुट् होकर 'वर्णाश्रमेत्तरेषाम्' रूप अशुद्ध प्रयोग बनने लगेगा। 'द्वन्द्वे च' समुदाय की सर्वनाम संज्ञा के निषेध होने पर भी अवयव 'इतर' की तो सर्वनाम संज्ञा होगी ही। यतः वर्णाश्रमेतर (असर्वनाम) से 'आम्' विहित है न कि इतर (सर्वनाम) से, अतः 'विहितस्य' विशेषण से सुट् नहीं होता।

सूत्र में पठित 'आमि' सप्तम्यन्त पद का 'उभय-निर्देश पञ्चमी निर्देशो बलीयान्' इस परिभाषानुसार 'तस्मादित्युत्तरस्य' से षष्ठी में विपरिणाम करना पड़ता है। उदाहरणार्थ—'सर्व+आम्'—इस दशा में अवर्णान्त सर्वनाम सर्व से विहित 'आम् के आद्यवयवस्वरूप सुट् का आगम होने पर 'सर्वसुट्जाम्' इस दशा में 'ट्' की 'हलन्त्यम' से और उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'सर्व स् आम्'—इस अवस्था में 'एत्व' एवं 'षत्व' पूर्वक वर्ण संयोग करने पर 'सर्वेषाम्' प्रयोग व्युत्पन्न होता है।

साधुत्व-प्रक्रिया

(१) सर्वेषाम्—'सर्व' शब्द की प्रातिपदिक एवं सर्वनाम संज्ञा, षष्ठी बहुवचन की विवक्षा आम् सुप् 'सर्व+आम्'—इस दशा में 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' से 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार से 'आम्' के आद्यवयवस्वरूप 'सुट्' आगम 'सर्व+सुट्+आम्' इस अवस्था में सुट् के 'टकार' की 'हलन्त्यम' से और 'ऊकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप+सर्व+स् +आम्'—इस दशा में 'सर्व' की 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रयत्ऽङ्गम्' से अङ्ग संज्ञा और 'बहुवचनुझल्येत' से 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से रेफोत्तरवर्ती 'अकार' के स्थान पर 'एकार'–सर्व-ए+स्+आम्'—इस अवस्था में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'सर्वे+साम्'—इस अवस्था में 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' से 'साम्' में सुप्त्व प्रत्ययत्व का अतिदेश और 'आदेशप्रत्यययोः' से 'साम'—प्रत्यय के अवयव 'स' का षत्व करने पर सर्वेषाम्' रूप सिद्ध होगा।

(२) सर्वस्मिन्—'सर्व' शब्द की प्रातिपदिक और सर्वनाम संज्ञा एवं सप्तमी एकवचन की विवक्षा में 'ङि' 'सुप्' 'सर्व+ङि' इस दशा में 'लशक्व-तद्धिते' से 'ङि' के ङकार की इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप और 'आदगुणः' से गुण होकर 'सर्वे रूप बन सकता था, किन्तु 'ङसिङ्योःस्मात्स्मिनौः' से उसका निषेध और 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' के सहकार से क्रमशः 'ङि' के स्थान पर 'स्मिन्' आदेश 'सर्व+स्मिन्'—इस अवस्था में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण–संयोग 'सर्वस्मिन्'—इस अवस्था में 'न' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप प्राप्त है, किन्तु 'न' 'विभक्तौतुस्माः' से उसका निषेध करने पर 'सर्वस्मिन्' रूप बनेगा। शेषम् रामवत् (शेष राम की भाँति)

॥ इति ॥

———

अथाजन्तस्त्रीलिंग प्रकरणम्

(इसके बाद स्त्रीलिंग-प्रकरण)

(१) रमा—'रमा'-शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा एक वचन की विवक्षा में 'सु' सुप् 'रमा + सु' इस दशा में सु के उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से और 'तस्यलोपः' से लोप, 'रमा + स्'—इस दशा में 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' 'स्' की अपृक्त संज्ञा और हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' सूत्र से लोप करने पर 'रमा' शब्द व्युत्पन्न होता है। यद्यपि 'सु' का लोप हो चुका है, तथापि 'रमा' शब्द प्रत्ययेलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सुबन्त ही रहेगा।

१५६. औङ आप ७।१।१८

औङः (ष० ए०) आपः (प० ए०)

[आबन्त से परे 'औ और औट्' के स्थान पर (शी आदेश होगा)]

आबन्तादंगात्परस्यौङः शी स्यात्। 'औङ' इति औकार विभक्तेः संज्ञा। रमे। रमाः।

हिन्दी-अनुवाद—आबन्त अंग से परे 'औ और औट्' के स्थान पर शी (आदेश) होगा। 'औङ्' औ और औट् का सूचक (संज्ञक) है। (यथा—) रमे, रमाः।

व्याख्या—यह शी विधायक सूत्र है। इसमें अधिकारत्वेन सम्पूर्ण अधिकार सूत्र 'अंगस्य' और 'जसः शी' से 'शी' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। पञ्चम्यन्त में विपरिणमित अंग आपः के विशेषणत्वेन तदन्तविधि होती है। इसके अनुसार आबन्त (टाप्, डाप् और चाप् से व्युत्पन्न) अंग से परे औङ् (औ, औट्) के स्थान पर 'शी' आदेश होगा। यथा—'रमा + औ (ट्)'—इस दशा में 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽगंम्' से अंग संज्ञक और आबन्त 'रमा' से परे औ और औट् के स्थान पर प्रकृत सूत्र से शी आदेश होकर 'रमे' रूप व्युत्पन्न होता है।

साधुत्व-प्रक्रिया

(२) रमे 'रमा'–शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा प्रथमा, सम्बोधन और द्वितीया द्विवचन में क्रमशः औ और औट् सुप् प्राप्ति, 'राम + औ (ट्)'–इस दशा में 'औङ

आप:' से औ और औट् के स्थान पर 'शी'—आदेश 'रमा+शी'—इस दशा में प्रत्ययत्व का अतिदेश और 'लशक्वतद्धिते' से 'शकार' की इत्संज्ञा, 'तस्य-लोपः से लोप 'रमा+ई'—इस अवस्था में स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'आद्गुण' से मकारोत्तरवर्ती 'आकार' और 'ईकार' के स्थान पर 'एकार' गुणैकादेश 'रम् ए'—इस अवस्था में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रमे' रूप व्युत्पन्न हुआ। सम्बोधन सूचक 'हे' जुड़ने पर हे रमे रूप बनेगा।

(३) रमा—'रमा' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा सम्बोधन और द्वितीया बहुवचन की विवक्षा में 'जस्' तथा 'शस्' विभक्ति प्रत्यय की प्राप्ति, 'रमा+जस् (शस्) इस दशा में जस् के जकार की तो 'चुट' से इत्संज्ञा और शस् के शकार की 'लशक्वतद्धिते' से इतसंज्ञा 'तस्य लोपः' से लोप 'रमा+अस्' इस दशा में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से मकारोत्तरवर्ती आकार और अस् के अकार के स्थान पर पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश 'रम्+आ+स्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'रमास' इस दशा में 'ससजुषो रुः' इस दशा में रु के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तयस्लोपः' से लोप, 'रमा र्' इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा और खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग करने पर 'रमाः' रूप सिद्ध होता है। सम्बोधन चिह्न 'हे' जोड़ने पर 'हे रमाः' हो जायेगा।

१५७. सम्बुद्धौ च ७।३।१०६

सम्बुद्धौ (स० ए०) च (अव्यय)

[सम्बुद्धि होने पर भी (आप् को एकार होगा)।]

आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ। एङ् ह्रस्वादिति सम्बुद्धिलोपः'। हे रमे, हे रमे, हे रामाः। रमाम्, रमे, रामाः।

हिन्दी अनुवाद—सम्बुद्धि होने पर आप (आबन्त) के स्थान पर एकार होगा। 'एङ्ह्रस्वात्००'—इस सूत्र से सम्बुद्धि का लोप हो जाएगा। (यथा–) हे रमे, हे रमे, हे रमाः। रमाम्, रमे, रमाः।

व्याख्या—यह एकार आदेश विधायक सूत्र है। इसमें 'बहुवचन झल्येत' से 'एत्' और 'आङि चापः' से 'आपः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार सम्पूर्ण आबन्त अंग को सम्बुद्धि परे रहते भी 'एकार' आदेश होगा, किन्तु

'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार सम्पूर्ण के स्थान पर नहीं केवल अन्त्य अल् के स्थान पर एकार होगा ।

साधुत्व-प्रक्रिया

(४) हे रमे:—'रमा' की प्रातिपदिक संज्ञा सम्बोधन एकवचन की विवक्षा में सु प्रत्यय है- 'रमा+सु'–इस दशा में 'एकवचन सम्बुद्धिः' से 'सु' की सम्बुद्धि संज्ञा 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' आवन्त रमा (रम्+अच्+टाप्) की अंग संज्ञा हुई सम्प्रति आवन्त अंग रमा के पश्चात् सम्बुद्धि 'सु' होने पर प्रकृत सूत्र 'सम्बुद्धौ च' से 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से मकारोत्तरवर्ती 'आकार' के स्थान पर 'एकार' आदेश करने पर 'हे रमे सु' 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से उकार की इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप, 'हे रमे स्'—इस दशा में 'एङ्-ह्रस्वात्०००' से 'स्' का लोप होने पर 'हे रमे' व्युत्पन्न होगा ।

(५) रमाम्—रमा शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, द्वितीया एकवचन की विवक्षा में 'अम्' सुप्, 'रमा+अम्' इस अवस्था में 'अमिपूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश 'रम् आ म्' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रमाम्' रूप सिद्ध होगा ।

१५८. आङि चापः ७।३।१०५

आङि (स० ए०) च (अव्यय) आपः (ष० ए०)

[और आङ् परे रहते आवन्त के स्थान पर भी (एकार होगा) ।]

आङि ओसि चाप एकारः । रमया, रमाभ्याम्, रमाभिः ।

हिन्दी-अनुवाद—आङ् और ओस् परे रहने पर भी आवन्त (अंग) के स्थान पर 'एकार' होगा । (यथा—) रमया, रमाभ्याम्, रमाभिः

व्याख्या—यह भी 'एकार' आदेश विधायक सूत्र है । इसमें 'बहुवचने झल्येत्' सूत्र 'एत्' 'ओसि च' से 'ओसि' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है । यह भी 'अङ्गस्य' के अधिकार क्षेत्र में है । 'आङ्' को काशिकाकार ने 'तृतीया—एकवचन' (टा) का द्योतक माना है—'आङिति पूर्वाचार्य-निर्देशेन तृतीयैक वचनं गृह्यते' । इसके अनुसार 'आङ्' और ओस् आने पर सम्पूर्ण आवन्त अङ्ग के स्थान पर 'एकार' होगा किन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार वह एकार केवल अन्त्य अल्, के स्थान पर होगा यथा— 'रमा+टा'—इस अवस्था में आवन्त

ौर 'यस्मात्यप्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽगंम्' के अनुसार अङ्गसंज्ञक आबन्त
मा के पश्चात् आङ 'टा' आने पर अन्त्य अल् मकारोत्तरवर्ती 'आकार' के
थान पर 'एकार' आदेश होने पर 'रमे+आ'—इस दशा में अयादेश होकर
रमया' रूप बनेगा ।

ाधुत्व-प्रक्रिया

(६) रमयाः—'रमा' शब्द की प्रतिपादिक संज्ञा, तृतीया एकवचन की
वक्षा में 'टा' सुप् 'रमा+टा'—इस दशा में आवन्त 'रमा' शब्द की 'यस्मा-
त्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से अङ्ग संज्ञा, अब आबन्त अङ्ग रमा के
श्चात् आङ् 'टा' आने पर 'आङ चापः' से 'अलोऽन्त्य' के सहकार से मका-
त्तरवर्ती 'आकार' के स्थान पर 'एकार' करने पर 'रम ए+टा' इस दशा
'चुटू' से टा के 'टकार' की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप 'रम् ए+
' इस दशा में 'एचोऽयवायावः' से 'ए' के स्थान पर अयादेश 'रम् अय आ'
 अवस्था में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर
मया' रूप सिद्ध हुआ ।

(७) रमाभ्याम्—'रमा' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, तृतीया, चतुर्थी
र पञ्चमी द्विवचन की विवक्षा में 'भ्याम्'—सुप्, वर्णसंयोग पूर्वक 'रमा-
याम्' रूप व्युत्पन्न हुआ ।

(८) रमाभि—'रमा' शब्द की प्रतपदिक संज्ञा, तृतीय बहुवचन की
वक्षा में 'भिस्' सुप्, 'रमा+भिस्'—इस दशा में 'ससजुषो रुः से स् को
व 'रमाभि रु'—इस दशा में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से रु के उकार की
संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप 'रमाभिर्' इस दशा में 'विरामोऽवसानम्'
रेफ की अवसान संज्ञा और 'खुरवसानयोर्विसर्जनीय' से विसर्ग होने पर
माभिः' रूप निष्पन्न होगा ।

९६—याडापः ७।३।११३

याड् (प्र० ए०) आपः (ष० ए०)

[आबन्त से परे (ङित् को) याट् (होगा) ।]

आपः ङितो याट् । वृद्धिः । रमायै, रमाभ्याम्, रमाभ्यः, रमायाः, रमयोः,
मणाम्, रमायाम् , रमासु । एवं दुर्गाऽम्बिकादयः ।

हिन्दी-अनुवाद—आबन्त (अङ्ग) से परे ङित् (ङे ङसि, ङस्, ङि) के स्थान पर 'याट'—आगम होगा। वृद्धि (होगी)। (यथा) रमायै, रमाभ्याम्, रमाभ्यः, रमायाः, रमयो, रमाणाम्, रमायाम्, रमासु। ऐसे दुर्गा और अम्बिका आदि (रूपों को भी सिद्ध होगी)।

व्याख्या—यह याडागम विधायक सूत्र है। इसमें 'घेर्ङिति' सूत्र से ङिति की अनुवृत्ति की जाती है। यहाँ भी 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'ङित्' का षष्ठ्यन्त में और अङ्गस्य का पञ्चमयन्त में विपरिणाम करना होगा। इसके अनुसार आबन्त अङ्ग से परे 'ङित्' को 'याट्'—आगम होगा। ङित् का अर्थ है 'ङकारः इतः यत्र'—अर्थात् जिसके ङकार की इत्संज्ञा हो, उसे ङित् कहेंगे जैसे—ङें, ङसि, ङस् और ङि। यतः याट् आगम टित है अतः वह 'आद्यन्तौ टकितौ' के अनुसार स्थानी ङित् के आद्यवयवस्वरूप प्रवृत्त होगा। यथा—'रमा+ङे'—इस दशा में प्रकृत सूत्र से टित्त्वेन ङित् के आद्यवयवस्वरूप याट् का आगम 'रमा+याट्+ङे'—इस दशा में अनुवन्ध लोप, 'रमा+या+ए' वृद्धिरेकादेश करके 'रमायै' रूप सिद्ध होगा। इसी प्रकार 'रमायाः' और 'रमायाम्' आदि को भी समझना चाहिये।

साधुत्व-प्रक्रिया

(९) रमायैः—'रमा' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, चतुर्थी एकवचन की विवक्षा में 'ङे' 'सुप्', 'रमा+ङे'—इस दशा में 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार से 'याडापः से ङित् 'ङे' के आद्यवयवस्वरूप 'याट्' आगम, 'रमा+याट्+ङे'—इस दशा में 'याट्' के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'ङे' के 'ङकार' की लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप, 'रमा+या+ए' इस अवस्था में यकारोत्तरवर्ती 'आकार' और 'एकार' के स्थान पर 'स्थानेन्तरतमः' के सहकार से 'वृद्धिरादैच्' में से 'वृद्धिरेचि' सूत्र से 'ऐ' वृद्धिरेकादेश 'रमा य् ऐ'—इस अवस्था में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'रमायै' रूप व्युत्पन्न होगा।

(१०) रमाभ्यः—'रमा' प्रातिपदिक संज्ञा, चतुर्थी, पञ्चमी बहुवचन की विवक्षा में 'भ्यस्' सुप्, 'रमा+भ्यस्—इस दशा में 'ससजुषो रुः' से स् के स्थान पर 'रु' 'रमाभ्य रु'—इस दशा में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'रु' के 'उकार' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप, 'रमाभ्य र्'—इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'रमाभ्यः' रूप निष्पन्न होगा।

(११) रमायाः—'रमा'—प्रातिपदिक संज्ञा, पञ्चमी तथा षष्ठी एकवचन की विवक्षा में क्रमशः 'ङसि' और 'ङस्' सुप्, 'रमा+ङसि (ङस्)'—इस दशा में ङसि के इकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा 'तस्यलोपः' से लोप, 'रमा+अस्'—इस दशा में 'ङकार' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'रमा+अस्'—इस दशा में 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार से 'याडापः' सूत्र से ङित् (ङसि और ङस्) के आद्यवयवस्वरूप 'याट्' आगम, 'रमा+याट्+अस्'—इस दशा में 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'रमा+या+अस्'—इस अवस्था में यकारोत्तरवर्ती 'आकार' और अस् के 'अकार' के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'आकार' दीर्घ एकादेश 'रमा+य्+आ+स्'—इस अवस्था में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'रमायास्'—इस अवस्था में 'ससजुषो रुः' से 'स्' के स्थान पर 'रुत्व' 'रमायारु'—इस अवस्था में रु के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य-लोप' से लोप 'रमाया र्'—इस अवस्था में रेफ की 'विरामोऽवसानम्' से अवसान संज्ञा और 'खरवसानयोर्विर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'रमायाः' रूप व्युत्पन्न हुआ।

(१२) रमयोः—'रमा'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, षष्ठी तथा सप्तमी द्विवचन की विवक्षा में 'ओस्' विभक्ति प्रत्यय, 'रमा+ओस्'—इस दशा में 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से अङ्ग संज्ञक आबन्त रमा के पश्चात् 'ओस्' होने पर 'आङिचापः' से 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से अन्त्य अल् मकारोत्तरवर्ती 'आकार' के स्थान पर 'एकार' आदेश 'रम्+ए+ओस्'—इस अवस्था में 'एचोऽयवायावः' से 'ए' के स्थान पर अयादेश, 'रम्+अय्+ओस'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'रमयोस्'—इस अवस्था में 'ससजुषो रुः' से 'स्' के स्थान पर रुत्व 'रमयो रु'—इस अवस्था में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से रु के 'उकार' की इत्संज्ञा और 'तस्य लोप' से लोप 'रमयो र्'—इस स्थिति में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा और 'खरवसानयोविसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'रमयोः' रूप निष्पन्न हुआ।

(१३) रमाणाम्—'रमा'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, षष्ठी बहुवचन की विवक्षा में 'आम्' सुप्, 'रमा+आम्'—इस स्थिति में 'आद्यन्तौटकितौ' के सहकार से 'ह्रस्वनद्यापोनुट्' से टित् 'नुट्' आदेश की 'आम्'—स्थानी के आद्यवयवस्वरूप प्रवृत्ति—'रमा नुट् आम्'—इस अवस्था में 'नुट्' के टकार की

'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा तथा 'तस्यलोपः' से लोप--'रमा+न्+आम्'—इस अवस्था में 'नामि' से दीर्घत्व 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' 'न्' को 'ण्' करने पर 'रमा+ण्+आम्'--इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर "रमाणाम् रूप सिद्ध हुआ।

(१४) रमाणाम्—'रमा'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, सप्तमी एकवचन की विवक्षा में ङि सुप्, 'रमा+ङि'—इस दशा में आबन्त रमा के पश्चात् ङि आने पर 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से ङि के स्थान पर 'आम्'—'रमा+आम्'—इस दशा में 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' से 'आम्' में 'ङित्व' का अतिदेश 'याडापः' सूत्र से 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार ऐ 'आम्' आद्यवयवस्वरूप 'याट्' आगम—'रमा+याट्+आम्'—इस अवस्था में याट् के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोप' से लोप 'रमा+या+आम्'—इस अवस्था में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से यकारोत्तरवर्ती 'आकार' और आम् के 'आकार' के स्थान 'आ' दीर्घ एकादेश—'रमा+य्+आ+य्'—इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'रमायाम्' रूप सिद्ध होगा।

(१५) रमासु—'रमा'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा एकवचन की विवक्षा में सुप् प्रत्यय, 'रमा+सुप्'—इस दशा में सुप् के 'प्' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप, करने पर 'रमासु' रूप सिद्ध होगा।

मतिशब्द

साधुत्व प्रक्रिया

(१) मतिः—'मति' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा एकवचन की विवक्षा में 'सु' सुप्, 'मति+सु'—इस दशा में 'सु' के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोप' से लोप, 'मति+स्'—इस अवस्था में 'ससजुषोरुः' से 'स' को रुत्व, 'मतिरु'—इस दशा में रु के उकार को 'उपदेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'मति र्'—इस अवस्था में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसानसंज्ञा और खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग करने पर 'मतिः' रूप सिद्ध हुआ।

(२) मती—'मति' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा—द्वितीया द्विवचन की विवक्षा में औट (ट्) विभक्ति प्रत्यय 'मति+औ (ट्)' इस दशा में 'औट्' के

तकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'मति+औ'—इस दशा में 'प्रथमयोः पूर्व सवर्णः' से तकारोत्तरवर्ती इकार अक् से परे प्रथमा-द्वितीया के 'औ' अच् होने से पूर्वा पर 'इ' और 'औ' के स्थान पर 'ईकार' रूप पूर्व सवर्णदीर्घ एकादेश 'मत् ई'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'मती' रूप सिद्ध हुआ।

(३) मतयः—'मति'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा बहुवचन की विवक्षा में 'जस्' विभक्ति प्रत्यय् 'मति+जस् इस दशा में 'चुटू से 'जकार की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप—'मति+अस्'—इस दशा 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घत्व की प्राप्ति, किन्तु 'जसि च' से उसका निवारण और 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'अलोऽन्त्यस्य' के विधानानुसार 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से अङ्ग-संज्ञक ह्रस्वान्त मति के अन्त्य अल् 'इकार' के स्थान पर 'एकार' गुणादेश 'मत्+ए+अस्' इस दशा में 'एचोऽयवायाव' से 'ए' के स्थान पर अयादेश 'मत्+अय्+अस्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम् से वर्णसंयोग 'मतयस्'—इस दशा में 'ससजुषोरुः' से 'स' को रुत्व 'मतयरु'—इस अवस्था में रु के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से इत्संज्ञा और 'तस्य-लोपः' से लोप 'मतयर्'—इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा और खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'मतयः' रूप सिद्ध हुआ।

(४) मतिम्—'मति' शब्द की प्रातिपदक संज्ञा, द्वितीया एकवचन की विवक्षा में 'अम्' सुप्, 'मति+अम्'—इस दशा में 'अमि पूर्वः' से 'इकार' अक् से परे 'अम्' के अकार अच् आने पर इकार और अकार के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश अर्थात् 'इ' करने पर 'मत इम्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'मतिम्' रूप बना।

(५) मतीः —'मति'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, द्वितीय बहुवचन की विवक्षा में शस् सुप्, मति+शस्—इस दशा में 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'मति+अस्'—इस स्थिति में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से इकार और उकार के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ 'ईकार' आदेश 'मत् ई स्— इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'मतीस्' स्त्रीलिंगत्वेन तस्माच्छसो नः पुंसी' की अप्रवृत्ति 'मतीस्'—इस स्थिति में 'स्' को 'ससजुषो रुः' से रुत्व 'मतीरु'—इस दशा में 'उपदेशेऽज-नुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से 'मती र्'—इस दशा में 'विरामोऽव-

सानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'मतीः' रूप की सिद्धि हुई।

(६) मत्या—'मति'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, तृतीया एकवचन की विवक्षा में 'टा' सुप्, 'मति+टा'—इस दशा में 'चुटू' से टकार की इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप—मति+आ'–इस स्थिति में 'इको यणचि स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से तकारोत्तरवर्ती इकार के स्थान पर 'यकार' यणादेश करने पर 'मत्+य+आ' इस दशा में 'अज्झीन (व्यंजनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर मत्या रूप बना। ('मति' के स्त्रीलिंग होने से 'शेषोघ्यसखि' से घिसंज्ञा होने पर भी 'आङोनाऽस्त्रियाम्' से 'टा' के स्थान पर 'ना' नहीं होगा, अतः)

(७) मतिभ्याम्—'मति' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी द्विवचन की विवक्षा में 'भ्याम्' सुप् आने पर 'मतिभ्याम्' रूप बनेगा।

(८) मतिभिः —'मति' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, तृतीया बहुवचन की विवक्षा में 'भिस्' सुप्, 'मति+भिस्'—इस दशा में 'ससजुषो रुः' से 'स' के स्थान 'रु' 'मतभिरु'—इस स्थिति में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'रु' के 'उकार' की इत्संज्ञा 'तस्यलोपः' से लोप, 'मति र्'—इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'मतिभिः' रूप व्युत्पन्न होगा।

१६०. ङिति ह्रस्वश्च १।४।६

ङिति (स० ए०) ह्रस्वः (प्र० ए०) च (अव्यय)

[ङित् (प्रत्यय) बाद में होने पर ह्रस्व भी (विकल्प से नदी संज्ञक होगा)]

इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्य स्त्रीलिंगावीदूतौ, ह्रस्वौ च इवर्णो वर्णौ स्त्रियां वा नदी संज्ञौ स्तो ङिति। मत्यै—मतये। मत्याः—मतेः।

हिन्दी अनुवाद—ङित् परे रहते स्त्री शब्द से भिन्न ऐसे नित्य स्त्रीलिंग दीर्घ ईकार एवं ऊकार और ह्रस्व इकार और उकार की भी, जिनके स्थान

पर इयङ् और उवङ् आदेश हों, स्त्रीलिंग में वैकल्पिक नदी संज्ञा होती है। (यथा—) मत्यै–मतये । मत्याः–मतेः ।

व्याख्या—यह वैकल्पिक नदी संज्ञा—विधायक सूत्र है। इसमें सम्पूर्ण 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' सूत्र 'नेयङुवङ्स्थाना वस्त्री' से 'न' को छोड़कर सम्पूर्ण सूत्र और 'वाऽमि' से 'वा' पद अनुवृत्त होगा। इसके अनुसार स्त्री शब्देतर नित्य स्त्रीलिंग वे ईदन्त-इदन्त और ऊदन्त-उदन्त शब्द, जिनके (ई-इ, ऊ-उ) के स्थान पर क्रमशः इतङ् और उयङ् आदेश हों, विकल्प से नदी संज्ञक होंगे, यदि उनके बाद ङित् प्रत्यय हों। यथा—श्री श्रियै, श्रिये), मति (मत्यै—मतये), भ्रू (भ्रुवै–भ्रुवे), धेनु (धेन्वै–धेनवे) आदि।

साधुत्व-प्रक्रिया

(९) मत्यै—मतये:—'मति' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, चतुर्थी एक वचन की विवक्षा में 'ङे' प्रत्यय, 'मति+ङे'—इस दशा में ङिति नदी संज्ञा संज्ञा और 'आण्नद्याः' से 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार से टित्वेन 'ङे' के आद्यवयवस्वरूप आट् का आगम 'मति+आट्+ङे'—इस दशा में 'ह्रस्वश्च' से विकल्प से मति की 'लशक्वतद्धिते' से ङकार की इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप 'मति+आट्+ए'—इस दशा में 'आट्' के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप 'मति+आ+ए'—इस दशा में 'आटश्च' से आ और 'ए' के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'वृद्धिरेचि' में से 'ऐ' वृद्धिरेकादेश –'मति+ऐ'–इस दशा में तकारोत्तरवर्ती 'इकार और 'ऐ' के स्थान पर 'इकोयणचि' से 'स्थानेऽन्तरमः' के सहकार से 'यकार' रूप यणादेश 'मत्+य्+ऐ'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर मत्यै रूप व्युत्पन्न हुआ। जहां 'ङितिह्रस्वश्च' सूत्र से मति की वैकल्पिक नदी संज्ञा नहीं होगी, वहाँ 'शेषो घ्यसखि' सूत्र से मति की घि–संज्ञा होगी और 'घेर्ङिति' से 'स्थानेऽन्तरतमः' और 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से अन्त्य अल् तकारोत्तरवर्ती 'इकार' के स्थान पर 'एकार' गुण करने पर 'मत् ए+ए'—इस दशा में 'एचोऽयवायावः' से अयादेश 'मत्+अय्+ए' —इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'मतये' रूप सिद्ध हुआ।

(१०) मतिभ्यः—'मति'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, चतुर्थी और पञ्चमी बहुवचन की विवक्षा में 'भ्यस् सुप्'—'मतिभ्यस्'—इस दशा में

'ससजुषोरुः' 'मतिभ्यरु' 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से 'रु' के 'उकार' की इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप, 'मतिभ्यर्' इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा, और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर मतिभ्यः रूप व्युत्पन्न हुआ।

(११) 'मत्या–मते'—'मति'–शब्द की प्रतिपादिक संज्ञा, पञ्चमी, षष्ठी एकवचन की विवक्षा में क्रमशः ङसि और ङस् सुप्, मति+ङसि (ङस्),— इस दशा में ङसि के 'इकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से इत्संज्ञा 'तस्यलोपः' से लोप, 'मति+ङस्'—इस दशा में 'लशक्वतद्धिते' से 'ङ्' की इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप 'मति+अस्'—इस दशा में 'ङितिह्रस्वश्च' से 'मति' की वैकल्पिक नदी संज्ञा 'आ० नद्याः' से 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार से ङित् के आद्यवयवस्वरूप 'आट्' आगम 'मति+आट्+अस्' इस दशा में 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप 'मति+आ+अस्'—इस अवस्था में 'आटश्च' से आट् के 'आ' और अचभूत अस् के 'अ' के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'वृद्धिरादैच' में से 'आ' वृद्धिरेकादेश 'मति+आ+स्'—इस अवस्था में 'इकोयणचि' से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से तकारोत्तरवर्ती इकार के स्थान पर 'य्' रूप यणादेश, 'मत्+य्+आ+स्'– इस अवस्था में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'मत्यास्'—इस स्थिति में 'ससजुषो रुः' से रुत्व, 'मत्यारु'–इस दशा में 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से रु के 'उकार' की इत्सज्ञा 'तस्यलोपः' से लोप, 'मत्यार्'–इस स्थिति में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसानसंज्ञा, 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'मत्याः' रूप बना।

'मति की जहाँ 'ङितिह्रस्वश्च' से वैकल्पिक नदी संज्ञा नहीं होगी, वहाँ 'शेषो घ्यसखि' से घिसंज्ञा और 'घेर्ङिति' से 'स्थानेऽन्तरतमः' और 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से अन्त्य अल् तकारोत्तरवर्ती 'इकार' के स्थान पर 'ए' गुण 'मत्+ए+अस्'—इस दशा में 'ङसिङसोश्च' से 'ए और अ' के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश 'मत्+ए+स्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग 'मतेस्'—इस दशा में पूर्ववत् रुत्व विसर्ग होने पर 'मतेः' रूप सिद्ध होगा।

(१२) मत्योः —'मति'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, षष्ठी—सप्तमी द्वि-वचन की विवक्षा में 'ओस्' सुप्, 'मति+ओस्'—इस दशा में 'इकोयणचि' से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से तकारोत्तरवर्ती 'इकार' के स्थान पर यणादेश

'मत य् ओस्'–इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग 'मत्योस्'—इस दशा में 'ससजुषो रुः' से रुत्व 'मत्योर्' 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से रु के 'उकार' की इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'मत्योर्'—इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसानसंज्ञा और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'मत्योः' रूप सिद्ध हुआ।

(१३) मतीनाम्—'मति'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, षष्ठी बहुवचन की विवक्षा में 'आम्' सुप्, 'मति+आम्'—इस दशा में ह्रस्वनद्यापोनुट्' 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार से टित्त्वेन स्थानी 'आम्, के आद्यवयवस्वरूप 'नुट्' आगम 'मति नुट्+आम्'—इस दशा मे 'नुट्' के 'टकार' की 'हलन्त्यम् से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिकइत' से इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप, मति +न्+आम्'—इस दशा में मति की 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' से अङ्ग—संज्ञा, अजन्त अङ्ग, मति के अन्त्य अल् 'इकार' से 'नामि' सूत्र से अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से 'मत् +ई+न्+आम्' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'मतीनाम्, रूप सिद्ध हुआ।

१६१. इदुद्भ्याम् ७।३।११७

इदुद्भ्याम् (प० ए०)

[ह्रस्व इकार और उकार से परे ('ङि' को 'आम्' होगा।)]

इदुद्भ्यां नदी संज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्। मतौ। शेषं हरिवत्। एवं बुद्ध्यादयः।

हिन्दी अनुवाद—ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त नदी संज्ञक (शब्दों) से परे 'ङि' के स्थान पर 'आम्' (आदेश) होगा। (यथा—) मत्याम्—मतौ। शेष 'हरि' के समान ऐसे ही 'बुद्धि' आदि भी होंगे।

व्याख्या—यह 'आम' विधायक सूत्र है। इसमें 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से 'नदीभ्याम्' (विभक्तिपरिणाम पूर्वक) तथा 'ङेराम्' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार नदीसंज्ञक इत् (इदन्त) और उत् (उदन्त) से परे 'ङि' को 'आम्' आदेश होगा। यथा—'मति+ङि'—इस दशा में नदी संज्ञक 'मति' इदन्त से परे 'ङि' को प्रकृतसूत्र से 'आम्' होकर यणादेश पूर्वक 'मत्याम्' रूप सिद्ध होगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

(१४) **मत्याम्—मतौ**—'मति'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, सप्तमी एकवचन की विवक्षा में 'ङि' सुप् 'मति+ङि'—इस स्थिति में 'ङिति ह्रस्वश्च' से मति की विकल्प से नदी संज्ञा 'इदुद्भ्याम्' से नदी संज्ञक इदन्त मति से परे 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश, 'मति+आम्'—इस अवस्था में 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' से 'आम्' में ङित्व का अतिदेश 'आण्नद्याः' से अतिदेशित 'ङित्—आम्' के टित्वेन आद्यवयवस्वरूप नाट् का आगम, 'मति+आट्+आम्'—इस दशा में 'ट्' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप, 'मति+आ+आम्'—इस अवस्था में 'आटश्च' से आट् के 'आ' और आम् के 'आ' के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'वृद्धिरादैच्' में से 'आ' वृद्धिरेकादेश 'मति+आ+म्'—इस अवस्था में 'इकोयणचि' से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से तकारोत्तरवर्ती 'इकार' के स्थान पर 'य' यणादेश, 'मत्+य्+आ+म्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'मत्याम्' रूप सिद्ध हुआ।

जहाँ 'ङिति ह्रस्वश्च' से मति की वैकल्पिक नदी—संज्ञा नहीं होगी, वहाँ 'शेषो घ्यसखि' से 'मति' की घि—संज्ञा, 'अच्च घेः' सूत्र से 'ङि' के इकार के स्थान पर 'औ' तथा 'अलोऽन्त्यस्य' के सहकार से घिसंज्ञक 'मति' के अन्त्य अल् तकारोत्तरवर्ती 'इकार' के स्थान पर 'अ' आदेश 'मत्अ+ङ्+औ'—इस दशा में 'ङ्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'मत्+अ+औ'—इस दशा में 'वृद्धिरेचि' से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'वृद्धिरादैच्' में से 'औ' वृद्धिरेकादेश 'मत्+औ'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'मतौ' रूप सिद्ध हुआ।

(१५) **मतिषु**—'मति' शब्द प्रातिपदिक संज्ञा, सप्तमी बहुवचन की विवक्षा में 'सुप्' प्रत्यय, 'मति+सुप्'—इस दशा में 'हलन्त्यम्' से सुप् के 'पकार' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः से लोप 'मति+सु'—इस स्थिति में 'आदेश प्रत्यययोः' से तकारोत्तरवर्ती इकार—इण् के पश्चात् अपदान्त प्रत्ययावयव 'सु' के सकार के स्थान पर षत्व 'मति+ष्+उ' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग पूर्वक, 'मतिषु' रूप व्युत्पन्न हुआ।

(१६) **हे मते**—'मति'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, सम्बोधन एकवचन की विवक्षा में प्रथमा एकवचन का 'सु' विभक्ति प्रत्यय सु के 'उकार' की

'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'इत्'-संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप, 'एकवचनं सम्बुद्धिः' से 'सु' की सम्बुद्धि-संज्ञा 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण और 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से इकार के स्थान पर 'अदेङ् गुणः' में से 'ए' गुण 'मत् ए स्'—इस दशा में 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से 'स्' का लोप, 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'मते' रूप व्युत्पन्न हुआ, सम्प्रति 'हे' सम्बोधन-चिह्नाङ्कन करने पर 'हे मते' रूप बनेगा

विशेष—सम्बोधन द्विवचन एवं बहुवचन के रूप प्रथमा द्विवचन एवं बहुवचन के रूपों में 'हे' चिह्न जोड़ने पर बनेंगे।

स्त्री

१६२. स्त्रियाः ६।४.७९

स्त्रियाः (ष० ए०)

[स्त्री' (शब्द) के स्थान पर (अजादि प्रत्यय परे इयङ् होगा)]

अस्येयङ् स्यादजादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ, स्त्रियाः।

हिन्दी अनुवाद—इसके (स्त्री के) स्थान पर अजादि प्रत्यय परे 'इयङ्' (आदेश) होगा। (यथा—) स्त्रियौ, स्त्रियाः।

व्याख्या—यह 'इयङ्' आदेश विधायक सूत्र है। इसमें 'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' से 'अचि' और 'इयङ्' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। 'अचि' पद अध्याहृत प्रत्यय का विशेषण है, अतः तदादिविधि से 'अजादि'—अर्थ की प्राप्ति होती है। इसके अनुसार यदि अजादि प्रत्यय बाद में हो, तो 'स्त्री'—शब्द को 'इयङ्' आदेश होगा। यह यद्यपि अनेकाल्त्वेन 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' सूत्र से इयङ् आदेश सम्पूर्ण 'स्त्री' स्थानी के स्थान पर प्राप्त था, तथापि 'ङिच्च' से अन्त्य अल् 'ईकार' के स्थान पर 'इयङ्' होगा। उदाहरणार्थ—

'स्त्री+औ'—इस स्थिति में 'औ' अजादि प्रत्यय परे 'स्त्री' के अन्त्य ईकार के स्थान पर 'इयङ्' होने पर 'स्त्र् इयङ्+औ'—इस दशा से इयङ् के 'ङ्' की हलन्त्यम्' से और 'अ' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से लोप 'स्त्र+इय्+औ' वर्ण संयोग 'स्त्रियौ'—रूप व्युत्पन्न होगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

(१) **स्त्री**—'स्त्री' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा एकवचन की विवक्षा में 'सु' विभक्ति, 'स्त्री+सु'—इस दशा में 'सु' के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप, 'स्त्री+स्'—इस दशा में यतः ङीष् प्रत्ययान्त 'स्त्री' शब्द ङ्यन्त है और 'अपृक्त एकाल् प्रत्यय' से 'स्' अपृक्त संज्ञक है, अतः 'हल्-ङयाब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्य प्रक्तं हल्' से अपृक्त 'स्' का लोप करने पर 'स्त्री' शब्द व्युत्पन्न हुआ ।

(२) **स्त्रियौ**—'स्त्री'-शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा-द्वितीया तथा सम्वोधन द्विवचन की विवक्षा में 'औ अथवा औट्' सुप, 'स्त्री+औ (ट्)'—इस दशा में औट् के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप, 'स्त्री+औ'—इस दशा में 'स्त्रिया' सूत्र से 'इयङ्' आदेश, अनेकाल्त्वेन 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण स्त्री के स्थान पर 'इयङ्' की प्राप्ति किन्तु 'ङित्वेन' 'ङिच्च' से केवल अन्त्य अल् 'ईकार' के स्थान पर 'इयङ्' का विधान 'स्त्र्+इयङ्+औ'—इस दशा में 'हलन्त्यम्' से 'इयङ्' के 'ङ्' की और "उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'अकार' की इत्संज्ञा, और 'तस्य लोपः' से लोप, 'स्त्र्+इय्+औ'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'स्त्रियौ' रूप व्युत्पन्न होता है । हे सम्वोधन चिह्न लगाने से 'हे स्त्रियौ' रूप हो जायेगा ।

(३) **स्त्रियः**—'स्त्री' शब्द प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा तथा सम्वोधन वहुवचन की विवक्षा में जस् सुप्, स्त्री+जस्—इस दशा में जस् के 'जकार' की 'चुट्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्री+अस्' दशा में 'स्त्रियाः' सूत्र से 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' के निषेध पूर्वक 'ङिच्च' के सहकार से अन्त्य अल् 'ईकार' के स्थान पर 'ईयङ्' आदेश, 'स्त्र+इयङ्+अस्' इस दशा में इयङ् के 'ङ' की 'हलन्त्यम्' से और अकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इकु' से इत्संज्ञा; 'तस्य लोपः' लोप, 'स्त्र+इय्+अस्—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'स्त्रियस्' दशा में 'ससजुषो सः' से 'स' को रुत्व; 'स्त्रियरु—इस स्थिति में रु का 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्रियर्' विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा और 'खरवसानयो विसर्गनीयः' से विसर्ग करने पर 'स्त्रियः' रूप निष्पन्न हुआ । 'हे' सम्बोधन चिह्नांकन से 'हे स्त्रियः' रूप हो जायेगा ।

१६३. वाऽम्शसोः ६।४।८०

वा (अव्यय) अम्शसोः (स० द्वि०)

[अम् और शस् के बाद में आने पर (इयङ्) विकल्प से (होगा) ।]

अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वास्यति,। स्त्रियम्स्त्रीम्, स्त्रिमः स्त्रीः, स्त्रिया, स्त्रियै, स्त्रियाः । परत्वात्नुट् स्त्रीणाम् स्त्रीषु ।

हिन्दी अनुवाद—अम् और शस् विभक्तियों के परे रहने पर स्त्री शब्द के स्थान पर इयङ् वैकल्पिक होगा, (यथा) स्त्रियम् स्त्रीम्·······

व्याख्या—यह वैकल्पिक इयङ् का विधायक सूत्र है, इसमें स्त्रियाः सूत्र और अचिश्नु धातु भ्रुवां य्वोरियङुवङौ से इयङ् की अनुवृत्ति करनी पड़ती है।

इसके अनुसार अम् और शस् आने पर स्त्री शब्द के स्थान पर वैकल्पिक इयङ् होगा, यथा—'स्त्री+अम्' इस दशा में 'इयम्' होकर स्त्रियम् रूप और अभावे पक्ष में स्त्रीम्' रूप वनता है ।

साधुत्व प्रक्रिया

(४) स्त्रियम्—'स्त्री'–शब्द प्रातिपदिक संज्ञा, द्वितीया एकवचन की विवक्षा में 'अम्' सुप, 'स्त्री + अम्'—इस दशा में 'वाऽम् शसोः' से 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' के निषेध पूर्व 'ङिच्च' के सहकार से स्त्री के अन्त्य 'अल्' ईकार के स्थान पर इयङ् के 'ङ्' की वैकल्पिक प्राप्ति 'स्त्र्+इयङ्+अम्'—इस दशा में इयङ् के 'ङ्' की 'हलन्त्यम्' से और 'अकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्र्+इय्+अम्'—इस दशा में 'अज्झीनं व्यञ्जनं परेण् संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'स्त्रियम्' रूप सिद्ध होगा अभाव पक्ष में जहाँ वैकल्पिक 'इयङ्' की प्राप्ति नहीं होगीं, वहाँ 'स्त्री+अम्'—इस दशा में 'अमि पूर्वः' से पूर्व रूपैकादेश 'स्त्र्+ई+अम्'—इस दशा में 'अज्झीनं·······' से वर्ण संयोग करने पर 'स्त्रीम्' रूप व्युत्पन्न होगा ।

(५) स्त्रिय—स्त्रीः—स्त्री शब्द प्रातिपदिक संज्ञा, द्वितीया बहुवचन की की विवक्षा में 'शस्' सुप्, 'स्त्री+शस्'—इस दशा 'लशक्वतद्धिते' से शस् के 'श्' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्री+अस्'—इस दशा में—शेषप्रक्रिया प्रथमा बहुवचन वत् ।

अभाव पक्ष में 'इयङ्' के अभाव में 'स्त्री+अस्'—इस दशा में 'प्रथमयोः पूर्व सवर्णः' से रेफोत्तरवर्ती 'ईकार' और अस् के 'रकार' के स्थान पर पूर्वसवर्ण

दीर्घंकादेश 'ईकार' करने पर 'स्त्र+ई+स्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'स्त्रीस्' इस दशा में 'ससजुषो रुः' से 'ईकरोत्तरवर्ती' 'स' के स्थान पर 'रु', 'स्त्रीरु'—इस दशा में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से रु के 'उकार' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्रीर्'—इस दशा में रेफ की 'विरामोऽवसानम्' से अवसान संज्ञा, 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'स्त्रीः' रूप सिद्ध होगा।

(६) स्त्रिया—'स्त्री' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, तृतीया एक वचन की विवक्षा में टा विभक्ति-प्रत्यय, 'स्त्री+टा'—इस दशा में 'चुटू' से 'टा' के 'टकार' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप, 'स्त्री+आ'—इस दशा में 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' के निषेध पूर्वक 'ङिच्च' के सकार से स्त्री के अन्त्य अल् रेफोत्तरवर्ती 'ईकार' के स्थान पर 'इयङ्' आदेश 'स्त्र+इयङ+आ'—इस स्थिति में 'इयङ' के 'ङकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'अकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्र+इय्+आ'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'स्त्रिया' रूप व्युत्पन्न होगा।

(७) स्त्रीभ्याम—स्त्री शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, तृतीया चतुर्थी और पंचमी द्विवचन की विवक्षा में भ्याम्' विभक्ति 'अञ्झीनं........' वर्ण संयोग करने पर 'स्त्रीभ्याम्' रूप व्युत्पन्न होगा।

(८) स्त्रीभि—'स्त्री' की प्रातिपदिक संज्ञा, तृतीया बहुवचन की विवक्षा में 'भिस्' सुप्, 'स्त्री+भिस्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'स्त्रीभिस्—इस दशा में 'ससजुषो रुः' से ईकारोत्तरवर्ती 'सकार' के स्थान पर 'रु' स्त्री 'भिरु' इस दशा में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से रु के उकार की इत्संज्ञा, तस्य लोपः से लोप 'स्त्रीभिरः'—इस अवस्था में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा, 'खरवसानयो विसर्जनीयां' से उसके स्थान पर विसर्ग करने पर 'स्त्रीभः' रूप निष्पन्न हुआ।

(९) स्त्रियैः—'स्त्री' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा चतुर्थी एक वचन की विवक्षा में 'ङे' सुप् 'स्त्री+ङे' इस दशा में 'लशक्वताद्धते' से 'ङकार' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्री+ए'—इस स्थिति में 'यूस्त्र्याख्यौनदी' से स्त्री की नदी संज्ञा, 'आण्नद्याः' से 'आद्यन्तौ टकितौ' के सहकार से टित्वेन नदी के आधवयव स्वरूप 'आट्' का आगम 'स्त्री+आट्+ए'—इस स्थिति में 'हलन्त्यम्' से आट् के 'टकार' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्री+

आ+ए'—इस स्थिति में 'आटश्च' से आ और ए के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार में 'ऐं' वृद्धिरेकादेश 'स्त्री+ऐ'—इस दशा में 'स्त्रियाः' से 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' के निषेधपूर्वक 'ङिच्च' के सहकार से स्त्री के अन्त्य अल् 'ईकार' के स्थान पर 'इयङ' आदेश 'स्त्र+इयङ+ऐ' इस दशा में इयङ् के 'ङकार' की 'हलन्त्यम' से और 'अकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्र्+इय्+ऐं'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'स्त्रियैं' रूप निष्पन्न हुआ।

(१०) स्त्रिया—'स्त्री' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, पञ्चमी षष्ठी एक वचन की विवक्षा में 'ङ सि और ङ स्'—सुप्, स्त्री+ङसि (ङ स) इस दशा में 'ङ सि' के इकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्री+ङ स्'—इस दशा में 'ङ स' के 'ङकार' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप, 'स्त्री+अस्' इस दशा में 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' से 'स्त्री' की नदी संज्ञा, 'आण्नद्याः' से "आद्यन्तौटकितौ' के सहकार से 'आट्+अस्' आट् के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्री+आ+अस्'—इस दशा में 'आटश्च' से 'आ और आ' के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'आ' वृद्धिरेकादेश 'स्त्री+आ+स्'—इस दशा में 'स्त्रियाः' सूत्र से 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' के निषेधपूर्व ङिच्च के सहकार से स्त्री के अन्त्य अल् ईकार के स्थान पर 'इयङ्' आदेश 'स्त्र+इयङ्+आ+स्'—इस दशा में इयङ् के 'ङकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'अकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्र्+इय्+आ+स्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'स्त्रियास्'—इस दशा में 'ससजुषो रुः' से आकारोत्तरवर्ती 'स्' के स्थान पर 'रु' स्त्रियारु'—इस दशा में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से रु के 'उकार' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्रियार्' इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा, 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'स्त्रियाः' रूप व्युत्पन्न हुआ।

(११) स्त्र्यो—'स्त्री' शब्द प्रातिपदिक संज्ञा, शष्ठी-सप्तमी द्विवचन की विवक्षा में 'ओस' सुप्, 'स्त्री+ओस्'—इस दशा में 'इको यणचि' सूत्र से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से रेफोत्तरवर्ती 'ईकार' के स्थान पर 'यकार' यण् 'स्त्र+य्+ओस्—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'स्त्र्योस्'—इस दशा में 'ससजुषो रुः' से ओकारोत्तरवर्ती 'स्' के स्थान पर 'रु' 'स्त्र्योरु' इस दशा में 'रु' के उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्'

से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्र्योर' इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा, 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'स्त्र्योः' रूप निष्पन्न होगा।

(१२) स्त्रीणाम—'स्त्री'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, षष्ठी बहुवचन की विवक्षा में 'आम्'–सुप्, 'स्त्री + आम्'—इस दशा में यूस्त्र्याख्यौ नदी से नदी संज्ञक 'स्त्री' शब्द की 'स्त्रियाः' से 'इयङ्' और 'ह्रस्वनद्यापोनुट्' से 'नुट्' की भी प्राप्ति होती है, किन्तु 'परत्वान्नुट्—की व्यवस्थानुसार 'नुट्' का विधान और 'इयङ्' का निषेध, 'आद्यन्तौटकितौ' के नियमानुसार टित्वेन नुट् की 'आम्' के आधवयव स्वरूप प्रवृत्ति 'स्त्री + नुट् + आम्'—इस दशा में 'नुट्' के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप, 'स्त्री + न् + आम्'—इस दशा में 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से 'न्' को 'ण्' करने पर 'स्त्री + ण् + आम्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'स्त्रीणाम्' रूप निष्पन्न हुआ।

(१३) स्त्र्याम्—'स्त्री' शब्द प्रातिपदिक संज्ञा सप्तमी एक वचन की विवक्षा में 'ङि'—सुप् 'स्त्री + ङि'—इस दशा में 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' से 'स्त्री' की नदी संज्ञा, 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' सूत्र से 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश 'स्त्री + आम्'–इस दशा में 'ह्रस्वनद्यापोनुट्' से 'नुट्' का आगम, किन्तु 'स्थानिवदादेशोऽनाल्विधौ' से 'आम्' में 'ङित्व' के अतिदेश पूर्वक परत्व 'आण्नद्याः' से 'आट्' की आधन्तौ टकितौ' के सहकार से 'आम्' के आधवयव स्वरूप आगम 'सकृद्गतौ यद्बाधितं तद्बाधित मेव' से नुट् का निषेध 'स्त्री + आट् + आम्'—इस दशा में आट् के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से और उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्री + आ + आम्' 'आटश्च' से 'स्थानेन्तरतमः' के सहकार से 'वृद्धिरादैच्' में से 'आ और आ' के स्थान पर 'आ' वृद्धिरेकादेश 'स्त्री + आ + म्'—इस दशा में 'इकोयणचि' से रेफोत्तरवर्ती ईकार के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के स्थान पर 'यणादेश' 'यत्र् + य् + आ + म्' इस स्थिति में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग करने पर 'स्त्र्याम्' रूप सिद्ध होगा।

(१४) स्त्रीषु:—'स्त्री' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, सप्तमी द्विवचन की विवक्षा में 'सुप्'–प्रत्यय, 'स्त्री + सुप्'—इस दशा में 'हलन्त्यम्' से सुप् के 'पकार' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्री + सु' इस दशा में आदेश

प्रत्यययोः' से सु के 'सकार' के स्थान पर 'षकार' करने पर 'स्त्री+ष्+उ'–इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'स्त्रीषु' रूप व्युत्पन्न होगा।

(१५) हे स्त्रि—'स्त्री' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, सम्बोधन एक वचन की विवक्षा में प्रथमा एक वचन के 'सु' प्रत्यय का आगमन, 'स्त्री+सु'—इस दशा में 'एक वचन सम्बुद्धिः' से 'सु' की सम्बुद्धि संज्ञा, 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' से 'स्त्री' शब्द की नदी संज्ञा 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' से स्त्री के ईकार के स्थान पर ह्रस्वत्व 'स्त्रि+सु'—इस दशा में सु के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'स्त्रि+स्'—इस दशा में 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धे' से 'स्' के लोप पूर्वक 'हे' सम्बोधन लगाने पर 'हे स्त्रि' रूप व्युत्पन्न होगा।

—० इति ०—

अथाजन्त नपुंसकलिङ्ग प्रकरणम्

(इसके बाद अजन्त नपुंसक लिंग-प्रकरण)

ज्ञान

१६४. अतोऽम् ७।१।२४

अतः (ष० ए०) अम् (प्र० ए०)

(ह्रस्व अकार से पर अम् हो।)

अतोऽङ्गात्क्लीबात्स्वमोरम्। अमिपूर्वः—ज्ञानम्। सङ्ह्रस्वाद–इति हल्लोपः–हे ज्ञान।

हिन्दी अनुवाद—ह्रस्व अकारान्त नपुंसक अंग से परे 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश (होगा)। 'अमिपूर्वः' (से पूर्वरूप होकर) 'ज्ञानम्' (सिद्ध होता

है)। 'एङ्ह्रस्वात्' से हल् (स्) का लोप (होने पर) 'हे ज्ञान' (रूप निष्पन्न होगा)।

व्याख्या—यह अम् विधायक सूत्र है। इसमें सम्पूर्ण 'स्वमोर्नपुंसकात्' और 'अङ्गस्य'—अधिकार सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। अङ्गस्य का पञ्चम्यन्त में विपरिणाम तदन्तविधि होकर 'अदन्तादङ्गात्' अर्थ प्राप्त होता है। इसके अनुसार अदन्त नपुंसक अंग से परे 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अम्' आदेश होगा। 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' के अनुसार यह 'अम्' सम्पूर्ण स्थानी–'सु और अम्' के स्थान पर होगा, यथा—'ज्ञान+सु'—इस दशा में प्रकृत सूत्र से 'सु' के स्थान पर 'अम्' करने पर 'ज्ञान+अम्' इस दशा में अमिपूर्वः' से पूर्व रूप करने पर 'ज्ञानम्' रूप बनता है।

सम्बोधन में 'एकवचन सम्बुद्धि' सूत्र से सु की सम्बुद्धि संज्ञा और 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से 'स्' (सु) का लोप होने पर 'हे' सम्बोधन चिह्न के प्रयोग से 'हे ज्ञान' व्युत्पन्न होता है।

साधुत्व प्रक्रिया

(१) ज्ञानम्—'ज्ञान' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा, द्वितीया एकवचन की विवक्षा में 'सु और अम्—सुपः, 'ज्ञान+सु (अम्)'—इस दशा में 'स्वमोर्न पुंसकात्' से 'सु' के लोप की प्राप्ति, किन्तु 'अतोऽम' से उसका निषेध और सु और अम् के स्थान पर 'अम्' की प्राप्ति, 'ज्ञान+अम्'—इस स्थिति में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से प्राप्त दीर्घ का 'अमिपूर्वः' से निषेध और पूर्व रूपैकादेश 'ज्ञान+अ+म्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'ज्ञानम्' रूप व्युत्पन्न हुआ।

(२) हे ज्ञान—'ज्ञान' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा सम्बोधन एक वचन की विवक्षा में प्रथमा एकवचन 'सु सुप्' की प्राप्ति 'एकवचन सम्बुद्धिः' से 'सु' की सम्बोधन संज्ञा 'ज्ञान+सु'—इस दशा में 'स्वमोर्नपुंसकात' से प्राप्त 'सु' के लोप का 'अतोऽम्' से निषेध और उसके स्थान पर 'अम्' का विधान 'ज्ञान+अम्'—इस दशा में 'अमिपूर्वः' से अकः सवर्णे दीर्घः' से प्राप्त दीर्घ के निषेधपूर्वक पूर्वरूपैकादेश का विधान 'ज्ञान्+अ+म्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेणसंयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'ज्ञानम्'—इस दशा में सम्बोधन के 'म्' हल् का एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से लोप 'ज्ञान' इस दशा में 'हे' सम्बोधन चिह्न के प्रयोग से 'हे ज्ञान' रूप निष्पन्न हुआ।

१६५. नपुंसकाच्च ७।१।१९

नपुंसकात् (प० ए०) च (अव्यय)

[नपुंसक से परे भी (औङ् को शी होगा)।]

क्लीबा दौङः शी स्यात्। भ संज्ञायाम्।

हिन्दी अनुवाद—नपुंसक अंग से परे औङ् (औ, औट्) के स्थान पर शी होगा, भ संज्ञा होने पर—

व्याख्या—यह शी-विधायक सूत्र है, इसमें 'जसः शी' से 'शी' 'औङआपः' से 'औङ्' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। यह भी 'अंगस्य' के अधिकार में है; अतः इसके अनुसार क्लीव (नपुंसक) अंग से परे औङ् (औ, औट्) को 'शी' होगा। उदाहरणार्थ 'ज्ञान + औ (औट्)—इस दशा में प्रकृत सूत्र से औङ् के स्थान पर शी आदेश करने पर 'ज्ञान + शी'—इस दशा में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होगा—

१६६. यस्येति च ६।४।१४८

यस्य (ष० ए०) ईति (अव्यय) च (अव्यय)

[ईकार परे होने पर भी इकार और अकार का (लोप हो जाएगा)।]

ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः। इत्यल्लोपे प्राप्ते (वा०) औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः। ज्ञाने।

हिन्दी अनुवाद—ईकार और तद्धित प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक अंक के इवर्ण और अवर्ण का लोप हो जाता है। इस प्रकार 'अ' का लोप प्राप्त होने पर (वा०) औङ् के (स्थान पर हुए) शी के परे रहने पर (यस्येति च का) प्रतिषेध कहना (समझना) चाहिए (यथा—) ज्ञाने।

व्याख्या—यह भसंज्ञक अंग के 'इ और उ' के लोप का विधि सूत्र है। प्रकृत सूत्र 'यस्येति' का पदच्छेद है 'यस्य + ईति'। में यस्य पद का विग्रह है इश्च अश्च तयोः समाहारः यम् तस्य अर्थात् इ वर्णस्य अवर्णस्य च। इसमें 'तद्धिते' से 'तद्धिते' पद की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार ईकार अथवा तद्धित प्रत्यय परे होने पर 'यचि भम्' से भसंज्ञक और ['यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' से अंग (संज्ञक)] के इवर्ण और अवर्ण का लोप

हो जाता है। उदाहरणार्थ—'ज्ञान + ई'—इस दशा में 'औ' के स्थान पर होने से 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' से सर्वनाम स्थान भिन्न अजादि 'ई' में स्वादित्य का अति देश करने पर 'याचि भम्' 'ज्ञान' की भसंज्ञा, प्रकृत सूत्र से भसंज्ञक अंग ज्ञान के अन्त्य अकार रूप 'अवर्ण' का ईकार परे रहते लोप प्राप्त होता है, किन्तु 'औङः प्रतिषेधोवाच्यः'—वार्तिक से उसका प्रतिषेध होने पर 'आद्-गुणः' से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'ए' गुणैकादेश होने पर 'ज्ञाने' रूप व्युत्पन्न होता है।

साधुत्व-प्रक्रिया

ज्ञाने—'ज्ञान'—शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा तथा द्वितीया द्विवचन की विवक्षा में क्रमशः 'औ और औट्' सुप्, 'ज्ञान + औ (ट्)' इस दशा में 'नपुंसकाच्च' से 'औङ् (औ, औट्) के स्थान पर 'शी' आदेश 'ज्ञान + शी'—इस दशा में 'लशक्वतद्धिते' से शी के 'शकार' की इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप 'ज्ञान + ई' इस दशा में 'यचिभम्' से ज्ञान की 'भ'—संज्ञा और 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से 'अङ्ग'—संज्ञा और 'यस्त्रेति च' ज्ञान के अन्त्य अकार रूप अवर्ण का लोप प्राप्त होता है, किन्तु 'औः ङ्यां प्रातषेधौ वाच्य' से उसका निषेध और नकारोत्तरवर्ती अकार तथा ईकार के स्थान पर 'आद्गुणः' से स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'अदेङ्गुणः' में 'ए' गुण एकादेश 'ज्ञान् + ए' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'ज्ञाने' रूप सिद्ध होगा।

१६७. जश्शसोः शिः ७।१।२०

जश्शसोः (ष० द्वि०) शिः (प्र० ए०)

[जस् और शस् के स्थान में 'शि' (होगा)।] **क्लीबादनयोः शिः स्यात्**

हिन्दी अनुवाद—क्लीव (नपुंसक अङ्ग) से परे (जस् और शस्) इन स्थान पर 'शि' होगा।

व्याख्या—यह 'शि'-विधायक सूत्र है, इसमें 'स्वमोर्न' 'पुसकात्' से 'नपुंसकात्' के पर्याय क्लीबात् की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार नपुंसक अंग से परे 'जस् और शस्' के स्थान पर 'शि' होगा। यथा—नपुंसक अंग 'ज्ञान + जस् (शस्)' इस दशा में प्रकृत सूत्र जस् (शस्) के स्थान 'शि' होने पर 'ज्ञान + शि' शि के 'शकार' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा

'तस्यलोपः' से लोप करने पर 'ज्ञान + इ' स्थिति प्राप्त होती है, तदन्तर अग्रिम सूत्र प्रवृत होता है।

१६८. शि सर्वनाम स्थानम् १।१।४२

शि (प्र० ए०) सर्वनाम स्थानम् (प्र० ए०)

(शि सर्वनाम स्थान है।)

शि इत्येतद् उक्त संज्ञं स्यात्।

हिन्दी अनुवाद—'शि' की उक्त ('सर्वनामस्थान') संज्ञा होगी।

व्याख्या—यह सर्वनाम स्थान संज्ञा-विधायक सूत्र है। इसके अनुसार 'जस्' और शस् के स्थान पर होने वाले 'शि' की 'सर्वनाम स्थान' संज्ञा होती है, जिसके फलस्वरूप ज्ञानानि की सिद्धि के लिए परमावश्यक 'नुम्' का आगम 'नपुंसकस्य झलचः' से होता है। प्रकृत सूत्र के विना ज्ञानानि की सिद्धि असम्भव थी।

१६६. नपुंसकस्य (ष० ए०) झलचः ७।१।७२

नपुंसकस्य (ष० ए०) झलचः (ष० ए०)

[नपुंसक झलन्त और अजन्त के स्थान पर ['नुम्' होगा)।]

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्थात्सर्वनाम स्थाने।

हिन्दी अनुवाद—बाद में सर्वनामस्थाने होने पर झलन्त और अजन्त नपुंसक अङ्ग को 'नुम' (आगम) होता है।

व्याख्या—यह नुम्विधायक सूत्र है। इसमें 'इदितोनुम्धातोः' से 'नुम्' और 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है, यह भी 'अंगस्य' के अधिकार क्षेत्र में है। इसके अनुसार सर्वनाम स्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट् तथा शस्) परे रहने पर झलन्त और अजन्त नपुंसक अङ्ग को नुम् होगा। इसमें मकार की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' लोप होने पर केवल 'न' शेष रहता है। उदाहरणार्थ—'ज्ञान + शि (इ)'—इस दशा में प्रकृत सूत्र होने वाला 'नुम्' कहाँ होगा?

इस समस्या का निदान अग्रिम सूत्र 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से मिलता है।

१७०. मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७

मिदचः (पं० ए०) अन्त्यात् (पं० ए०) परः (प्र० ए०)

[अचः अन्त्यात् परः मित्—अचों में से अन्त्य से पर (के पश्चात्) ही मित् (नुम्-आदि होगा) ।]

अचां मध्ये योऽन्त्यः, तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात् । उपधा-दीर्घः—ज्ञानानि । पुनस्तद्वत् । शेषंपुवत् । एवं धन-वन-फलादयः ।

हिन्दी अनुवाद—अचों में से अन्त्य (अन्तिम) (अच्) से परे (के पश्चात्) उसी के अन्तावयवस्वरूप मित् होगा (अर्थात् अचों के मध्य में से अन्तिम अच् से परे (पश्चात्) और जिस समुदाय से विदित होगा, उसी के अन्तावयव-स्वरूप मित् (नुम् आदि आगम) होगा । उपधा दीर्घ होकर—ज्ञानानि (रूप व्युत्पन्न होगा) पुनः (द्वितीया में) भी वैसे ही (तद्वत् 'ज्ञानं-ज्ञाने-ज्ञानानि' रूप सिद्ध होंगे) । शेष पुल्लिङ्गवत् (रामेण से रामेषु तक की भांति ज्ञानेन से ज्ञानेषु तक) । इसी प्रकार धन, वन और फलादि (अदन्त नपुंसकों की साधुत्व-प्रक्रिया समझें) ।

व्याख्या—यह मित विषयक परिभाषा या नियामक सूत्र है । मित् का अभिप्राय है—'मकारः इत् यस्यसः' अर्थात् जिसमें 'म्' की इत्संज्ञा हो, उसे वैयाकरण पदावली में मित्' की संज्ञा से अभिहित करेंगे । यथा-'नुम्' । प्रकृत सूत्र के अनुसार 'मित्' यदि किसी समुदाय का अवयव होगा, तो वह उस समुदाय का अवयव होगा, तो वह उस समुदाय विशेप के अन्त्य अच् (स्वर) के पश्चात् ही आयेगा (विदित होगा) । यथा—'ज्ञान+इ'—इस दशा में 'नपुंसकस्य झलचः' सूत्र से नुम् का आगम होगा और वह 'नुम्' 'ज्ञान'—समुदाय के अवयवस्वरूप विहितव्य है, अतः प्रकृत सूत्र 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से ज्ञान समुदाय विशेप के अन्त्य अच् नकारोत्तरवर्ती 'अकार' के पश्चात् विहितव्य होगा—

'ज्ञान्अ+नुम्+इ'–इस दशा में 'नुम' के 'म्' की तो 'हलन्त्यम्' से और 'उ' की उपदेशे जनुनासिक इत् से इत्संज्ञा 'तस्यलोपः' से लोप 'ज्ञान्अ+न्+इ'–इस दशा में 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्'—से अङ्ग संज्ञक नान्त पद—'ज्ञान्' के अन्त्य अल् न् से पूर्व 'अकार' की 'अलोन्त्यात्पूर्व उपधा' से उपधा संज्ञा और 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से उपधा का दीर्घत्व (आ) करने

पर 'ज्ञान् आन्+इ'—इस दशा में वर्ण संयोग करने पर 'ज्ञानानि' रूप व्युत्पन्न होता है।

द्वितीया विभक्ति में भी तद्वत् 'ज्ञानं—ज्ञाने-ज्ञानानि' रूप बनेंगे। तृतीया आदि अन्य विभक्तियों में पुंल्लिग रामादि वत् समझें। इसी प्रकार धन-वन-फलादि के रूप में भी सिद्ध होंगे।

साधुत्व प्रक्रिया

ज्ञानानि-ज्ञान शब्द प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा द्वितीया बहुवचन की विवक्षा में क्रमशः 'जस्' और शस्' सुप् ज्ञान+जस् (शस्)'—इस दशा में जश्शसो शि-सूत्र से अनेकाल्त्वेन 'अलोऽन्त्यस्य के निषेधपूर्वक 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' के अनुसार सम्पूर्ण जस् (शस्) के स्थान शित्व, 'ज्ञान+शि'—इस दशा में 'शि सर्वनामस्थानम्' से शि की 'सर्वनामस्थान संज्ञा' 'नपुंसकस्य झलचः' से 'नुम्' का आगम 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्त्य अच् ज्ञान के नकारोत्तरवर्ती 'अकार' के पश्चात् 'नुम्' का विधान 'ज्ञान अनुम्+शि' इस दशा में नुम् के 'मकार' की 'हलन्त्यम' से और 'उकार' की 'उपदेशेजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' लोप 'ज्ञान्+अ+न्+शि'—इस दशा में 'शि' के शकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से ज्ञान+अ+न्+इ'—इस दशा में 'ज्ञान+अ+न्'—इस अंश में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'ज्ञानन्+इ'—इस दशा में 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से अंग-संज्ञक नान्त 'ज्ञानन् के अन्त्य अल् 'न्' से पूर्व 'अकार' की अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' से 'उपधा' संज्ञा और 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से उपधादीर्घत्व 'ज्ञान्+आ+न्+इ' इस दशा 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'ज्ञानानि' रूप व्युत्पन्न होगा।

वारि

१७१. स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३

स्वयोः (ष० द्वि०) नपुंसकात् (पं० ए०)

[नपुंसक से परे 'सु और अम्' का (लोप हो जाएगा)।]

लुक् स्यात्। वारि

हिन्दी अनुवाद—(नपूंसक से परे 'सु और अम् का) लुक (लोप) हो जायगा। (यथा—) वारि।

व्याख्या—यह लोप विधायक सूत्र है। इसमें 'षड्भ्योलुक्' से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। इसके अनुसार नपुंसक से परे 'सु और अम्' का लुक् हो जायगा 'लुक्' का अर्थ है—'लोप'—'प्रत्ययस्यलुकश्लुलुपः'

ध्यातव्य है, कि सभी नपुंसको से परे 'सु और अम्' का लोप नहीं होता, यथा—'अतोऽम' से ह्रस्व अकारान्त 'ज्ञान' आदि से 'सु और अम्' के स्थान पर 'अम्' होता है,—लोप नहीं। अतः स्पष्ट है, कि ह्रस्व अकारान्त नपुंसकों के अतिरिक्त इकारान्तादि के पश्चात्वर्ती 'सु और अम्' को ही लुक् होगा। यथा—'वारि + सु + अम्'—इन दशाओं में प्रकृत सूत्र से 'सु + अम्' का लुक् होकर 'वारि' रूप व्युत्पन्न होगा।

साधुत्व प्रक्रिया

(१) वारि—'वारि' शब्द प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा द्वितीया एक वचन की विवक्षा में क्रमशः 'सु और अम्' सुप् 'वारि+सु (अम)' इस दशा में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु और अम्' का लुक करने पर 'वारि' रूप व्युत्पन्न हुआ।

१७२. इकोऽचि विभक्तौ ७।१।७३

इकः (ष० ए०) अचि (स० ए०) विभक्तो (स० ए०)

[अजादि विभक्ति परे रहते इक् के (अवयव स्वरूप नुम् होगा)।]

इगन्तस्य क्लीवस्यनुमचि विभक्तौ। वारिणी, वारीणी। न लुभते-त्यस्यानित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः। हे वारे, हे वारि। आङोना—वारिणा, घेर्ङिति इति गुणे प्राप्ते (वा०) वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्योनुम् पूर्वप्रति षेधेन वारिणे। वारिणः। वारिणोः। नुमचिरेतिनुट्। वारीणाम् वारिणि। हलादौ हरिवत्।

हिन्दी अनुवाद—बाद में अजादि विभक्ति आने पर इगन्त नपुसंक (अङ्ग) को 'नुम्' आगम (होगा) (यथा—) वारिणी, वारीणि। न लुमताङ्गस्य'—इस सूत्र के अनित्यत्व के कारण पक्ष में सम्बुद्धि निमित्तक गुण होगा—(यथा—) हे वारे, हे वारि। 'आङोनास्त्रियाम्' से (आ) (टा) को 'ना' होने पर वारिणा (व्युत्पन्न होगा,। 'घेर्ङिति' से गुण प्राप्त होने पर—(वा०) वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुण की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से (तुल्य बलविरोध होने पर पूर्व प्राबल्य से) 'नुम्' (ही होगा)। (यथा—) वारिणे, वारिणः वारिणोः।

'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्योनुट् पूर्वप्रतिषेधेन' से 'नुट' (होगा)। (यथा—) वारीणाम्, वारिणी हलादि (विभक्तियों) में 'हरि' के समान (रूप सिद्ध होंगे)।

व्याख्या—यह 'नुम्' विधायक सूत्र है, इसमें 'इदितो नुम धातोः' से 'नुम्' 'नपुंसकस्य झलचः' से नपुंसकस्य के पर्याय 'क्लीबस्य' तथा अधिकार सूत्र 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। 'यतः' इकः अङ्गस्य का विशेषण है, अतः तदन्त विधि से 'इगन्तस्य' अर्थ प्राप्त होता है। इसके अनुसार बाद में अजादि विभक्ति होने पर इगन्त नपुंसक अङ्ग को 'नुम' आगम होगा। 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से नपुंसक अङ्ग के अन्त्य अच् के आगे अवत्यव स्वरूप 'नुम्' होगा।

उदाहरणार्थ--

'वारि+ई'—इस स्थिति में इगन्त नपुंसक अंग 'वारि' के अन्त्य अच् रेफोत्तरवर्ती 'इकार' के आगे अवयव–स्वरूप 'नुम्' का प्रकृत सूत्र से आगम, 'वारि+नुम्+ई'—इस दशा में अनुबन्ध लोप (म्–हलन्त्यम्, 'उ'—'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' 'तस्य लोपः') 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ऽपि' से 'न्' को ण करने पर 'वारिणी' रूप व्युत्पन्न होगा।

साधुत्व-प्रक्रिया

(२) वारिणी—'वारि'—शब्द प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा द्वितीय तथा सम्बोधन द्विवचन की विवक्षा में औैर (ट्) सुप्, 'वारि+औैर ट्' इस दशा में 'नपुंसकाच्च' से औङ् के स्थान पर शी, 'वारि+शी'—इस दशा में 'लशक्वतद्धिते' से 'श' की इत्संज्ञा 'तस्य लोपः' से लोप, 'वारि+ई'—इस दशा में 'मिद्चोऽन्त्यात्परः' के सहकार से 'इकोऽचि विभक्तौ' से 'नुम्' का इगन्तवारि के अन्त्यअच् रेफोत्तरवर्ती इकार के आगे आगम, 'वारिनुम् ई'—इस दशा में नुम के 'मकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'वारि+न्+ई' इस अवस्था में 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से न का णत्व करने पर 'वारि+ण्+ई' इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'वारिणी' रूप व्युत्पन्न होगा। 'हे' सम्बोधन चिह्नाङ्कन से 'हे वारिणी' रूप हो जायेगा।

(३) वारीणि—'वारि' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा द्वितीया तथा सम्बोधन बहुवचन की विवक्षा में क्रमशः जस् तथा शस् विभक्ति प्रत्यय, 'वारि

+जस् (शस्)'—इस अवस्था में 'जश्शसोः शिः' से सम्पूर्ण जस् और शस् के स्थान पर 'अलोऽन्त्यस्य' के निषेध पूर्वक 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' के अनुसार अनेकान्त्वेन शित्व, 'वारि+शि'—इस अवस्था में 'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की सर्वनाम स्थान संज्ञा, 'लशक्वतद्धिते' से शि के 'शकार' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'वारि+इ'—इस दशा में 'मिदचोऽन्त्यापरः' के सहकार से 'इकोऽचि विभक्तौ' से इगन्त नपुंसक अङ्ग वारि के अन्त्य अच् रेफोत्तरवर्ती इकार के आगे 'नुम्' आगम 'वारि+नुम्+इ'— इस अवस्था में नुम् के 'मकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' लोप, 'वारिन् इ' इस दशा में नान्त 'वारीन्' के अन्त्य अल् से पूर्व रेफोत्तरवर्ती इकार की 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' से उपधा संज्ञा, 'सर्वनामस्थाने' चाऽसम्बुद्धौ से उपधा दीर्घ, 'वार ईन् इ'—इस दशा में 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से न् को णत्व, 'वार् ई ण् इ'—इस अवस्था में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'वारीणि' रूप व्युत्पन्न होगा। सम्बोधन में 'हे' चिह्न लगाने पर 'हे वारीणि' रूप बन जायगा।

(४) हे वारे—'वारि' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, एक वचनं 'सम्बुद्धिः' से सम्बोधन एक वचन की विवक्षा में 'सु' प्रत्यय, 'वारि+सु'—इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' का लुक् करने पर 'हे' सम्बोधन चिह्नांकन पूर्वक 'हे वारि' रूप व्युत्पन्न होगा।

'प्रत्यय लोपे प्रत्ययलक्षणम्' से प्रत्यय निमित्तक कार्य 'ह्रस्व गुणः' से वारि के अन्त्य अल् 'इ' के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से 'अदेङ् गुणः' में से एक गुण की प्राप्ति, किन्तु 'न लुमताङ्गस्य' से लुक् शब्द के कथन से लोप हेतु प्रत्ययनिमित्तक कार्य गुण का निषेध होने पर 'हे वारि' रूप बना; यतः 'नलुमताङ्गस्य' से गुण का निषेध नित्य नहीं है अतः जहाँ गुण की निषेध नहीं होगा वहाँ 'ह्रस्व गुणः' से गुण होने पर 'वार+ए'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'हे' सम्बोधन चिह्नांकन द्वारा 'हे वारे' रूप व्युत्पन्न होगा।

(५) वारिणा—'वारि' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, तृतीया एकवचन की विवक्षा में 'टा' सुप् 'वारि+टा'—इस अवस्था में 'चुटू' से टा के टकार की इत्संज्ञा 'तस्य लोपः' से लोप, 'वारि+आ'—इस दशा में 'शेषोध्यसखि' से 'वारि' की 'घि-संज्ञा, 'आङोनाऽस्त्रियाम्' से 'आ' के स्थान पर 'ना' करने पर,

'वारि+ना'—इस दशा में 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से 'न्' को णत्व, 'वारि+ण+आ'—इस दशा में 'अज्झीनं (यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्णसंयोग पूर्वक 'वारिणा' रूप व्युत्पन्न हुआ।

(६) वारिभ्याम्—'वारि' की प्रातिपदिक संज्ञा, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, द्विवचन की विवक्षा में 'भ्याम्' सुप्, वर्णसंयोग करने पर 'वारिभ्याम्' रूप व्युत्पन्न होता है।

(७) वारिभिः—'वारि'—प्रातिपदिकत्व, तृतीया बहुवचन की विवक्षा में भिस् सुप् वर्णसंयोग 'वारिभिस्' इस दशा में 'स' को रुत्व विसर्ग करने पर 'वारिभिः' रूप व्युत्पन्न होगा।

(८) वारिणे—'वारि' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, चतुर्थी एक वचन की विवक्षा में 'ङे' सुप् 'वारि+ङे'—इस दशा में 'शेषोघ्यसखि' से 'वारि'—की घिसंज्ञा 'घेर्ङिति' से रेफोत्तवर्ती इकार के स्थान पर प्राप्त 'ए' का 'वृद्धयौ-त्वतृज्वद् भावगुणेभ्यो नुम्' वार्तिक से पूर्व प्रतिषेधेन 'मिदचोऽन्त्यात्परः' के सहकार से 'इकोऽचिविभक्तौ' से इगन्त नपुंसक अङ्गवारि के अन्त्य अच् रेफो-त्तरवर्ती इकार के आगे 'नुम्' आगम, 'वारि+नुम्+ङे' इस अवस्था में 'नुम्' के मकार की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'वारि+न्+ङे'—इस अवस्था मे 'ङे' के 'ङकार' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'वारि+न्+ए'—इस स्थिति में अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से न को णत्व और 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर वारिणे प्रयोग व्युत्पन्न होगा।

(९) वारिभ्य—'वारि' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, चतुर्थी, पंचमी बहु-वचन की विवक्षा में 'भ्यस्' सुप्, 'वारि+भ्यस्'—इस दशा में भ्यस् के सकार के स्थान पर 'ससजुषोरुः' से 'रु' 'वारिभ्यरु'—इस अवस्था में 'रु' के 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा 'तस्य लोपः' से लोप, 'वारिभ्यर्' इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से 'रेफ' की अवसान संज्ञा और उसके स्थान पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग करने पर 'वारिभ्यः' रूप व्युत्पन्न होगा।

(१०) वारिणः—'वारि' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, पञ्चमी-षष्ठी एक वचन की विवक्षा में ङसि (ङस्)—सुप्, 'वारि+ङसि (ङस्)'—इस अवस्था में ङसि के 'इकार' को 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'वारि+ङस्'—इस दशा में ङस् के 'ङकार' की 'लशक्वतद्धिते' से

इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप 'वारि+अस्'—इस स्थिति में 'घेर्ङिति' से प्राप्त 'एकार' गुण के निषेध पूर्वक 'वृद्ध्यौत्वतृज्वद भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वं विप्रतिषेधेन' वार्तिक से पूर्वप्रतिषेधेन 'मिदचोऽन्त्यात्परः' के सहकार से 'इकोऽचि विभक्तौ' से इगन्ताङ्ग नपुंसक वारि के अन्त्य अच् रेफोत्तरवर्ती 'इकार' के आगे नुम् आगम; 'वारिनुम् अस्' इस अवस्था में 'नुम्' के मकार की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'वारि न् अस्'—इस दशा में 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' 'न्' को णत्व 'वारिण अस्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'वारिणस्'—इस दशा में 'ससजुषोरुः' से रुत्व 'वारिणरु'—इस अवस्था में 'उपदेशेऽजनु ००' से 'रु' के 'उकार' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'वारिण' इस दशा में 'विरामोऽवसानम्' से रेफ की अवसान संज्ञा और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से उसके स्थान पर विसर्ग करने पर 'वारिणः' रूप व्युत्पन्न होगा।

(११) वारिणोः—'वारि' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, षष्ठी–सप्तमी द्विवचन की विवक्षा में 'ओस्' सुप्, 'वारि+ओस्'—इस दशा में रेफोत्तरवर्ती 'इकार' और ओस् के 'ओकार' के मध्य 'इकोयणचि' से प्राप्त यण् के निषेध पूर्वक 'इकोऽचि विभक्तौ' से 'मिदचोऽन्त्यात्परः' के सहकार से इगन्ताङ्ग नपुंसक वारि के अन्त्य अच् रेफोत्तरवर्ती इकार के आगे नुमागम 'वारि+नुम्+ओस्'—इस दशा में नुम् के मकार की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप 'वारि+न्+ओस्'—इस स्थिति में 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से 'न्' को णत्व; 'वारि+ण्+ओस्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग 'वारिणोस्'—इस स्थिति में 'ससजुषो रुः' से 'स्' के स्थान पर 'रु' 'वारिणोरु'—इस दशा में 'उपदेशेऽजनु०००' से रु के उकार की इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप, 'वारिणर्'—इस दशा में रेफ की 'विरामोऽवसानम्' से अवसान संज्ञा, और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से उसके स्थान पर विसर्ग करने पर 'वारिणोः' रूप व्युत्पन्न होगा।

(१२) वारिणाम्—'वारि' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, षष्ठी बहुवचन की विवक्षा 'आम्' सुप्, 'वारि+आम्'—इस दशा में 'इकोयणचि' से प्राप्त यण् के निषेध पूर्वक 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'नुट्' और 'इकोऽचि' विभक्तौ' से 'नुम्' की एक साथ प्राप्ति किन्तु 'रात्तस्य की वृत्ति में उद्धृत 'नुमचिरतृज्व द्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन—वार्तिक से 'आद्यन्तौटकितौ' के सहकार से आम् के आद्यवयवस्वरूप आगम का विधान और नुम् की निषेध, 'वारि+नुट्+आम्'

—इस दशा में 'नुट्' के 'टकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' से इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप 'वारि+न्+आम्'—इस दशा में 'नामि च' से 'नाम्' बाद में होने पर अजन्ताङ्ग वारि के अनत्य अल् 'इकार' का दीर्घत्व 'वार्+ई+न्+आम्'—इस दशा में 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से 'न्' के स्थान पर णत्वं 'वार्+ई+ण्+आम्'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'वारीणाम्' रूप व्युत्पन्न होगा।

(१३) वारिणि—'वारि' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, सप्तमी एक वचन की विवक्षा में 'ङि' विभक्ति प्रत्यय, 'वारि+ङि'—इस दशा में 'लशक्वतद्धिते' से 'ङि' के 'ङकार' इत्संज्ञा 'तस्यलोपः' से लोप 'वारि+इ'—इस दशा में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से प्राप्त दीर्घत्व का निषेध पूर्वक 'शेषोघ्यसखि' से घि संज्ञक वारि को 'अच्च घेः' से प्राप्त सुप् के 'ओत्व' का निषेध और 'वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन' वार्तिक के सहकार से 'इकोऽचि विभक्तौ' से 'नुम्' आगम् 'वारि+नुम्+इ'—इस दशा में 'नुम्' के 'मकार' की 'हलन्त्यम्' से और 'उकार' की उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप 'वारि+न्+इ'—इस दशा में 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से 'न' को णत्व 'वारि+ण+इ'—इस दशा में 'अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'वारिणि' रूप व्युत्पन्न होगा।

(१४) वारिषु—'वारि' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा, सप्तमी बहुवचन की विवक्षा में 'सुप्' प्रत्यय, 'वारि+सुप'—इस दशा में 'हलन्त्यम' से सुप् के पकार की इत्संज्ञा, 'तस्यलोपः' से लोप 'वारि+सु'—इस दशा में 'आदेश प्रत्यययोः' से 'सु' के सकार का षत्व' 'वारि+ष्+उ'–इस दशा में अज्झीनं (व्यञ्जनं) परेण संयोज्यम्' से वर्ण संयोग करने पर 'वारिषु' रूप व्युत्पन्न हुआ।

———

शब्द रूप

अजन्त पुंलिङ्ग

हरि (विष्णु अथवा वानर)

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	हरिः	हरी	हरयः
द्वितीया	हरिम्	हरी	हरीन्
तृतीया	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः
चतुर्थी	हरये	,,	हरिभ्यः
पञ्चमी	हरेः	,,	,,
षष्ठी	,,	हर्योः	हरीणाम्
सप्तमी	हरौ	,,	हरिषु
सम्बोधन	हे हरे	हे हरी	हे हरयः

सखि (मित्र)

प्रथमा	सखा	सखायौ	सखायः
द्वितीया	सखायम्	सखायौ	सखीन्
तृतीया	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः
चतुर्थी	सख्ये	,,	सखिभ्यः
पञ्चमी	सख्युः	,,	,,
षष्ठी	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
सप्तमी	सख्यौ	,,	सखिषु
सम्बोधन	हे सखे	हे सखायौ	हे सखायः

पति (स्वामी अथवा भोक्ता)

प्रथमा	पतिः	पती	पतयः
द्वितीया	पतिम्	,,	पतीन्
तृतीया	पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः
चतुर्थी	पत्ये	,,	पतिभ्यः
पञ्चमी	पत्युः	,,	,,

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
षष्ठी	पत्युः	पत्योः	पतीनाम्
सप्तमी	पत्यौ	,,	पतिषु
सम्बोधन	हे पते	हे पती	हे पतयः

निर्जर (देव)

प्रथमा	निर्जरः	निर्जरसौ (निर्जरौ)	निर्जरसः (निर्जराः)
द्वितीया	निर्जरसम् (निर्जरम्)	निर्जरसौ (निर्जरौ)	निर्जरसः (निर्जरान्)
तृतीया	निर्जरसा (निर्जरेण)	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
चतुर्थी	निर्जरसे (निर्जराय)	,,	निर्जरेभ्यः
पञ्चमी	निर्जरसः (निर्जरात्)	,,	,,
षष्ठी	,, (निर्जरस्य)	निर्जरसोः	निर्जरसाम्
सप्तमी	निर्जरसि (निर्जरे)	,,	निर्जरेषु
सम्बोधन	हे निर्जर	हे निर्जरसौ (निर्जरौ)	हे निर्जरसः (निर्जराः)

पपी (सूर्य-चन्द्र)

प्रथमा	पपी	पप्यौ	पप्यः
द्वितीया	पपीम्	,,	पपीन्
तृतीया	पप्या	पपीभ्याम्	पपीभिः
चतुर्थी	पप्ये	,,	पपीभ्यः
पञ्चमी	पप्य	,,	,,
षष्ठी	,,	पप्योः	पप्याम्
सप्तमी	पपी	पप्योः	पपीषु
सम्बोधन	हे पपी	हे पप्यौ	हे पप्यः

क्रोष्टु (कोष्टृ, (श्रृगाल)

प्रथमा	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः
द्वितीया	क्रोष्टारम्	,,	क्रोष्टॄन्

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
तृतीया	क्रोष्ट्रा (क्रोष्टुना)	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः
चतुर्थी	क्रोष्ट्रे (क्रोष्टवे)	,,	क्रोष्टुभ्य
पञ्चमी	क्रोष्टुः (क्रोष्टोः)	,,	,,
षष्ठी	,, (,,)	क्रोष्ट्रो (क्रोष्ट्वोः)	क्रोष्टूनाम्
सप्तमी	क्रोष्टरि (क्रोष्टौ)	,, (,,)	क्रोष्टुषु
सम्बोधन	हे क्रोष्टा	हे क्रोष्टारौ	हे क्रोष्टारः

धातृ (धारक, ब्रह्मा, रक्षक, विधाता)

प्रथमा	धाता	धातारौ	धातारः
द्वितीया	धातारम्	,,	धातृन्
तृतीया	धात्रा	धातृभ्याम्	धातृभिः
चतुर्थी	धात्रे	,,	धातृभ्यः
पञ्चमी	धातुः	,,	,,
षष्ठी	,,	धात्रोः	धातृणाम्
सप्तमी	धातरि	,,	धातृषु
सम्बोधन	हे धातः	हे धातारौ	हे धातार

विश्वपा (विश्व-पालक)

प्रथमा	विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः
द्वितीया	विश्वपाम्	,,	विश्वपः
तृतीया	विश्वपा	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः
चतुर्थी	विश्वपे	,,	विश्वपाभ्य
पञ्चमी	विश्वपः	,,	,,
षष्ठी	,,	विश्वपोः	विश्वपाम्
सप्तमी	विश्वपि	,,	विश्वपासु
सम्बोधन	हे विश्वपाः	हे विश्वपौ	हे विश्वपा

अजन्त स्त्रीलिंग

सर्वा (सभी)

प्रथमा	सर्वा	सर्वे	सर्वाः
द्वितीया	सर्वाम्	,,	सर्वाः

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
तृतीया	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः
चतुर्थी	सर्वस्यै	,,	सर्वाभ्यः
पञ्चमी	सर्वस्याः	,,	,,
षष्ठी	सर्वस्याः	सर्वयोः	सर्वासाम्
सप्तमी	सर्वस्याम्	,,	सर्वासु
सम्बोधन	हे सर्वे	हे सर्वे	हे सर्वा

श्री (लक्ष्मी अथवा शोभा)

प्रथमा	श्रीः.	श्रियौ	श्रियः
द्वितीया	श्रियम्	,,	,,
तृतीया	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः
चतुर्थी	श्रियै (श्रिये)	,,	श्रीभ्यः
पञ्चमी	श्रियाः (श्रियः)	,,	,,
षष्ठी	श्रियाः (श्रियः)	श्रियोः	श्रीणाम् (श्रियाम्)
सप्तमी	श्रियाम् (श्रियि)	,,	श्रीषु
सम्बोधन	हे श्रीः	हे श्रियौ	हे श्रियः

अजन्त नपुंसकलिंग

दधि (दही)

प्रथमा	दधि	दधिनी	दधीनि
द्वितीया	,,	,,	,,
तृतीया	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः
चतुर्थी	दध्ने	,,	दधिभ्य
पञ्चमी	दध्नः	,,	,,
षष्ठी	दध्नः	दध्नोः	दध्नाम्
सप्तमी	दध्नि (दधनि)	,,	दधिषु
सम्बोधन	हे दधि (दधे)	हे दधिनी	हे दधीनि

मधु

प्रथमा	मधु	मधुनी	मधूनी
द्वितीया	,,	,,	,,

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
तृतीया	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभि
चतुर्थी	मधुने	,,	मधुभ्य
पञ्चमी	मधुनः	,,	,,
षष्ठी	,,	मधुनोः	मधूनाम्
सप्तमी	मधुनि	,,	मधुषु
सम्बोधन	हे मधु (मधो)	हे मधुनी	हे मधुनः

कतर (त्) (दो में से कौन)

प्रथमा	कतरत् (द्)	कतरे	कतराणि
द्वितीया	कतरत् (द्)	,,	,,
तृतीया	कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः
चतुर्थी	कतरस्मै	,,	कतरेभ्यः
पञ्चमी	कतरस्मात् (द्)	,,	,,
षष्ठी	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्
सप्तमी	कतरस्मिन्	,,	कतरेषु
सम्बोधन	हे कतरत् (द्)	हे कतरे	हे कतराणि

हलन्त पुंल्लिग

अनडुह् (बैल)

प्रथमा	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
द्वितीया	अनड्वाहम्	,,	अनडुहः
तृतीया	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
चतुर्थी	अनडुहे	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
पंचमी	अनडुहः	,,	अनुडुद्भ्यः
षष्ठी	,,	अनडुहोः	अनडुहाम्
सप्तमी	अनडुहि	,,	अनडुत्सु
सम्बोधन	हे अनड्वन	हे अनड्वहौ	हे अनड्वाहः

मघवन् (इन्द्र)

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	मघवा	मघवानौ	मघवानः
द्वितीया	मघवानम्	,,	मघोनः
तृतीया	मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः
चतुर्थी	मघोने	,,	मघवभ्यः
पंचमी	मघोनः	,,	,,
षष्ठी	,,	मघोनोः	मघोनाम्
सप्तमी	मघोनि	,,	मघवत्सु
सम्बोधन	हे मघवन्	हे मघवानौ	हे मघवानः

अथवा

प्रथमा	मघवान्	मघवन्तौ	मघवन्तः
द्वितीया	मघवन्तम्	,,	मघवतः
तृतीया	मघवता	मघवद्भ्याम्	मघवद्भिः
चतुर्थी	मघवते	,,	मघवद्भ्यः
पंचमी	मघवतः	,,	,,
षष्ठी	,,	मघवतोः	मघवताम्
सप्तमी	मघवति	,,	मघवत्सु
सम्बोधन	हे मघवन्	हे मघवन्तौ	हे मघवन्तः

युवन् (युवक)

प्रथमा	युवा	युवानौ	युवानः
द्वितीया	युवानम्	,,	यूनः
तृतीया	यूना	युवभ्याम्	युवभिः
चतुर्थी	यूने	,,	युवभ्यः
पंचमी	यूनः	,,	,,
षष्ठी	,,	यूनोः	यूनाम्
सप्तमी	यूनि	,,	युवसु
सम्बोधन	हे युवन्	हे युवानौ	हे युवानः

पथिन् (मार्ग)

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः
द्वितीया	पन्थानम्	,,	पथः
तृतीया	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः
चतुर्थी	पथे	,,	पथिभ्यः
पञ्चमी	पथः	,,	,,
षष्ठी	,,	पथोः	पथाम्
सप्तमी	पथि	,,	पथिषु
सम्बोधन	हे पन्थाः	हे पन्थानौ	हे पन्थानः

ऋत्विज् (आराधक)

प्रथमा	ऋत्विक् (ग्)	ऋत्विजौ	ऋत्विजः
द्वितीया	ऋत्विजम्	ऋत्विजौ	,,
तृतीया	ऋत्विजा	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भिः
चतुर्थी	ऋत्विजे	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भ्यः
पञ्चमी	ऋत्विजः	,,	,,
षष्ठी	,,	ऋत्विजोः	ऋत्विजाम्
सप्तमी	ऋत्विजि	,,	ऋत्विक्षु
सम्बोधन	हे ऋत्विक् (ग्)	हे ऋत्विजौ	हे ऋत्विजः

महत् (महान्)

प्रथमा	महान्	महान्तौ	महान्तः
द्वितीया	महान्तम्	,,	महतः
तृतीया	महता	महद्भ्याम्	महद्भिः

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
चतुर्थी	महते	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
पञ्चमी	महतः	,,	,,
षष्ठी	,,	महतोः	महताम्
सप्तमी	महति	,,	महत्सु
सम्बोधन	हे महान्तौ	हे महान्तौ	हे महन्त

धीमत् (बुद्धिमान)

प्रथमा	धीमान्	धीमन्तौ	धीमन्तः
द्वितीया	धीमन्तम्	,,	धीमतः
तृतीया	धीमता	धीमद्भ्याम्	धीमदभिः
चतुर्थी	धीमते	,,	धीमद्भ्यः
पञ्चमी	धीमतः	,,	,,
षष्ठी	,,	धीमतोः	धीमताम्
सप्तमी	धीमति	,,	धीमत्सु
सम्बोधन	हे धीमन्	हे धीमन्तौ	हे धीमन्तः

अदस् (वह)

पुंल्लिंग

प्रथमा	असौ	अमू	अमी
द्वितीया	अमुम्	,,	अमून्
तृतीया	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः
चतुर्थी	अमुष्मै	,,	अमीभ्यः
पञ्चमी	अमुष्मात्	,,	,,
षष्ठी	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
सप्तमी	अमुष्मिन्	,,	अमीषु

स्त्रीलिंग

प्रथमा	असौ	अमू	अमूः
द्वितीया	अमुम्	,,	,,

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
तृतीया	अमुया	अमुभ्याम्	अमूभिः
चतुर्थी	अमुष्यै	,,	अमूभ्यः
पञ्चमी	अमुष्याः	,,	,,
षष्ठी	,,	अमुयोः	अमूषाम्
सप्तमी	अमुष्याम्	,,	अमूषु

नपुंसकलिंग

प्रथमा	अदः	अमू	अमूनि
द्वितीया	,,	,,	,,

(शेष पुंल्लिगवत्)

मुद्रक : रामा प्रिन्टर्स तहसील रोड खुरजा

680 — 265-99550

20

228

226